CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या

7624

डॉ. महेंद्र प्रताप सिंह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विज्ञप्ति

प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तर्गत लगभग चार शताब्दियों के ब्रज भाषा काव्य की अन्तर्चेतना को एक इतिहासकार के बुद्धि विवेक से देखने और समझने का प्रयत्न किया गया है। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुशीलन से प्रस्फुटित आलोचना दृष्टि को अध्ययन का साधन बनाने के फलस्वरूप यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य के अन्य ग्रंथों से भिन्न तथा अपनी विशेषता लिए हुए है।

साहित्य का वह पाठक जो साहित्य, समाज और इतिहास के मध्य घटित होने वाले घात-प्रतिघात एवं उनके पारस्परिक संबंधों में रुचि रखता है, उसको यह लघु प्रयास भी आकर्षित करेगा। ऐसे ही सुधी पाठकों को लक्ष्य में रखकर लेखक ने आलोचना की नई दिशा ढूंढने के अतिरिक्त ग्रन्थ को प्रकाशित करने का भार भी वहन किया है।

इस प्रबन्ध का वास्तविक लेखन आपात कालीन स्थिति में किया गया है। इस अवधि के अनुभवों से मुगल एवं ब्रिटिश काल में लिखे गये भाषा काव्य तथा उसको प्रभावित करने वाली परिस्थितियों को समझने और उनका मूल्यांकन में सहायता मिली है। शताब्दियों की निर्मम तानाशाही के बीच भाषा-काव्य के कर्णधारों ने जिस कुशलता दूर-दर्शिता और विश्वास के साथ जातीय अस्मिता को जगाए रखा है, उसकी एक झलक इन पृष्ठों में देखी जा सकती है। इन्हीं विशेषताओं के कारण ग्रन्थ में चर्चित और संकेतित मुद्दे जन-जीवन के संदर्भ और उसकी संवेदना के साथ पूरी तरह जुड़े हुए हैं।

260

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

State Museum Library
17624
Lucknow

आचार्य बैजनाथ पुरी को सादर
नरेन्द्र प्रताप
११-२-६२

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी संग्रह
लखनऊ

K-46, Kailash Colony
N. D. 48

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या

Historical Analysis of Reeti Kaleen Hindi Poetry

[16th A. D. to Early 20th A. D.]

State Museum Library Lucknow

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय लखनऊ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की

ऐतिहासिक व्याख्या

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी संग्रह
लखनऊ

लेखक

डॉ० महेन्द्र प्रताप सिंह

देशबन्धु कॉलिज (दिल्ली विश्व विद्यालय)
नई दिल्ली—११००१९

State Museum Library
7624
Lucknow

मुख्य वितरक

हिन्दी बुक सेण्टर

आसफ अली रोड, नई दिल्ली—१

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक :
श्रीपटल प्रकाशन
के ४६, कैलास कालौनी
नई दिल्ली–४८

[प्रकाशक के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं]

मूल्य : २५ रु०

१९७७

आगरा फाइन आर्ट प्रेस,
अहीरपाड़ा, राजामण्डी,
आगरा–२८२००२ में मुद्रित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आत्मनिवेदन

प्रस्तुत ग्रंथ 'रीतिकालीन हिन्दी साहित्य की ऐतिहासिक व्याख्या' में रीतिकाल सम्बन्धी बद्धमूल धारणाओं से हटकर नवीन तथ्यों के आधार पर उसके संशोधित इतिहास-बिम्ब को अंकित करने का प्रयत्न किया गया है। मेरे इस प्रयास में वस्तुपरकता है या नहीं, इस प्रश्न के निर्णायक, ग्रन्थ के पाठक ही हो सकते हैं। मुझे इसमें लिखी किसी भी मान्यता से रंचमात्र मोह नहीं है। अनुसंधान कार्य एक अनवरत प्रक्रिया है, जिसमें प्रतिपाद्य का स्वरूप भी अबाध गति से विकसित होता रहता है। गत्यावरोध और अनुसंधान में समझौता नहीं हो सकता। मैं स्वयं ही इसमें संशोधन-परिवर्तन करने में दत्तचित्त रहूँगा। अनुसंधान में संलग्न होकर मूलरूप में मैं इतना ही समझ पाया हूँ कि ज्ञान के क्षेत्र में किसी भी स्थापना को अंतिम मानना मूर्खता ही हो सकती है। नए तथ्यों के प्रकाश में आते ही निष्कर्षों में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। जो बात आज अकाट्य सत्य प्रतीत होती है, वही बात दूसरे दिन नए साक्ष्यों के प्रकाश में संशोधनीय हो जाती है। किंचित प्रसंगान्तर से यदि सौंदर्य-बोध सम्बन्धी बिहारी के दोहे—'लिखन बैठ जाकी सिबिहि' को शोध सापेक्ष्य सत्य पर घटित किया जाय, तो मेरी बात पूर्णतया स्पष्ट हो सकती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में सैद्धांतिक आग्रहों में उलझने से मैंने स्वयं को प्रायः दूर ही रखा है। प्रगतिशील समाज की समृद्ध भाषाओं में साहित्य के माध्यम से इतिहास का पल्लवन किस रूप में हो रहा है, इसका मैंने सामान्य सा ही परिचय प्राप्त किया है। इस संबंध में मेरे ही कालिज में अँग्रेज़ी विभाग के प्राध्यापक श्री डी० एस० भल्ला जैसे शुभचिंतक विद्वान के साथ मैंने कई बार विचार विमर्ष भी किया है, किन्तु मूल ग्रन्थों में उलझने का धैर्य मुझमें अभी तक जाग्रत नहीं हो सका है। तुलसी साहित्य का भक्ति-भाव से अध्येता होने के कारण मुझे अपने इस अज्ञान के प्रति कभी लज्जा का अनुभव नहीं हुआ है। जिन लोगों ने बालकाण्ड को अनेक बार पढ़ा है, वे मेरे इंगित को आसानी से समझ सकते हैं। सामान्यतया मैं यही जान सका हूँ कि सिद्धांतों की दियाबाती (Mathodology) का सहारा लेकर इतिहास पुरुष के विराट स्वरूप एवं उसमें समाहित सत्य का साक्षात्कार कर सकना संभव नहीं है। कबीरदास की वैचारिक स्वतंत्रता तो सर्व विदित ही है, किन्तु तुलसीदास जी ने भी अत्याग्रही सैद्धांतिकों को लक्ष्य करके यही लिखा था कि—

"जिमि निसि मध्य दीप की बातिन
तम निवृत्त नहिं होई।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाक्य ज्ञान (सिद्धान्त चर्वण) अत्यन्त निपुन
भव-पार न पावै कोई ।।"

वस्तुतः मूल को अपने ही दृष्टि-विवेक से देखने में अध्ययन की सार्थकता प्रकट होती है। इसी दृष्टि से किए गए साहित्यानुशीलन से अन्यान्य तथ्यों के सापेक्ष्य में जो निष्कर्ष मेरे बुद्धि-पटल पर अनुस्यूत हुए हैं, उन्हीं को इस ग्रन्थ में संगुंफित करके मैंने एक माला बनाने का प्रयत्न किया है। वस्तुतः यह संपूर्ण ग्रन्थ एक ही निबंध है। पाठकों की सुविधा की दृष्टि से इसमें शीर्षकों का संयोजन बाद में किया गया है। लेखक के नाते कबीरदास को ही अपना पूर्वज मानते हुए 'कागज की लेखी' के स्थान पर 'आँखिन देखी' की प्रामाणिकता पर मैंने अधिक विश्वास किया है। इसी प्रकार लेखन-कार्य रूपी समुद्र को पार करने के लिए मैंने पढ़े लिखे लोगों की अपेक्षा परम्परा द्वारा पोषित कवियों—साहित्य-प्रेमियों तथा निरक्षर किसान मजदूरों को गुरू बनाने की ही पहल की है। दत्तात्रेय के चौबिस गुरुओं की कथा भूल सकना मेरे लिए कठिन है। ग्रन्थ में विकसित अन्तर्दृष्टि को मैंने किस प्रकार और कैसे गुरुओं से प्राप्त किया है, उसके अनुमान का संकेत प्रस्तुत करने के लिए अपने परिवेश से संबन्धित एक संस्मरण प्रस्तुत करना उचित समझता हूँ।

बाँदा जिले के नैनी गाँव में मेरा ननिहाल है। इस गाँव में कई परिवार सम्पन्न रहे हैं, किन्तु मेरे विद्यार्थी जीवन-काल तक कक्षा चार पास करके मिडिल स्कूल में लगनेवाली कक्षाओं तक पहुँचने वाले व्यक्ति उस गाँव में एक दो से अधिक नहीं रहे होंगे। ठाकुरों में अँग्रेजों की दी हुई शिक्षा-संस्थाओं का वहिष्कार करने की प्रवृत्ति अन्य उच्च जातियों की अपेक्षा अधिक गहरी थी। इस शिक्षा-विरोधी मुहिम का नेतृत्व मेरे मामा के हाथ में था। उनकी ज़बान पर नाचनेवाले उनके अक्षय कहावत कोश में ऐसे ऐसे अमोघ वाण थे कि अच्छा से अच्छा तर्क शास्त्री एक ही दो प्रहारों से मैदान में हथियार डाल देता था। अतः इस गाँव के सभी ठाकुर निरक्षर भट्टाचार्य थे। मेरे अपने अनुभव के अनुसार मामा के अनन्य समर्थक 'सुरकी मामा' इन भट्टाचार्यों के भी शिरमौर थे। अक्षरी विद्या और 'सुरकी मामा' में 'केर बेर' की-सी स्वाभाविक शत्रुता थी। मैं गाँव का भांजा था, अतः उन लोगों के लिए मेरे प्रति मृदु होना स्वाभाविक था। इस आत्मीयता के बावजूद जगदेव सिंह 'सुरकी' मेरी गतिविधियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया करते थे। जमुना-तट पर स्थित गाँव के उस रमणीक वातावरण में पेड़ों के नीचे एकांत में बैठकर कविता लिखने के लिए मैं प्रायः दत्तचित्त रहता था। कई दिनों तक हाथ मुँह की असामान्य मुद्राओं का दूर से निरीक्षण करने के बाद उन्होंने एक दिन मुझसे सीधा सवाल किया कि यह कौन सी पढ़ाई पढ़ रहे हो। मैंने उन्हें बड़े गर्व से बताया कि मैं कविता लिखा करता हूँ। मेरी लिखी कुछ कविताएँ अखबारों में भी छपी हैं!

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मेरे इस उत्तर से उनके चेहरे पर न आश्चर्य प्रकट हुआ, न प्रसन्नता ही छलकी। वे बिना किसी प्रकार की टिप्पणी किए सीधे गाँव की ओर मुड़ गए। उस दिन गाँव में प्रसारित करने के लिए उन्हें एक आश्चर्य-जनक समाचार मिल गया था। अतः वे सर्वत्र उसका प्रसारण करने लगे। समाचार यह था कि "लम्बरी (लम्बरदार= नम्बरदार) क्यार भैने कवित्त बनावत है, कवीसुर बनगा है।"

शाम को गाँव में मेरे प्रवेश करते ही हर स्त्री पुरुष मुझसे यही प्रश्न पूछने लगा कि 'कस दादू पढ़ लिख कै यहै कवीसुरी करिहौ का? हम तो समझे रहन कि कतौ अपसर वपसर बनि हौ।' इन अप्रिय प्रश्नों को झेलता हुआ जब मैं घर पहुँचा, तो मामा का स्नेह भरा उलाहना सुनने को मिला—'कस हो लल्लू। दरोगा जी (मेरे स्वर्गीय पिताजी) तोरे पढ़ावैं के खातिर घर क्यार पइसा कौड़ी फूंके डावत हैं, अउर तैं भटाँय करत हा।"

नैनी गाँव के निवासियों के माध्यम से परंपरा के साथ जुड़ने के इसी संयोग ने वर्षों बाद मेरी दृष्टि में सुअंजन बनकर इस प्रबन्ध रचना की अन्तर्दृष्टि प्रदान करने का काम किया है। भाटों की ही मौखिक काव्य-परम्परा ने भाषा काव्य की कवित्त-शैली को विकसित और पल्लवित किया है। यह ज्ञान परोक्ष रूप से मुझे गाँव की उक्त पाठशाला में ही प्राप्त हुआ है। कागज और मसि के साथ सहज रूप में बैर निभानेवाले वे दोनों इतिहास गुरु आज इस दुनिया में नहीं हैं, किन्तु उनको प्रतिफलित करनेवाली शाश्वत परम्परा ही मेरी दृष्टि में वन्दनीय रही है। मैंने इसी समृद्ध परम्परा को अपना गुरु मानकर तुलसी दास की गुरु बनाने की सलाह को शिर झुकाया है। इसी गुरु की बट छाँह में बैठने के कारण सभी से वाद विवाद करने के दोष का किंचत रूप से प्राच्छालन हो गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन को मैंने जिन परिस्थितियों में हाथ में लिया था, उसकी चर्चा के माध्यम से ग्रन्थ की पृष्ठभूमि पर समुचित प्रकाश पड़ता है। सन १९६२ में डा० नगेन्द्र के अनुग्रह से ही मुझे दिल्ली वि० वि० के एक कलिज में नियुक्त होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। विश्व विद्यालय में अपनी नियुक्ति की सार्थकता सिद्ध करने के लिए ही मैंने रीतिकाल पर एक लम्बा निबंध तैयार किया। उक्त निबंध को संक्षिप्त करके "रीतिकाल एक पुनर्मूल्यांकन" शीर्षक से मैंने फरवरी १९६४ में दिल्ली वि० वि० की अनुसंधान परिषद में पढ़ा था। प्रचलित मान्यताओं से हटकर प्रतिपादित की गई कुछ स्थापनाओं पर उपस्थित विद्वानों ने बौछार की तरह प्रश्नों की झड़ी लगाकर अनेक मुद्दों पर मुझसे जवाब तलब किए। बात लम्बी होते देखकर डा० नगेन्द्र ने मंच पर आकर मेरे पक्ष का समर्थन करते हुए विषय का समापन किया। डॉ० नगेन्द्र की इस बौद्धिक ईमानदारी से मुझे सच्चे अर्थों में प्रोत्साहन मिला। मुझे लगा कि मेरा श्रम सार्थक हो गया है। गोष्ठी समाप्त होने पर खालसा कालिज के डा० हरभजन सिंह और डा० महीप सिंह ने जिस आत्मीयता से मुझे साधुवाद दिया,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उससे मुझे कितनी प्रसन्नता हुई थी, उसे मैं भूल नहीं पाया हूँ। इतने दिनों तक उस प्रेम की गर्मी ही मुझसे काम कराती रही है। 'रणजीत पिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स' के स्वामी श्री साहनी (संभवत: उन्होंने प्रकाशन व्यवसाय से तंग आकर मुर्गी फार्म खोल लिया है) ने उस निबन्ध को ग्रन्थ रूप में छापने की इच्छा प्रकट की थी। साहनी साहब की फर्म उन दिनों बहुत अच्छी दशा में थी और उनका विश्वास था कि कोर्स से संबंधित होने के कारण यह पुस्तक वेचने पर शीघ्र बिक जाएगी, किन्तु अन्तर्मन की किसी प्रेरणा से मैं अपने उक्त निबन्ध को छपास के प्रलोभनों से दूर रखने का ही प्रयत्न करता रहा हूँ।

कुछ समय बाद डा० नगेन्द्र द्वारा सौंपे गए "सुखदेव मिश्र ग्रन्थावली" के संपादन कार्य के सिलसिले में जब मैं हिन्दी सेवी एक संस्था में मिले खेद जनक अनुभवों से मानसिक रूप से आहत हुआ, तो मेरी चित्त-वृत्ति ने ऐसी करवट ली कि साहित्य से उदासीन होकर वह इतिहास की ओर मुड़ गई। इस नए क्षेत्र में मन कुछ इस प्रकार रम गया कि इतिहास-लेखन की तैयारी में ही मैं पूर्णत: दत्त चित्त हो गया। इस दिशा में काम करते हुए ११ जून १९७५ को स्थानीय विट्ठल भाई पटेल हाउस में बुन्देलखण्ड क्षेत्र के भू० पू० संसद सदस्य श्री मन्नूलाल द्विवेदी के माध्यम से भारत सरकार के कृषि मंत्री बाबू जगजीवन राम जी ने 'ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल' ग्रन्थ का प्रकाशनोद्घाटन करते हुए मेरे कार्य की सराहना में जो शब्द कहे, उससे इतिहास-लेखन की दिशा में संलग्न रहने की सार्थकता प्रकट हुई तथा उस पर प्रामाणिकता की मुहर भी लग गई। संसद सदस्य चौधरी नीति राजसिंह की इच्छा थी कि मैं भूषण और शिवाजीकालीन पत्रों को भी इसी प्रकार प्रकाश में लाऊँ। इस कार्य में हर प्रकार से वे मेरी सहायता करना चाहते थे। किन्तु २५ जून को अचानक देश में आपात-कालीन स्थिति के लागू होने से मन निराशा और खिन्नता से इस तरह भर गया कि (आर्काइव्स) एवं उसी के आस-पास के अन्य पुस्तकालयों में अध्ययन एवं विद्वानों से विचार-विमर्श करने का वर्षों से चलनेवाला नित्य नियम खंडित हो गया।

कुछ ही समय बाद पराजित मनोभाव को संभालकर मैंने अपना कर्म-पथ निश्चित करके इतिहास लेखन की दीर्घकालीन योजना को स्थगित किया और यह ढूंढ़ने में संलग्न हो गया कि इतिहास की ऐसी विषम परिस्थितियों में साहित्य किस तरह अपनी रणनीति बनाता रहा है। अत: बारह वर्ष तक आलमारी में बंद उक्त निबंध की तात्कालिक प्रयोजनीयता का विचार सुझाई पड़ा। इतिहास ने मुझे यह बताया कि इससे सौगुनी विषम परिस्थितियों में भी भारतीय साहित्य-मनीषियों ने अतीत में अपना दायित्व बड़ी कुशलता एवं दूरदर्शिता से पूरा किया था।

वस्तुत: आपातकालीन स्थिति में हुए अनुभवों से साहित्य में प्रतिबिंबित इतिहास के अध्ययन के लिए अन्तर्दृष्टि विकसित करने में मुझे बहुतांश में सहायता मिली है। मेरे विचार में चिंतन और ऐतिहासिक सूझ-समझ को विकसित करने की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दृष्टि से वह स्थिति अत्यंत सौभाग्य पूर्ण मानी जाएगी। सृष्टि के नियमानुसार 'गरल' और 'सुधा' दोनों का अपने-अपने स्थान पर समान रूप से महत्व हुआ करता है। विपक्षी दलों में एकता की सद् बुद्धि उत्पन्न करने का श्रेय तत्कालीत शासक दल की बधिर नीतियों को ही दिया जा सकता है। भूषण की एक पंक्ति उन्हीं दिनों की मनोदशा में स्पष्ट हो सकी है। इस प्रमाण से भूषण के इतिहास बोध की गहराई का अनुमान सहज में ही किया जा सकता है—

भूषण कहत सब हिन्दुन के भाग फिरे
भएते कुमति चकत्ता किरानसानी में ॥

इस प्रबन्ध को लिखते समय मुझे पग-पग पर यही अनुभव होता रहा है कि हिन्दी का व्रज भाषा काव्य आधुनिक जीवन-बोध की दृष्टि से राष्ट्र एवं जन-समाज को स्फूर्ति प्रदान करने की दृष्टि से अभी तक अपनी सार्थकता सिद्ध करने में असंदिग्ध रूप से सफल होता रहा है।

सरदार प्रकाश सिंह बादल के एक भाषण में मैंने उन्हें यह कहते सुना है कि आपात्काल में अकाली आन्दोलन की प्रेरणा उन्हें सिक्ख गुरुओं की वाणी से ही मिली थी। इसी प्रकार मैंने सुना है कि इस विषम परिस्थिति में भी किन्हीं सच्चिदानंद सिंह ने बिहार में श्री जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में छेड़े गए जन आन्दोलन को रामचरित मानस के माध्यम से जीवित रखने का मार्ग खोज निकाला था। तात्पर्य यही है कि समाज को जाग्रत एवं उद्बुद्ध रखनेवाली भाषा काव्य की चेतना सन् १९७७ तक इतिहास की हर कसौटी में खरी उतरी है। इसी चेतना को ढूंढ़ने और उसका साक्षात्कार करने के लिए मैंने यह समस्त ऊहा पोह किया है। उक्त चर्चा के माध्यम से यह समझना भूल होगी कि मैं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से किसी भी दल की राजनैतिक विचार धारा से प्रभावित रहा हूँ। दूसरों के उतारे हुए नंग जूते पहनने की मुझे बचपन से ही अरुचि रही है। साहित्य और राजनीति के पारस्परिक संबंधों की खोज करना ही मेरा उद्देश्य रहा है। राजनीति के तमाशों को दूर से ही देखना मुझे प्रिय है। राजनैतिक-विवेक से किए गए साहित्य के अनुशीलन ने मेरी दृष्टि में यही सिद्ध किया है कि हर संकटकालीन परीक्षा में भारतीय जन-चेतना के संवाहक कवियों की वाणी सदैव खरी उतरी है। "भगवंतराय खींची और उनके मंडल के कवि" से लेकर 'ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल' ग्रन्थ तक तत्वतः यही बात उजागर होती है। प्रोफेसर बी० बी० मिश्र ने "ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल" ग्रन्थ के प्राक्कथन में मेरी इस दृष्टि को प्रमाणित कर दिया है।

राजनीति और राज-धर्म रजोगुण से ही संचालित होते हैं। वाक् चातुर्य और धन के आश्रित रहने के कारण राजनीति की स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वह तथ्यों को तरह तरह से तोड़ मरोड़ कर ऐसे रूप में पेश करना चाहती है कि राजनीति के समस्त कलमष स्वच्छ दिखाई पड़ें और सत्ता की स्वार्थ सिद्धि होती रहे। जो लोग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सत्ता से बाहर रहते हैं, उनका लक्ष्य भी येन-केन प्रकारेण सत्ता हस्तगत करने का ही हुआ करता है। जनतंत्र की व्यवस्था में अधिक से अधिक लोग इसी सत्ता-संघर्ष में डूबे रहते हैं। अतः सत्य की चिंता करनेवाले लोगों की संख्या बहुत कम रह जाती है। फलत. इतिहास रूपी काल पुरुष के कलेवर में व्याप्त सत्य को असत्य के अँधेरे पर्दे के पीछे धकलने की प्रक्रिया जटिल से जटिल तर हो जाती है। पौराणिक आख्यानों से प्रकट होता है कि भारतीय मनीषा इस तथ्य को सृष्टि की प्रकृति में ही देखती रही है। वेदों के उद्धार के लिए मत्स्यावतार की कथा इसी तथ्य को प्रतीक के माध्यम से प्रकट करती है। इसी मूल प्रकृति से प्रेरित होकर राजतंत्र अपनी हित-बाधा करनेवाले मतवादों के हनन तथा वास्तविक सत्य को 'कैप्सूल' की तरह सैकड़ों फीट की गहराई में गाड़ देने की भावना से सतत् प्रेरित रहा है। इसमें व्यक्ति का दोष कम और राज-धर्म का स्वभाव ही अधिक प्रबल होता है। साहित्य ऊपरी राग-द्वेष में न उलझ कर मूल पर ही विचार करता है। सत्य और असत्य के बीच होनेवाले इसी द्वन्द्व को लक्ष्य करके उपनिषद् कालीन ऋषियों ने भावी साहित्य मनीषियों को सजग बने रहने के लिए यह निर्देश दिया था कि :

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहितं मुखम्
तत्वंपूषण अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥

संस्कृत साहित्य में अविकल रूप से प्रवाहित रहनेवाली यह अन्तश्चेतना हिन्दी में ज्यों की त्यों विकसित होती रही है। सामान्यतया तुलसीदास को यथा-स्थितिवादी कहने का रिवाज़ सा चल पड़ा है, किन्तु उन्होंने सत्य के संशोधित रूप को प्रस्तुत करने के लिए ही साहित्य को अपना साधन बनाया था। उनके सम्मुख जो युग-परिस्थिति विद्यमान थी, उसी की ओर इशारा करते हुए उन्होंने कहा था कि—

'दंभिन निज मत कल्पि करि लुप्त कीन्ह सद-ग्रन्थ।'

सद्ग्रन्थों की सार्थकता उनमें निहित सत्य पर ही निर्भर होती है। इसी को निरावृत करने के लिए किए जानेवाले शाश्वत साहित्य-यज्ञ की पुष्टि में अपने को होम देनेवाले 'निराला' जी ने 'तुलसी दास' में अपनी कवि वाणी का उद्घोष करते हुए सात्यान्वेषण की परम्परा में गहरी आस्था व्यक्त करते हुए साहित्य पुरोधा के रूप में भावी इतिहास धारा की ओर से भी तुलसी की साहित्यात्मा को आश्वस्त किया है। इस पुस्तक को लिखते समय हिन्दू संस्कृति की इसी सनातन परम्परा को सुगम और सहज मानकर मैंने उसीका अनुसरण किया है :

"तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई"

रीति काल में लिखे गए जिस व्रज भाषा-काव्य को इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी आलोचना का आधार बनाया है, उस संबंध में भी मुझे किसी प्रकार की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गलत फ़हमी नहीं है। आधुनिक समाज इस साहित्य में प्रयुक्त उस युग की साहित्य-भाषा की संवेदना से निरंतर दूर होता जा रहा है। जीवन और प्रकृति के जिन बिम्बों को इस साहित्य में अंकित किया गया है, उसके साथ शहरी जीवन-बोध का ताल मेल बहुत कम है। इन्हीं सब कारणों से उक्त काव्य में निहित अनुभूतियों के धरातल पर उतर कर उसमें निमज्जित होनेवालों की संख्या निरंतर घटती जा रही है। इस क्रम को उलटने की आशा करना इतिहास की अनभिज्ञता का प्रमाण ही माना जाएगा। इतिहास की प्रकृति और वस्तुस्थिति से भली-भाँति परिचित होते हुए भी मेरे मन में रीतिकालीन साहित्य के महत्व की आशा-किरण कभी मंद नहीं हुई है। किसी भी उच्च राष्ट्र अथवा समाज का अपने इतिहास की अन्तश्चेतना से विच्छिन्न हो सकना अत्यन्त कठिन होता है। यदि व्रज भाषा काव्य को उसकी ऐतिहासिक अन्तश्चेतना के साथ जोड़नेवाली आलोचना दृष्टि को समुचित रूप में विकसित किया जाय, तो इससे दुहरे लाभ की गुंजाइश निकल सकती है। इतिहास और साहित्य के बिम्ब प्रतिबिम्ब का अवलोकन करने की प्रविधि से उस साहित्य का पूर्वकालीन महत्व तो नहीं, किन्तु उसका सुयश अवश्य बचा रहेगा। भारतीय मान्यताओं के अनुसार सुयश ही अनित्य हुआ करता है। शेष सब नित्य अर्थात् नश्वर होता है। मेरे विचार में हिन्दी आलोचकों ने रीति कालीन साहित्य की आलोचना में इस पक्ष की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया है। यदि इस प्रश्न के महत्व की ओर कुछ लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ, तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूँगा।

मेरे विचार में इस ग्रन्थ के लेखन-प्रकाशन में जो समस्यायें और उलझनें सामने आई हैं, उनकी चर्चा करना प्रसंगान्तर नहीं होगा। अपनी समस्याओं को मुद्दे बनाकर उनके लिए संघर्ष करना राजनीतिज्ञों की ही प्रकृति हो सकती है। सामान्यतया हर विषमता को स्वयं में ही सीमित रख कर उसको सहते और झेलते रहना साहित्य-सेवी की निजी विवशता हुआ करती है। लोकानुभव में प्राप्त अपनी प्रतिक्रियाओं को यदि वह कहीं व्यक्त करता है, तो केवल अपने साहित्य में। वस्तुतः यही उचित भी होता है। मैं मध्यम श्रेणी का व्यक्ति हूँ, अतः अपने इस प्राक्कथन में ही उसे व्यक्त करने की क्षमा चाहता हूँ। साहित्य सेवियों से अपनी समस्याओं के समाधान के लिए जलूस आयोजित करने की जो व्यवस्था (सरकार तो बड़ी चीज है, किन्तु मैंने यही पाया कि वाइस चांसलरों के पास केवल चुनाव लड़नेवाले अध्यापक गण ही पहुँच सकते हैं) अपेक्षा करती है, वह अपने कर्त्तव्य से विमुख रहती है। इसका एक दुष्परिणाम यह होगा कि सामान्य रूप से साहित्य स्रष्टा सात्विक एवं तटस्थ नहीं रह सकेगा। फलतः उस की प्रकृति में उसी रजोगुण की विशेषता आ जाएगी, जिससे सत्ता-संघर्ष में रत जन-समाज आकण्ठ डूबा रहता है। लोक-प्रियता और लोक-हित की दावेदारी करनेवाला वर्तमान शासन-तंत्र अपने उत्तर दायित्व से कितना विमुख है, इसे इन पंक्तियों के सीमित पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर मैं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपने मन के बोझ को हल्का कर लेना उचित समझता हूँ। इस तरह मन की भँड़ास निकालना ही साहित्यिक भाषा में विरेचन की संज्ञा प्राप्त करता है।

८० वर्ष की आयु तक हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य-सेवियों के पक्षधर बन कर निस्वार्थ भाव से संघर्ष करनेवाले पंडित श्री नारायण चतुर्वेदी जैसे व्यक्ति के अनुभव सिद्ध विचारों को प्रकाशित करने के लिए भी हिन्दी जगत में प्रकाशकों का मिलना कितना कठिन है, यह बात अब छिपी नहीं है। जब वे सत्ता में थे, तब किसी प्रकाशक से यह काम लेना उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझा था और अब जब वे सत्ता में नहीं रह गए हैं, तो उनके लेखन को प्रकाशन के लिए हाथ में लेने से लोगों को आर्थिक दृष्टि से हानि उठाने की आशंका डरा रही है। इसी तरह का एक और उदाहरण है। पाण्डुलिपियों को पढ़ने और पाठ संशोधित करने की जीवन भर की अखंड साधना करनेवाले रीतिकाल के एकमेव साधक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे विद्वान की छह पाण्डुलिपियाँ उनकी अलमारी के अंधकार में ही दबी पड़ी हैं। इतिहास के क्षेत्र में भी स्थिति इससे भिन्न नहीं है। अपने लेखन के उत्तर काल में सर जदुनाथ सरकार ने जयपुर राज्य का इतिहास लिखा था। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि उन्हीं के प्रिय शिष्य महाराज कुमार डॉक्टर रघुबीर सिंह के पास अप्रकाशित रूप में पड़ी हुई है। ऐतिहासिक प्रकाशनों में भारी अनुदानों की खपत के बावजूद **कमेटी-बाजी** में रत विद्वानों को ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं अनुभव हुई। लोक प्रिय मनोरंजक साहित्य और पाठ्यक्रमों से संबंधित पुस्तकों को ही बड़े-बड़े पुस्तकालयों में भी खरीदा जाता है। अधिकांश में पुस्तकों का चयन न करके प्रकाशकों के यहाँ उपलब्ध माल ही भर लिया जाता है। इस प्रवृति से पुस्तकालय माल गोदाम बनते जा रहे हैं। नवीन विषयों को प्रकाश में लाने की चेष्टा करनेवालों की ओर से वर्तमान शिक्षा नीति और उसको प्रतिबिंबित करनेवाले विश्व विद्यालय इतने उदासीन हैं कि तात्विक दृष्टि से शोध कार्य अरण्य रोदन ही कहा जा सकता है। एक दो शताब्दियों पूर्व जिस प्रकार गाजे बाजे के तुमुल घोष के बीच सती कही जानेवाली स्त्रियों को फूंक दिया जाता था, उसी तरह रिसर्च और पी-एच० डी० की दुंदुभी और आँकड़ों के बीच शोध की वास्तविक टेनासिटी का हनन किया जा रहा है।

वस्तुत: दोष प्रकाशकों का नहीं है। यदि कहीं त्रुटि है, तो वह पाठकों की उदासीनता और पुस्तकालयों की क्रय-नीति के निर्धारकों में ही है। शिक्षा नीति की अदूरदर्शिता इन सभी कारणों की जननी कही जा सकती है। यदि 'वंश भास्कर' और 'वीर विनोद' जैसे ग्रन्थों की सीमित प्रतियों के बिकने में अस्सी अस्सी वर्ष का समय लग सकता है, तो कौन ऐसा होगा जो 'कबीर पंथी' बन कर ऐसे ग्रन्थों के प्रकाशक बनने का बिरद लाभ करने के लिए अपने व्यवसाय में लुकाठा लगाने के लिए आगे आएगा ? 'हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी' से प्रकाशित आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित 'केशव दास ग्रन्थावली' का संस्करण ३० वर्षों में भी नहीं बिक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सका है। उक्त ग्रन्थ में उन्होंने अपनी जेब के तीन हज़ार रुपए लगाए थे, जो अभी तक उन्हें वापस नहीं मिल सके हैं। केशव दास की रचनाएँ प्राय: हर विश्व विद्यालय में पढ़ाई जाती हैं, तिस पर भी उक्त कवि की ग्रन्थावली का न बिकना आध्यापकों और विद्यार्थियों में मूल पाठ की उपेक्षा की प्रवृत्ति को ही ज्ञापित करता है। जब विश्व विद्यालयों की उच्च परीक्षाओं में पूछे जानेवाले प्रश्न ही आगे नहीं बढ़ रहे हैं, तब विद्यार्थी में ज्ञान की लालसा कैसे उद्दीप्त हो सकेगी? जो अध्यापक नए प्रश्न पूछने में समर्थ भी हैं, वे ऐसा करने से इस लिए डरते हैं कि प्रश्न-पत्र को कोर्स के बाहर बताकर विद्यार्थी जलूस निकालने के लिए उठ खड़े होंगे।

उक्त परिस्थितियों से पूर्णत: अवगत होते हुए भी मैंने कालिज से एक वर्ष की 'स्टडी लीव' लेकर प्रतिमाह तीन चार सौ रुपयों से हाथ धोकर शुद्ध रूप से शोध की ही वासना से 'ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल' ग्रन्थ का प्रणयन करने का लक्ष्य निर्धारित किया था। उक्त ग्रन्थ को मैं अपनी कल्पना और सामर्थ्य के अनुसार अधिक से अधिक पूर्ण रूप देना चाहता था। इसके लिए मुझे कुछ भ्रमण और यात्राएँ भी करनी थीं। कुछ अन्य सामग्री, जो मेरी दृष्टि में थी, उसे भी मैं इस ग्रन्थ में सम्मिलित करना चाहता था। अत: मैंने यू० जी० सी० से अधिक नहीं लेक्चरर की अपनी औकात देखते हुए सिर्फ दो-ढाई हजार रुपयों का ही अनुदान प्राप्त करने के लिए आवेदन पत्र भरा था। दुर्भाग्य से देश की सबसे बड़ी शिक्षा संस्था की एक्सपर्ट कमिटी ने मेरी अर्ज़ी को रद्दी की टोकरी में फेंक देने के योग्य ही पाया था। संभवत: 'इन्टर डिसिप्लिनरी वर्क्स' की दुहाई देनेवाले शिक्षा-विशारदों को मेरे प्रस्ताव में कोई सार नहीं नजर आया होगा। अस्वीकृति की चिट्ठी जिस समय मुझे कालिज में मिली, उस क्षण मेरे कालिज के प्रिंसिपल श्री महिन्दर सिंह और मैं साथ साथ बैठे थे। मैंने वह चिट्ठी खोल कर पढ़ी और स्वभावत: उदास हो गया। मेरे चेहरे के उतार चढ़ाव को देखते ही उन्होंने मेरे हाथ से चिट्ठी लेकर पढ़ी और कहा कि डाक्टर साहब अब आप छोड़िए, मैं आपके इस केस को फिर से उठाऊँगा। मैंने उनके इस प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए यही कहा कि जो वस्तु सहज में ही नहीं मिल सकती, उसे माँग कर लेने का लोभ मुझ में फिलहाल नहीं है। अगर इस अलाभकारी कार्य के लिए भी मुझे सिफारिश कराने की ज़रूरत है, तो यह काम मेरे एवं संस्था दोनों के लिए लज्जा का विषय है, अत: आप इस विषय में कुछ भी सोच विचार न करें। फलत: मुझे अपनी छुट्टी बीच में ही समाप्त करानी पड़ी और ग्रन्थ को वह रूप नहीं मिल सका, जो मैंने सोच रखा था। अनुसंधान से संबंधित फ़ील्ड वर्क पूरा करने के साथ ग्रन्थ को मैंने स्वयं प्रकाशित भी किया है। मैं जानता था कि जब आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे सिद्ध साहित्यकार को हिन्दी जगत में प्रकाशक नहीं मिल रहे, तो त्रिशंकु की तरह साहित्य और इतिहास के अधर में लटकनेवाले मुझ जैसे **बहुधंधी** (यह सम्बोधन मुझे बड़ौदा प्रवास काल में प्रो०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा० उदित नारायण सिंह से प्राप्त हुआ था) व्यक्ति की कोर्स से असंबद्ध रचना को कौन सा प्रकाशक छापेगा ? यदि ग्रन्थ को स्वयं ही न छपाता, तो जो कुछ किया था, उसे मिट्टी में मिला देने का पछतावा जिन्दगी भर मुझे चैन न लेने देता। अत: प्रकाशन मेरे लिए गले पड़ी विवशता के ही समान रहा है। वस्तुत: अपने पुराने अनुभवों के आधार पर अपने ग्रन्थ के लिए प्रकाशक ढूँढ़ने की मृग-मरीचिका में भटकने से ही मैंने अपने को बचाया है। अपने गाँव के लोगों से मैंने अक्सर एक कहावत सुनी है कि 'अपने ही मरने से स्वर्ग दिखाई पड़ता है।' अत: मैंने लोक की अनुभूत ज्ञान-दृष्टि को अंगीकार करने में संशय और व्यर्थ का ऊहापोह नहीं किया है।

रिसर्च की प्रक्रिया में नए तथ्यों से भेंट और नई सूझ-समझ के स्फुरित होने में जो आनन्द प्राप्त होता है, उसमें एक प्रकार की ऐसी **संजीवनी** मिली रहती है कि उसके परिणाम स्वरूप परेशानियों का समस्त अनुभव आनन्द में बदल जाता है। यदि ऐसा न रहा होता, तो मैं इस क्षेत्र में अपने ही प्रोजेक्ट, अपनी ही स्वीकृति तथा अपने ही साधनों और अपनी ही घर-संस्था के बलबूते पर इतने दिनों तक इस कार्य में टिका ही क्यों रहता ? मैंने इन बातों का उल्लेख इसलिए किया है कि रिसर्च के क्षेत्र में आनेवाली समस्याओं से अपने पाठकों को किंचित रूप से परिचित करा देना आवश्यक समझता हूँ। महाकवि 'निराला' के आशीर्वाद के अतिरिक्त प्रोफेसर बी० बी० मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र और महाराज कुमार डा० रघुबीर सिंह के व्यक्तित्वों और उनके प्रोत्साहन से मुझे बहुत बल मिला है। दो तीन बार की भेंट में ही स्वर्गीय बालकृष्ण राव ने मेरे मन मस्तिष्क पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ा है। संभवत: मेरे इस ग्रन्थ को देखकर उन्हें सबसे ज्यादा हर्ष हुआ होता। मैं उनकी पुण्य स्मृति को ही अपना श्रद्धा पूर्ण प्रणाम समर्पित कर रहा हूँ।

पिछले ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए किए गए आयोजन के माध्यम से नई दिल्ली में स्थित "श्री प्राणनाथ मिशन" के संचालकों से मेरा परिचय हो गया था। यदि इस संस्था के लोग मुझे न मिले होते, तो संभवत: मेरा उत्साह भी बैठने लगता। इसी प्रकार महाराज छत्रसाल के वंशज पन्ना के महाराजा श्री नरेन्द्र सिंह जी का मैं विशेष रूप से आभारी हूँ। इन लोगों के स्नेह-सहयोग से मेरा भार हल्का हुआ है। पुस्तक को प्रकाशित कराने के लिए उत्साह प्रदान करने वालों में 'श्री प्राणनाथ मिशन' के कश्मीरी लालजी भगत एवं श्रीमती विमला मेहता प्रमुख हैं। कन्नौज इण्टर कॉलिज के प्रवक्ता और मेरे मित्र श्री भूप नारायण पाण्डेय ने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को प्रेस में भेज देने का आदेश सा दे दिया था। इसी प्रकार डी० ए० वी० कॉलिज कानपुर के प्रवक्ता श्री सुहेल कुमार परमार तथा देशबंधु कॉलिज के डा० रामस्वरूप शर्मा ने भी प्रकाशन के मोहरे में डटे रहने के लिए मुझे हर प्रकार से उत्साहित किया है। संस्कृत विभाग के प्राध्यापक श्री देवेन्द्र नाथ मिश्र, अरविन्द कॉलिज के डा० पूर्ण सिंह डबास तथा कालिन्दी कालिज की श्रीमती डा० सीता कौशिक का मैं विशेष आभारी हूँ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छत्रसाल संबंधी इतिहास को आगे बढ़ाने के लिए अकेली दम भाई सूर्य नारायण सक्सेना को संघर्ष करते हुए देखकर मुझे अपने शोध कार्य पर परम संतोष होता है। मुझे उत्साहित करने लिए ही आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी और महाराज कुमार डॉ० रघुबीरसिंह जैसे विद्वानों ने मेरे कार्य की समीक्षाएँ लिखकर मुझ जैसे सामान्य व्यक्ति को गौरव प्रदान किया है। इससे मेरी मनवढ़ई हुई है। मैं इन सब महानुभावों के प्रति श्रद्धावनत हूँ। ग्रंथ में इन विद्वानों से भी मैं असहमत हुआ हूँ। **खेलत में को काको गुसइयां।**

आगरा फाइन आर्ट प्रेस के स्वामी श्री गुलाबसिंह से मिले सक्रिय और सार्थक सहयोग के विना यह पुस्तक नहीं छप सकती थी। मैं उनके इस स्नेह सहयोग को कभी नहीं भूल सकता। प्रेस के फोरमैन श्री शिवसिंह ने मेरी हर पुस्तक के गेटअप में विशेष योगदान किया है। ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन का अंतिम दायित्व बी० आर० इण्टर कॉलिज के श्री प्राग सिंह वैस के हाथों में रहा है, उनके कारण मेरा भार बहुत कुछ हल्का हुआ है। इस सावधानी के बावजूद ग्रन्थ के मुद्रित रूप में यत्र तत्र जो त्रुटियाँ रह गई हैं, वे सब मेरी ही हैं। मैं आशा करता हूँ कि 'सो सुधार बुधजन सब लेहीं' के अनुसार विज्ञ पाठक उन्हें ठीक करके पढ़ेंगे। लेखन में मदद करनेवालों के नाम मैंने ग्रंथ में यथास्थान अंकित किए हैं। नेशनल आर्काइव्स में रिसर्च रूम के अधिकारी डा० कैलास विहारी श्रीवास्तव से मिले सहयोग का उल्लेख करना मेरे लिए हर्ष जनक है। आर्क्योलाजिकल सर्वे आफ इंडिया पुस्तकालय के कर्मचारी पं० भगवत प्रसाद के सहयोग को भी मैं नहीं भुला सकता। जिन मित्रों का नाम मैं इस भूमिका में नहीं लिख सका हूँ, उन सबका स्नेह मेरे मन पर अंकित है। यही स्नेह संबल मेरे लिए सबसे बड़ा धन और सबसे बड़ी प्रेरणा रहा है। इसी को मैं अपनी उपलब्धि मानता हूँ।

—महेन्द्र प्रताप सिंह

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कृपाराम :

सिधिनिधि सिव मुख चन्द्र लखि, माघ सुद्दि तृतियासु ।
'हित तरंगिनी' हौं रची, कवि-हित परम प्रकासु ।।

—संवत् १५६८-१५४२ ई०

तुलसीदास :

'कबित रीति नहिं जानउं, कबि न कहावउं ।'—पार्वती मंगल
'कबित-बिवेक एक नहिं मोरे ।'—बाल काण्ड

('विवेक' शब्द रीति के पर्याय रूप में प्रयुक्त हुआ है ।)

केशवदास :

''ढिठई केशव राइ की छमियो **कवि-कबिराइ** ।''—रसिक प्रिया
('कविराज' शब्द भाटों के लिए जातिवाचक अर्थ में प्रयुक्त होता था ।)

भूषण :

''सुकविन सौं सुनि-सुनि कछुक, समुझि **कबिन को पंथ** ।''—छं० सं० २६

('सुनि' शब्द में कवि ने विशेष बल दिया है ! इसके माध्यम से उसने अपने युग की मौखिक काव्य-परम्परा की ओर संकेत किया है । 'पंथ' शब्द का आशय रीति से है ।')

लालकवि :

''तेरी कृपा लाल जो पावै, तौ **कबि-रीति** बुद्धि विलसावै ।
कबिता रीति कठिन रे भाई, बांहन समुद पैर नहिं जाई ।''—छत्रप्रकास

('रीति' शब्द ऐसे ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य के लिए व्यवहृत हुआ है, जिसे शृंगार रस की छाया भी नहीं छू सकी है ।')

रहीम कालीन फ़ारसी काव्य में रीति :

बतरजे ताज़ा मद्दे तो आशना गरदीद ।
चोर वी खूब के या बदजमा शतह जेवर ।।—कौसरी

उक्त उद्धरणों में निहित विभिन्न अर्थ-संदर्भों पर मनन करने से रीतिकाल सम्बन्धी प्रचलित मान्यताओं में संशोधन करने की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय सूची

विषय-क्रम

(क) आत्म निवेदन १–११
(ख) विषय-सूची
१ विषयोन्मीलन १७
२ नामों की चर्चा—मध्यकाल नाम का अनौचित्य १७
३ इतिहास की नई करवट—नए युग का आरंभ २०
४ नई युग-चेतना का संपोषक अकबर २१
५ भाषा के अस्तित्व का स्वीकरण—राज तंत्र के साथ समझौता २४
६ शृंगार काल आदि नामों की अनुपयुक्तता २६
७ मुग़ल संपर्क और भाषा काव्य में नया निखार २७
८ मुग़ल साम्राज्य के समानान्तर भाषा एवं भाषा-साहित्य का प्रभाव-विस्तार २९
९ चित्र-कला और वास्तु कला की तरह भाषा-साहित्य के लिए मुग़ल काल नाम की असंगति ३१
१० साहित्य और काव्य-शास्त्र के इतिहासों में एक स्पष्ट विभाजक रेखा ३३
११ परम्परा के ग्रहण और नवीन प्रभावों के स्वीकरण में ताल-मेल ३४
१२ कवि स्वयं अपने काव्य के व्याख्याता ३६
१३ तत्कालीन कविता में रीति शब्द एक विस्तृत साहित्य फलक का द्योतक ३७
१४ रीति शब्द परम्परा-बोध का सजग प्रहरी ४१
१५ नई चेतना का अग्रदूत ४३
१६ 'रीति' शब्द विषयक बद्धमूल धारणा में संशोधन करने की आवश्यकता ४४
१७ यह काव्य किसे लक्ष्य करके लिखा जा रहा था -४५
१८ तत्कालीन समाज में काव्य की उपादेयता ४६
१९ रीतिकाव्य की मूल भाव-चेतना ग्रामीण परिवेश से ही प्रस्फुटित ४८
२० इतिहास के छल-जन्य सम्मोहन की मीमांसा ५२
२१ रीतिकाल का सीमांकन—छंदगत वैशिष्ट्य ५३
(ख) परलोक के स्थान पर इहलोक अर्थात् प्राकृत विषयों का ग्रहण ५६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

२२ भक्ति और रीति काव्य में आदर्शगत मतभेद ५८
२३ लोक-कल्याण के साधक महाकवि नरहरि—इतिहास की नई दिशा ६०
२४ परवर्ती काव्य-धारा में प्राकृत विषयों का उपबृंहण—भक्ति भी वीर रसान्वित हो गई ६४
२५ भाषा काव्य में ऐतिहासिक दृष्टि का विस्तार ६८
२६ कला-बोध के स्तर पर संपूर्ण देश की एकात्मकता ७१
२७ ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से रीतिकाल की स्वाभाविक श्रेष्ठता ७७
२८ वीर गाथाओं का रचना और संपादन-काल ७९
२९ सांकेतिकता का आश्रयण ८४
३० दरबारी मंच पर फारसी के साथ बराबर की जोड़-तोड़ ८६
३१ भाषा का युग पुरुष—बीरवल ८८
३२ रीति काव्य की चतुर्दिक व्याप्ति—रहीम की छत्र-छाया ९१
३३ कवियों का राज-सम्मान ९८
३४ भाषा साहित्य का प्रशस्ति काव्य ९९
३५ शृंगार-चेतना पर वीर रस का प्रभाव १०१
३६ समस्या-पूर्तियों का अतीत और उनका महत्व १०४
३७ जातीय स्वाभिमान का संवर्धन ११६
३८ संतों द्वारा राजनैतिक चेतना का बीजारोपण ११७
३९ सिक्ख गुरुओं की दूर-दर्शिता ११९
४० यूरोपीय धर्मान्दोलन से भारतीय संतों के धर्मान्दोलन की विशिष्टता १२२
४१ श्री गुरु हरगोविन्द जी का राजनैतिक संकल्प और नेतृत्व १२३
४२ शाहजहाँ द्वारा नीतियों में संशोधन १२७
४३ रीतिकालीन साहित्य में उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्य और उनका महत्व १२८
४४ संतों में शस्त्र धारण की देश-व्यापी प्रवृत्ति १३७
४५ महामति प्राणनाथ की राजनैतिक प्रेरणा १३८
४६ हिन्दू चेतना की देश व्यापी जागृति १४०
४७ राष्ट्रीय भाव का देश व्यापी उच्छलन १४६
४८ ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की समस्या—उनकी कूटनीतिक सावधानी १४९
४९ ब्रिटिश काल में—मध्य देश की—साहित्य-भाषा को विषाक्त करने की अन्तर्कथा १५२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

५० ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का भाषा की स्वतंत्र चेता प्रकृति से आशंकित होना स्वाभाविक था १५६

५१ १९वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का एक ऐतिहासिक दस्तावेज़—कविवर पद्माकर का एक कबित्त १५७

५२ पद्माकर के युग को राष्ट्रीयता की विरासत परम्परा से मिली थी १६६

(क) अमीर ख़ुसरो १६६

(ख) देश की भौगोलिक इकाई का सम्यक बोध १६७

(ग) देश की सीमाओं के साथ भावात्मक लगाव १६९

(घ) छत्रसाल के पिता चंपतराय का वसीयतनामा अर्थात् दैलवारा लेख १७१

(ङ) मुग़ल सत्ता से जूझनेवालों में आन्तरिक एकता १७३

५३ राष्ट्रीयता के प्रकरण में समर्थ गुरु रामदास का योगदान १७६

५४ महामति प्राणनाथ की राष्ट्र-कल्पना—संकटकालीन घड़ी में समग्र राष्ट्र का उद्‌बोधन १७८

५५ श्री गुरु गोविन्द सिंह के बलिदानों में निहित प्रेरणा—उनका अप्रतिम व्यक्तित्व १८२

५६ नए विचारों के पल्लवन एवं प्रसार में कवियों की भूमिका १८५

५७ राष्ट्रीयता के कर्णधार महाकवि भूषण १८७

५८ 'हिन्दूपत पातसाही' की राजनैतिक अवधारणा १९४

५९ क्या भूषण के काव्य में निहित हिन्दूपत पातसाही का संकल्प साम्प्रदायिक था १९६

६० भूषण ने ही पहला राष्ट्रगीत लिखा है १९८

६१ भूषण की परम्परा और भगवंतराय खीची २००

६२ भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता को अँग्रेजी शिक्षा की देन मानना तथ्य संगत नहीं है २०७

६३ इतिहास में भाषा-काव्य के अस्तित्व की अवहेलना २१२

६४ रीतिकाल के गुन-गाहकों की एक झलक २१७

६५ साहित्य में तंत्रोन्मुख लक्षणों का विकास २२२

६६ नायिका भेद विषयक साहित्य और उसका सामाजिक औचित्य २३१

परिशिष्ट अ

(क) ग्रन्थानुक्रम ४९

परिशिष्ट आ

(ख) नामानुक्रम ५३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतिकालीन
हिन्दी साहित्य
की
ऐतिहासिक व्याख्या

अर्थात्

•

भाषा-भाषी जनसमाज
की
साहित्य-चेतना
के
आधार पर
प्रस्तावित
उसके भावी इतिहास
की
रूप-रेखा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

☐ विषयोन्मीलन :

उत्तर भारत में भाखा (ब्रज भाषा) तथा अन्य भाषाओं का उदय जनता के बीच एक स्वाभाविक प्रक्रिया के रूप में हुआ है। 'ब्रजभाषा' अवधी एवं पंजाबी इत्यादि नाम बाद में प्रचलित हुए हैं। होता भी यही है कि किसी वस्तु का आविर्भाव पहले हो जाता है और उसका नाम बाद में निश्चित किया जाता है। जीवन की यह सहज प्रक्रिया साहित्य पर भी घटित होती है। इसीलिये नाम विषयक निजी धारणा को स्पष्ट करना आवश्यक है।

प्रस्तुत ग्रंथ में 'भाषा' शब्द का व्यवहार मुख्यतः ब्रजभाषा के अर्थ में ही किया गया है। स्पष्ट है कि अर्थ-व्यापकता और सामाजिक मान्यता की दृष्टि से ही इस शब्द की पात्रता का निश्चय किया गया है। संभाषण की सहज प्रक्रिया के रूप में जिस प्रकार 'भाषा' का जन्म हुआ है, उसी प्रकार इसका प्रारम्भिक साहित्य भी समाज के भावोच्छ्वास के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। कालान्तर में इस भावोच्छ्वास को सुनिश्चित रूप प्रदान करके उसे रीति-सम्मत बनाने की आवश्यकता ने ही 'रीतिकाल' को जन्म दिया है।

भाषा-साहित्य के सुपरिचित 'रीति' शब्द में निहित विशेषताओं का जिस काल के कवियों द्वारा प्रमुखता के साथ अधिग्रहण किया गया है, उस काव्य-युग को 'रीतिकाल' नाम से सम्बोधित करना इतिहास की विवेक-दृष्टि से औचित्यपूर्ण है। प्रस्तुत प्रसंग में यह बताना आवश्यक है कि ब्रज भाषा काव्य में प्रचलित रीति शब्द की धारणा को हृदयंगम करने के लिये संस्कृत के ज्ञान-गह्वर में भटकने के स्थान पर भाखा एवं भाषा-साहित्य में प्राप्त तत्कालीन प्रयोगों में लक्षित अर्थ-सीमा का शोध करना ही समीचीन होगा।

☐ नामों की चर्चा—मध्यकाल नाम का अनौचित्य :

रीतिकाल के विभिन्न समालोचकों द्वारा प्रस्तावित किए गए मध्यकाल, उत्तर मध्यकाल, अलंकार-काल, कला काल तथा शृंगार काल आदि नाम इस युग के काव्य-स्वर का वैसा सर्वांग चित्र नहीं उपस्थित कर सकते, जितना रीति शब्द द्वारा लक्षित किया जा सकता है। रीतिकाल नाम के विकल्प रूप में इस काल के लिये 'मध्यकाल'[१] नाम प्रस्तावित करना ऐतिहासिक विवेक-दृष्टि से एक अक्षम्य

---

१. पाश्चात्य इतिहासकारों की दृष्टि का अनुधावन करने की प्रवृत्ति के कारण ही मध्यकाल नाम का इन दिनों विशेष रूप से प्रचलन हो गया है। भाषा-साहित्य के मूलस्वर के साथ इसकी संगति बैठती है या नहीं, इस प्रश्न पर ध्यान ही नहीं दिया जा रहा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूल होगी। यह नया नाम भारतीय इतिहास एवं भारतीय साहित्य को यूरोपीय नव जागरण के इतिहास का पिछलग्गू बनाने का ही काम कर रहा है। वस्तुतः यूरोपीय देशों में होनेवाले नव युग के नव जागरण की तुलना में भारत उनसे पीछे नहीं था। मध्यकाल नाम, भारतीय पुनर्जागरण की जन-चेतना को उपेक्षित एवं तिरस्कृत करते हुए उसके समस्त कृतित्व को जल-समाधि देने की दृष्टि से ही विदेशी भाषा एवं विदेशी चिंतकों द्वारा की गई एक विचक्षण आविष्कृति है। ऐसा कहने का आधार यह है कि 'मध्यकाल' आज के जीवन-संदर्भ में घिसी-पिटी निरर्थक धारणाओं, अंधविश्वासों और जड़ संस्कारों की स्मृति रूप में ही अवशेष रह गया है। मध्यकालीन जीवन मूल्यों को आधुनिक जीवन-दृष्टि से अवांक्षित और निरर्थक मान लिया गया है। ऐसी दशा में मध्यकालीन संस्कारों से रँगे हुए साहित्य की उपादेयता स्वयं ही अप्रमाणित हो जाती है।

मध्यकालीन धार्मिक संस्कारों और कर्मकाण्डों की जकड़न से भारतीय समाज का दम घुटना एक स्वाभाविक बात थी। अतः इससे मुक्ति पाने के लिए किए गए संघर्ष-काल की सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति भाषा-काव्य के माध्यम से हुई है। मध्यकाल की सामाजिक घुटन के लिये बहुत अंशों में संस्कृत भाषा को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। संस्कृत भाषा, जनसामान्य से दूर, समाज के थोड़े से लोगों की सम्पत्ति बनकर शेष रह गई थी। इस भाषा को अपनी बपौती बनाकर समाज का एक वर्ग निरक्षर[1] जनता के बहुविध शोषण के लिये इसका दुरुपयोग करने का पैतृक व्यवसाय करने लगा था[2]। अतः इसके चंगुल से मुक्ति पाने के लिये संस्कृत से

---

१. अशिक्षित समझना ठीक नहीं होगा क्योंकि व्यक्ति की शिक्षा मुख्य रूप से दो प्रकार से होती है। पहले प्रकार की शिक्षा स्कूली प्रणाली से और दूसरे प्रकार की सामाजिक एवं पारिवारिक वातावरण अर्थात् परिवेशीय माध्यम से सम्पन्न होती है। इन्हीं दोनों शिक्षा प्रणालियों को आज के शिक्षाविद 'फार्मल' (औपचारिक) और इनफार्मल (अनौपचारिक) नाम दे रहे हैं। श्री गुरु गोविन्दसिंह जी ने विचित्र नाटक में इस प्रणाली की शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया है :—

"मद्र देश हमको ले आए,
भाँति-भाँति दाइन दुलराए।
कीनी अनिक भाँति तन-रच्छा
दीनी भाँति-भाँति की सिच्छा॥

जन सामान्य की शिक्षा इसी प्रणाली से होती रही है। भारतीय जन साक्षर हुए बिना भी, अपनी विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था द्वारा पुराण, इतिहास और नित्य काम आनेवाली व्यावहारिक बातों का सामान्य ज्ञान सहज रूप में प्राप्त कर लेता था। कबीरदास, तुलसीदास, अकबर, शिवाजी और छत्रसाल जैसे व्यक्ति इसी शिक्षा प्रणाली की देन हैं।

२. उदर कुटम करने उतमाई देखावैं अंग, व्याकरन वाद-विवाद कै अरथ करैं कै रंग।

—कुलजम स्वरूप सनंध प्रकरण १६, चौ० २२ पृ० ४४१

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी पिंड छुड़ाना अनिवार्य हो गया। संस्कृत भाषा द्वारा संपोषित सामाजिक रूढ़ियों को तोड़ने तथा नवीन प्रभावों को आत्मसात करने के फलस्वरूप सामान्य जन की मानसिक दुर्बलता दूर करने का मार्गान्वेषण तथा आर्थिक शोषण को सुदृढ़ करने वाले कर्मकाण्डों से जनसामान्य की मुक्ति के लिए भाषा साहित्य की इतिहास-धारा में अविराम संघर्षों का प्रतिफलन हुआ।

बारहवीं शताब्दी के अन्त में, विदेशों से आये मुस्लिम शासकों ने उत्तर भारत की विजय के उपरान्त जब दिल्ली के सिंहासन पर अपना प्रशासन स्थापित कर लिया, तब सामान्य जन की अन्तश्चेतना का उद्वेलित होकर दुहरी जकड़न से अपनी मुक्ति के लिए उद्यमशील होना स्वाभाविक हो गया। फलतः संस्कृत के प्रति उसकी संस्कार-बद्ध मोह ग्रंथि भंग होने लगी। एक ओर प्रजा को सुल्तानी शासकों के राजनैतिक-आर्थिक और धार्मिक अत्याचारों को झेलना पड़ रहा था, तो दूसरी ओर उसी के धर्मावलम्बी पंडे-पुजारी भी निष्ठुरता पूर्वक उसका दोहन करने में संलग्न थे। राजतंत्र और अर्थतन्त्र (वाणिज्य-व्यापार) के समानान्तर कर्मकाण्डों के पोषक तत्व सामान्य जन के जन्म से लेकर मरण के बीच अनेकानेक अवसरों पर राजा से लेकर प्रजा का धन हरते रहने का पाखंड फैलाए हुए थे। राजनैतिक और धार्मिक शोषणों से एक साथ मुक्ति नहीं पाई जा सकती थी। एक साथ दो मोर्चों पर लड़ सकने की क्षमता इस उत्पीड़ित जनता में शेष नहीं रह गयी थी।

सैनिक दृष्टि से सबल और सुसंगठित राज-तन्त्र से लड़कर विजय की आशा करने की अपेक्षा धार्मिक और सामाजिक मुक्ति की चेष्टा का मार्ग सुगम था। परन्तु यह मार्ग भी पूर्ण रूप से निरापद नहीं था। संस्कृत में शास्त्रार्थ करके धर्म-शास्त्र के व्याखयाता एवं अधिष्ठाता पंडितों से पार पाना एक प्रकार से असंभव-सा था। पंडितों की 'रबड़ छंदी' टीकाओं और व्याख्याओं का जाल तोड़ सकना उस समय कितना दुष्कर रहा होगा, इसका अनुमान आज भी किया जा सकता है। अतः १४ वीं शताब्दी के आस-पास संस्कृत मूलक उत्तर भारत की पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी और बंगाली आदि सभी साहित्य भाषाओं का उदय इन्हीं ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप हुआ। भाषा में कहा या लिखा गया साहित्य आक्रान्त समाज के परितोष के लिए व्यापक रूप से रचा जाने लगा। भाषा में मिलनेवाला उसके आरम्भ काल का साहित्य भाषा की इसी विद्रोही चेतना को प्रतिबिंबित करता है। भाषा-साहित्य की यह प्रवृत्ति इतनी अविकल है कि इसी के अनुसरण पूर्वक किए गए अनुशीलन से उसके साहित्य का वास्तविक मूल्यांकन संभव हो सकता है।

(शेष पिछले पृष्ठ से)

(ii) 'पड़ि पड़ि पंडितु बादु बखाणै'
एवं
'पड़ि पुस्तक संधिया बाद'
—श्री गुरुग्रंथ साहब पृ० १५२, ४७०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्तर भारत की अधुनिक भाषाओं का जन्म सामाजिक स्तर पर किए गए एक बहुत बड़े ऐतिहासिक प्रयोग के अतिरिक्त भारतीय जन की अप्रतिहत जिजीविषा की अभिव्यक्ति भी है। यदि इस संक्रांति कालीन इतिहास का संपूर्ण वाङ्गमय हमारे समक्ष सुरक्षित रहा होता, तो अवश्य ही उसके माध्यम से तत्कालीन उद्वेलन-मंथन के संबंध में हमें बहुत कुछ जानने को मिला होता। फिर भी संतों, भक्तों और सूफी कवियों की प्रारम्भिक रचनाओं द्वारा इस संक्रान्तिकालीन चित्त वृत्ति का किंचित अनुमान किया जा सकता है। एतद् विषयक प्राप्त रचनाओं के अनुशीलन से विदित होता है कि भाषा-साहित्य का उदय ही मध्यकालीन संस्कारों से मुक्ति पाने के लिये हुआ है, फिर उसकी साहित्यिकता का उत्कर्ष लक्षित करनेवाले रीतिकाल को किस न्याय से मध्यकाल कहा जाना उचित होगा ? एक ओर तो हम इन भाषाओं के लिये 'आधुनिक भारतीय भाषाएँ 'संज्ञा' देते हैं, किन्तु दूसरी ओर इन भाषाओं में लिखे गये साहित्य की प्रवृतित-निरूपण के लिये 'मध्यकालीन साहित्य' नाम देकर अपनी समीक्षा-दृष्टि को स्वयं ही भ्रामक एवं आत्मविरोधी बना लेते हैं !

□ इतिहास की नई करवट—नए युग का आरंभ :

१६ वीं शताब्दी में भाषा-साहित्य के इतिहास ने एक नई करवट ली। इसी शताब्दी के अन्तर्गत यूरोप के इतिहास में आधुनिक काल की चेतना का उदय और विकास होने लगा था। प्रबुद्ध भारतीयों के कानों में इस चेतना की भनक भी नहीं लग रही थी, यह, कैसे मान लिया जाय ? यूरोप तथा एशिया आदि महाद्वीपों के निवासियों के साथ भारत के जल और स्थल दोनों मार्गों से अतीतकाल से ही सम्बन्ध स्थापित रहा है। मुस्लिम शासन काल में स्थल मार्ग पर लगाए गए अवरोधों के कारण ही यूरोपियों को उपयुक्त जल मार्गों के शोध के लिए विवश होना पड़ा था। पुर्तगाली नाविकों का अनुसरण करते हुए भारत आने के पश्चात्, यूरोप-निवासी केवल समुद्र-तटों में ही सीमित न रहकर, व्यापार आदि के लिये उत्तर भारत की व्यापार-मंडियों और मुख्य उत्पादन-केन्द्रों में सर्वत्र फैल चुके थे। मुस्लिम काल में मध्यपूर्व (पश्चिमी एशिया) के देशों से स्थल-मार्ग से भारत का बड़े पैमाने पर व्यापारिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक और राजनैतिक सम्बन्ध बना हुआ था। इस युग में भी समुद्री जल मार्ग का महत्व कम नहीं हुआ था। हज़ारों मुसलमान प्रति वर्ष सूरत बन्दरगाह से 'हज' करने के लिए अरब की यात्रा करते थे। कच्छ और सिंध प्रांत के हिन्दू नागरिक व्यापार आदि के लिए विदेशों में आते जाते रहते थे। इस प्रकार विदेशों से स्थापित होनेवाले संपर्कों के माध्यम से प्रबुद्ध वर्ग को घर बैठे रहने पर भी विश्व की गतिविधियों का परिचय होता रहता था। उत्तर मध्यकाल के संस्कृत भाषी पंडितों ने समुद्र यात्रा का निषेध करके साम्राज्यवाद और व्यापारिक साम्राज्यवाद का ही साथ दिया था। भाषा भाषी ये विचारक अपने शत्रुओं कोलक्ष्य करने में पूर्ण सावधान रहे हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अलोच्य युग में विभिन्न उद्देश्यों से प्रेरित यूरोपीय देशों के अनेक नागरिक भारत में आते रहते थे। इनमें से एक-एक विदेशी के साथ चलने के लिये भारतवासियों का पूरा एक काफ़िला ही खड़ा हो जाता था।[1] पहरे के लिये चौकीदार, सुरक्षा के लिए सिपाही, माल ढोने के लिए बंजारे, व्यापारिक सम्पर्कों के लिये दलाल और दुभाषिए का काम करने के लिए पढ़े लिखे पंडितों, मुंशियों आदि की सहायता लिए बिना उस विदेशी का काम नहीं चल सकता था। इन तथ्यों के अनुसार विचारों का आदान-प्रदान होना अत्यंत स्वाभाविक है। इस संपर्क के साथ-साथ भारत का अपना प्राचीन इतिहास भी था, जो सामान्य जन की सांस्कृतिक अन्तर्धारा के रूप में जन-जीवन को अनुप्राणित करता आ रहा था। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय जीवन और चिन्तन में प्राचीन परम्परा की शोध और नवीन विचार-धाराओं के सम्मिश्रण और समन्वय से जो भी नई कोंपलें फूटी होगीं, वे सब हमारे तत्कालीन साहित्य में देखी जा सकती हैं। साहित्य में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में तथ्यों की अभिव्यक्ति होती है, इसीलिए इनका स्वरूप निर्धारण करने के लिए विशेष रूप से सतर्कता एवं सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

☐ युग-चेतना का संपोषक अकबर :

उक्त शताब्दी में मुगल शासन की नींव पड़ने के साथ-साथ मध्य एशिया से आए मुग़लों की छत्र-छाया में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के बीच समन्वय एवं एक दूसरे की भावनाओं को समझने की प्रक्रिया में तीव्रता आई। मुगल काल की राजनैतिक विशिष्टता की तुलना करने के लिये भारतवर्ष के इतिहास में मौर्य और गुप्त साम्राज्यों को ही उपस्थित किया जा सकता है। भौगोलिक सीमा, प्रशासनिक स्थिरता, शासन की दीर्घकालीनता, और ललित कलाओं के विकास की दृष्टि से इन युगों में पर्याप्त समानता देखी जा सकती है। साम्राज्यशाही के विकास की दृष्टि से मुगलकाल कुछ बातों में मौर्यकाल और गुप्तकाल की अपेक्षा अधिक उन्नत था। दोनों के बीच प्रवृत्ति-भेद कम और काल-भेद ही अधिक है। विदेशी और विधर्मी शासकों के प्रति बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा की राजभक्ति प्राप्त करने में मुगलकालीन प्रशासन को जो सफलता मिली है, उसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती।[2] अकबर

---

१. एक पालकी या सुखपाल को उठाकर चलने के लिए बारह व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती थी। 'ट्रेवल्स आफ टॅवर्नियर' बुक १, अध्या १११, पृ० ४१-४२। अन्य कामों के लिए जिस तरह के व्यक्तियों को नियुक्त किया जाता था, उसका उल्लेख पृ० ४६ पर है। इसी ग्रन्थ के पृ० ८४ पर वह अपने भारतीय कर्मचारियों की संख्या ६० लिखता है। यह संखया कठिन और दुर्गम मार्गों पर बढ़ा दी जाती रही होगी। इसी से इसके लिए काफिला शब्द ही उपयुक्त है।

२. भारत की हिन्दू प्रजा से सुल्तान-काल में अनेक प्रकार के आर्थिक कर लिये जाते थे। अकबर

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के शासन की स्थापना होने के पूर्व, शताब्दियों से भारतवर्ष में राजनैतिक और प्रशासनिक अनिश्चितता का बोलबाला था। कुछ अपवादों को छोड़कर मुगल राजतंत्र इस वातावरण पर काबू पाने में विशेष रूप से सफल हुआ है। कहावत है कि अकबर ने शेर और बकरी को एक घाट पर पानी पिलाने में सफलता पाई थी। मुगल साम्राज्य की सफलताओं ने देश में राजनैतिक और प्रशासनिक एकरूपता को जन्म दिया, जिसके कारण जन-जीवन में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूपों में सामंजस्य स्थापित होने में योगदान मिला। इसी के फलस्वरूप उस युग में राष्ट्रीय भाव की प्रतिष्ठा करने में ऐतिहासिक अनुकूलता प्राप्त हुई थी। प्रतिभाशाली एवं दूर-द्रष्टा बादशाह अकबर ने 'सुल्तान काल' की धर्मांधतापूर्ण नीतियों का परित्याग करके भारतीय सिंहासन को मुस्लिम शासक ख़लीफा के हस्तक्षेप से मुक्त करके भारतीय इतिहास में एक नये युग का आरम्भ किया।[1]

ख़लीफ़ा एक देश विशेष का प्रशासक होते हुए भी धार्मिक विषयों में रोम के पोप की भाँति मुस्लिम धर्मानुयायी देशों के राजनैतिक मामलों में हस्तक्षेप किया करता था। हेनरी अष्टम एवं साम्राज्ञी एलिज़ाबेथ के समकालीन अकबर जैसे युग-द्रष्टा सम्राट ने भारत के आन्तरिक मामलों में खलीफा के अवांछित हस्तक्षेप को समाप्त करने की पहल की थी। इसी इतिहास-परिप्रेक्ष्य में अकबर और उसके युग का महत्वांकन उचित होगा। उसने मस्जिदों में नमाज के साथ पढ़े जानेवाले 'खुतवा'[2] से खलीफाओं को स्मरण करने की परम्परा को समाप्त करके '**साहबे**

(शेष पिछले पृष्ठ से)

ने जज़िया सहित इक्कीस करों से भारतवासियों को मुक्त कर दिया था। 'वंश भास्कर' में सूर्य मल्ल मिश्रण ने लिखा है—'ऐसे अकब्बर छोरे इकीस' इत्यादि। इन्हीं विशेषताओं का स्मरण करके भूषण जैसे कवि ने भी अकबर की सराहना की है। इसी परिप्रेक्ष्य में अकबर के समकालीन तानसेन, नरहरि महापात्र, गंग एवं होलराय आदि कवियों की अकबर विषयक प्रशस्तियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं। ये रचनाएँ अकबर के प्रति जन सहानुभूति, प्रतिबिंबित करती हैं।

१. अलाउद्दीन खिलजी ने भी खलीफ़ाओं की मान्यता की चिंता नहीं की थी, लेकिन उसके उत्तराधिकारी सुल्तान शासकों ने पूर्व प्रथा को पुनः अपना लिया। बाबर आदि मुगल बादशाहों, विशेष रूप में अकबर की सफलता इस बात में है कि उसके किसी भी उत्तराधिकारी ने खलीफाओं की मान्यता को पुनरुज्जीवित करने का साहस नहीं किया। औरंगजेब ने खलीफाओं की आज्ञा से लगाये जानेवाले धार्मिक करों को पुनः लागू तो किया, किन्तु खलीफाओं के राजनैतिक वर्चस्व की स्वीकृति से स्वयं को दूर रखा। फरुखसियर के समय में जज़िया लगाने की सलाह खलीफा ने दी थी, इस आशय के पत्र बीकानेर अभिलेखागार में सुरक्षित हैं।

२. 'दि डिक्शनरी आफ इस्लाम' पृ० २७४-७७ के अनुसार हर शुक्रवार एवं कुछ धार्मिक त्योहारों पर सामूहिक रूप से पढ़ी जानेवाली नमाज़ के पूर्व इमाम (धर्म गुरु) द्वारा दिया जानेवाला प्रवचन।

 CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जमानके 'रूप में अपने आपको' **'ज़िल्ले इलाही'** के अर्थ में प्रतिष्ठित कर लिया था। इस तरह मुगल बादशाह सीधे ईश्वर की छाया माना जाने लगा। अकबर ने अपने नाम का **'इलाही'** संवत चलाया तथा महीनों के नए नामकरण किये, जो अकबरी महीनों के नाम से विख्यात हैं। इतना ही नहीं उसने इस्लाम को भारतीय दृष्टि से संशोधित करके हिन्दू और मुस्लिम धर्मों के श्रेष्ठ सिद्धान्तों के सम्मिश्रण से 'दीन-इलाही'[१] नामक नया धर्म चलाने का प्रयत्न भी किया। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो अकबर के समस्त कार्य-कलाप इस्लाम धर्म की रूढ़ियों और पूर्वकालीन मुस्लिम सुल्तानों की परम्परा के प्रति उसका विद्रोह लक्षित करते हैं। अकबर द्वारा इस्लाम धर्म की परम्परा (मूल धर्म का नहीं) की अवज्ञा होते देखकर बदायूनी लिखता है कि "He had been forced to doubt the truth of Islam." (आईन-ए-अकबरी भाग १, पृ० १८७ में अनुवादक ब्लाचमैन द्वारा उद्धृत बदायूनी का कथन) इस टिप्पणी को परिप्रेक्ष्य में रखकर हम उस युग में प्रचलित इस मुहावरे की आत्मा तक पहुँच सकते हैं कि अकबर की उदार नीति के कारण कसाइयों के व्यवसाय पर तुषारपात हो गया था। मुहावरे के केन्द्रीय भाव को आधार बनाकर अकबर की प्रशंसा में लिखा गया परवर्ती कवि 'वृन्द' जी का एक कवित्त उद्धृत किया जा रहा है। यह पद पढ़ने के बाद हमें नरहरि कवि के प्रसिद्ध छप्पय पर संदेह करने की गुंजाइश नहीं रहती—

नरहरि कवि ते गऊ की विनती को सुनि,
हो गए अकब्बर सवीह जैसे नकसी।

---

१. दीन इलाही ई० सन् १५८१ हिज्री ९८९ में अकबर ने इस नए धर्म की स्थापना की थी। 'दि एनसाइक्लोपीडिया आफ इस्लाम' भाग २ पृ० २९६-९७ के अनुसार १६ वीं शती में भारत के इस्लाम धर्मानुयायियों में 'अल्फी' आन्दोलन चला था। इसी को विकसित करके अकबर ने दीन इलाही की स्थापना की थी। इस टिप्पणी के लेखक के अनुसार दीन इलाही के प्रमुख दस सिद्धान्तों में से ९ सिद्धान्त 'क़ुरआन शरीफ़' से ग्रहण किए गए थे, जब कि दसवाँ सिद्धान्त पारसी, हिन्दुओं तथा सूफ़ियों की विचारधारा से प्रभावित था।

"It was a kind of solar monotheism with an exaggerated preoccupation with light, sun and fire, showing primarily Zoraastrian and secondrily Hindu and Sufi influences. P. 296.

इस धर्म को अकबर के जीवन काल में केवल १९ व्यक्तियों ने ही स्वीकार किया था। इन उन्नीस व्यक्तियों में हिन्दू सिर्फ़ एक था और वह व्यक्ति भाषा काव्य का प्रसिद्ध कवि ब्रह्म अथवा वीर बल था। हमारे विचार में दीन इलाही पर हिन्दू धर्म सिद्धान्तों के प्रभाव को उचित महत्व नहीं दिया गया है। आत्मा की शाश्वतता और पुनर्जन्म पर विश्वास करने के साथ सूर्य के सहस्र नामों का जप तथा अहिंसा की मान्यता हिन्दू सम्पर्क का ही परिणाम हो सकता है। अकबर के धार्मिक सिद्धान्तों के आलोचक बदायूनी के विचारों का अवलम्ब लेकर हम वस्तुस्थिति के निकट पहुँच सकते हैं। आईन-ए-अकबरी (ब्लाक मैन) भाग १, पृ० १८७-८९।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दीन्हो है हुकुम कर वाय आम खास बीच,
बंद भयो गोबध खबरि फैरि बकसी।
फैलि गयौ सुजस दिलीप लौ जहाँन बीच,
हिंसक समाज (?) बैठि बोलैं अक बक सी।
आनंद कसाइन को गाइन को दीन्हौ अरु,
गाइन की मौत सो कसाइन को बकसी।

——मतिराम ग्रंथावली पृ० १३०

दिल्ली के वदनाम मुस्लिम सुल्तानों के वीभत्स और अमानुषिक धार्मिक अत्याचारों की स्मृतियों के साथ अकवर के नव संस्थापित साम्राज्य का नाम न जोड़ा जाय, शायद इसीलिये उसने दिल्ली के स्थान पर पहले सीकरी और बाद में अकबराबाद (आगरा) को अपनी राजधानी बनाया। अकवर की राजनैतिक दूर-दृष्टि और जन-मानस की परख करनेवाली प्रतिभा का अनुमान करने की दृष्टि से यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है।

अपने युग की काल सीमा में अकवर ने जिस नवीनता का शोध करके उसे अपनी प्रगतिशील शासन-प्रणाली में सन्निविष्ट किया था, वह सब भारतीय इतिहास-धारा में एक अभूतपूर्व घटना है। अकवर के सुधारवादी प्रयोगों ने सामन्त-वादी विचारधारा को परिष्कृत करके उसे साम्राज्यवादी विचार-धारा के स्तर पर स्थापित करने का काम किया है। इसी विचक्षण प्रतिभा और साहसशीलता के कारण उसे असाधारण रूप से सफलता मिली और दिल्ली के सिंहासन पर मुगल-साम्राज्य दीर्घकाल के लिये सुदृढ़ हो गया। यदि इन परिवर्तनों को भाषा-साहित्य ग्रहण नहीं कर सका है, तो किस अर्थ में उस काल की भाषा एक सजीव भाषा और उसमें लिखा गया साहित्य, चेतन जन-समाज का प्रतिनिधि माना जायेगा ? जो भाषा सीधे समाज से प्रस्फुटित होकर अपने साहित्य द्वारा सीधे समाज को संबोधित करती है, उसके कथ्य में सदैव एक ताज़गी विद्यमान रहती है। अतः इन्हीं ऐतिहासिक संदर्भों में रखकर उस काल में लिखे गये भाषा-साहित्य के इतिहास की वास्तविकता का साक्षात्कार किया जा सकता है।

☐ भाषा के अस्तित्व का स्वीकरण—राजतंत्र के साथ समझौता :

सोलहवीं शताब्दी के धार्मिक और सामाजिक चिंतन में असामान्य क्रान्ति के चिह्न स्पष्ट रूप में देखे जा सकते हैं। साहित्यिक दृष्टि से भाषायी परिवर्तन संस्कृत के अधिनायकवाद की व्याप्त एकदेशीयता को भेदकर उसे जनवादी स्वरूप देने के लिए प्रकट हुए थे। तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों में साहित्य-भाषा में यह परिवर्तन अनिवार्य था। इस काल में जो भी नया चिंतन उभरा,

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

उसने भाषा को ही अपना माध्यम बनाया है। चूँकि भाषा में नये युग की आवश्यकताओं को पूरी कर सकने की नई क्षमता का विकास हो रहा था, इसलिए सामान्य जन के लिए उसमें विद्यमान नई अपील ने उसकी लोक-प्रतिष्ठा में ऐसा योगदान किया कि संस्कृत भाषा का महत्व घट गया। यह काल एक ओर हिन्दू समाज के धार्मिक मत-मतान्तरों के मंथन और उनके बीच समन्वय स्थापित करने का है, तो दूसरी ओर इस्लाम के प्रभाव को स्वीकार करके उसके साथ ताल-मेल बैठाने का भी है। अतः भाषा का महत्व-विस्तार स्वाभाविक था। इसीलिए इसकी प्रतिस्पद्र्धा में भक्ति सम्प्रदाय के आचार्यों ने संस्कृत भाषा की शास्त्र-विहितता में ही उसकी युगानुरूपता एवं सजीवता सिद्ध करने के ज़ोरदार प्रयत्न किये। रूढ़ सिद्धान्तों को व्यावहारिक अर्थ देने के लिये भक्त चिंतक नए उत्साह के साथ आगे आए। भाषावालों की अब वे उपेक्षा नहीं कर सकते थे।[1] १६ वीं शताब्दी में वल्लभाचार्य जी इस धारा के सबसे बड़े अगुवा थे। वल्लभाचार्य के कुछ ही समय पीछे तुलसीदास ने इस द्वन्द्व को अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा में संगुफित करके इसे साहित्य की निधि बना दिया है। विरोध जब निरुद्देश्य होकर केवल विरोध के लिए ही किया जाने लगता है, तब उसमें स्वाभाविक रूप से हलकापन आ जाता है। इस प्रकार के विरोध को चुनौती देने तथा समन्वयात्मक मार्ग दिखाने में तुलसीदास को अभूतपूर्व सफलता मिली है। १६ वीं शताब्दी के इस युग में केवल हिन्दुओं में ही धार्मिक और सामाजिक विषयों पर चिंतन-मंथन नहीं हो रहा था, बल्कि उदारमना सूफ़ी संतों और उनके मुरीद राजनयिकों तथा अबुलफ़ज़ल और फ़ैज़ी जैसे विद्वान कवियों के नेतृत्व में मुस्लिम धर्मानुयायियों में भी सह अस्तित्वपूर्ण धार्मिक चिन्तन प्रस्फुटित हो रहा था। अपने युग के इस मानसिक मंथन की नव्ज़ पहचानने में अकबर ने गहरी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। इस्लामेतर धर्मानुयायियों को काफिर कह कर अपनी बहुसंख्यक हिन्दू प्रजा से शत्रुभाव रखने के स्थान पर अकबर **'सुलह कुल'** अर्थात **'सर्वेभ्यः शान्तिः'** सिद्धान्त का अनुयायी हो गया। जहाँ कबीर के युग में भावावेग की स्फुट उक्तियों का ही प्रस्फुटन हुआ था, वहाँ इस युग में सैद्धान्तिक एवं व्यवस्थित रूप से शास्त्र-चिंतन एवं नवीन शास्त्रों का प्रणयन भी किया गया। धार्मिक चिंतन का नवोन्मेष इस युग की निजी विशेषता है।[2] भाषा में निबद्ध इस युग के सीधे सादे धर्म-

---

१. जब कभी नये विचार और नई चेतना का उदय होता है, तब प्रारम्भ में उसकी उपेक्षा होती है। कालान्तर में उस विचार की व्याप्ति और स्वीकृति होने लगती है, तब नए विचारों का खंडन-मंडन एवं सामानान्तर सिद्धान्तों का निर्माण करके या तो उसके वेग को रोकने का प्रयत्न किया जाता है अथवा परिस्थितियों को नया आधार देकर उन्हें स्वीकार कर लिया जाता है।

२: प्रसिद्ध इतिहासकार डा० कालिका रंजन कानूनगो के ग्रन्थ 'दाराशुकोह' (हिन्दी अनु०) में मुगलकालीन धर्म चिंतन को स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया है। देखिये पृ० १८८। सूफी

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिद्धान्तों ने आम जानता को विशेष रूप से आकर्षित किया है। नवीनता की माँग करनेवालों में इस युग में इतना अधिक उत्साह था कि अनेक धार्मिक संप्रदायों की स्थापना हो गई। प्रारम्भ में यह स्थिति शुभ और भेद मिटाने की दृष्टि से उत्साह जनक प्रतीत हुई, किन्तु उनसे भेद मिटा नहीं, उल्टे भेद-भाव बढ़ गया। छोटे-मोटे भेदभावों को त्यागकर एकत्र होने के स्थान पर लोग बिखरते चले गये। ऐसा क्यों हुआ तथा उनके पीछे कौन से कारण विद्यमान थे, इन प्रश्नों की मीमांसा स्वयं में अत्यंत गहन विषय है।

☐ शृंगार-काल आदि नामों की अनुपयुक्तता :

सामाजिक जागृति के इन लक्षणों की उपेक्षा करके मुगलकाल में लिखे गये साहित्य को न तो मध्यकाल नाम दिया जा सकता है, न शृंगार काल। इसके लिये अलंकार काल और कला-काल नाम भी अनुपयुक्त हैं। मनुष्य की शृंगार-भावना जीवन का प्रकृत लक्षण होने के साथ-साथ सर्वकालीन और सार्वदेशीय सत्य है। शृंगार[1] की इसी व्यापकता के कारण उसे ऐतिहासिक काल-विभाजन का आधार बनाने का औचित्य नहीं हो सकता। अन्य किसी युग से इस युग विशेष की प्रकृति और प्रवृत्ति का भेद स्थापित करने में इस नाम की सार्थकता नहीं प्रकट होती। संस्कृत साहित्य में प्राप्त होनेवाले शृंगारी काव्य से इस युग का काव्य किस रूप में अधिक ऐन्द्रिय सिद्ध किया जा सकता है? इस प्रश्न पर उलझने के स्थान पर प्रस्तुत ग्रंथ में हम अपने पक्ष को ही सामने रखने का यत्न कर रहे हैं, जिससे प्रबुद्ध पाठक स्वयं ही निर्णय लेने में समर्थ हो सकें।

भाषा काव्य को विलासिता के अर्थ में शृंगारी कहनेवाले आलोचकों को 'अमरु शतक' 'चौर पंचाशिका' तथा खुजुराहो और कोर्णार्क जैसे मंदिरों की मूर्तियों का अनुशीलन अवश्य कर लेना चाहिए। इनके निर्माण-युग की अपेक्षा रीतिकाल के साहित्य को हम किस रूप में अधिक शृंगारिक ठहरा सकते हैं? मुगल काल में ही जो साहित्य भक्ति के नाम पर मंदिरों में बैठकर गुह्य साधनाओं के रूप में लिखा गया

(शेष पिछले पृष्ठ से)

संतों के 'चिश्तिया' और 'कादिरिया' सम्प्रदाय इसी काल में जन्मे थे। नानक, दादू, विष्णोई और कबीर पंथियों ने भी इसी युग के आस-पास सरल और व्यावहारिक सिद्धान्तों को जनता के सामने रखने का प्रयत्न किया था।

१. १६ दिसम्बर १९७६ को दिल्ली विश्व विद्यालय में दिए गए भाषण, 'शृंगार काल' नाम के प्रस्तावक आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने उक्त नाम के पक्ष में यह बताया कि शृंगार शब्द में रस-बोध के साथ 'सजावट' का भाव भी अन्तर्निहित है। सजावट की ओर इस युग की विशेष रुझान रही है। इसके अतिरिक्त 'शृंगार' रसराज ही नहीं रस-पिता एवं सृष्टि का मूल एवं उसका आधार भी है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

था, वह साहित्य ज्यादा ऐन्द्रिय है या रीत काल का नायिका भेद ? समाज और समाज के बन्धनों को विसर्जित कर देने के उपरान्त ही भक्तगण मंदिरों में प्रवेश करते हैं। सभी भक्त हंसात्मा नहीं हो पाते, अतः अधिकांश साधक फ्रायड की शब्दा-वली में 'इड' के स्तर पर ही भाँति-भाँति की निद्वंद्व गुह्य साधनाओं में प्रवृत्त होने की लालसा से मढ़े रहते हैं। साधुओं के अखाड़ों के क्षेत्र के पुलिस अधिकारियों और मजिस्ट्रेटों का मत है कि साधुओं के बीच होने वाले ९० प्रतिशत झगड़े जायजाद और औरतों के (रखैलों) के प्रश्न पर होते हैं। अतः वे सामान्य जन से राग-द्वेश आदि भावनाओं के आधार पर अलग नहीं रखे जा सकते। लोक के समस्त नियंत्रणों को विसर्जित करनेवाले भक्तों के विपरीत समाज में रहनेवाला कवि समाज तथा सामाजिक मान्यताओं की उपेक्षा नहीं कर सकता था। केशव जैसे आचार्य कवि ने स्पष्ट रूप से काव्य में नग्नता प्रवृत्ति की वर्जना की है।

जहाँ तक 'अलंकार-काल' और कलात्मकता की प्रवृत्तियों को आधार बनाकर इस काल का नामकरण करने की बात है, वह भी त्रुटिपूर्ण है। इन विशेषताओं से इस काल के साहित्य की वस्तु-व्यंजना नहीं हो पाती। साहित्य में जीवन और समाज की अन्तश्चेतना का ही प्रस्फुरण हुआ करता है। साहित्य के इतिहास का अध्ययन एवं विश्लेषण करते समय वस्तुतत्व की ही प्रधानता का औचित्य होता है।

☐ मुग़ल संपर्क और भाषा काव्य में नया निखार :

संयोग से हिन्दी साहित्य के इतिहास में अनेक असंगतियाँ और भ्रान्तियाँ विद्यमान हैं, जिनकी ओर जिज्ञासु पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना आवश्य हो गया है। सामान्य रूप से हम यह मानते हैं कि मुस्लिम संपर्क एवं प्रभाव के फलस्वरूप चित्र-कला, संगीत, नृत्य, वाद्य-यन्त्र, ज्योतिष,[1] वास्तुकला और धर्मचिंतन इत्यादि जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में नए आयामों की स्थापना की गई। एक तरफ यह सब घटित

---

१. फलित ज्योतिष के क्षेत्र में वर्ष फल की दृष्टि से यवन ज्योतिष शास्त्र का 'ताजिक' सिद्धान्त अधिक विकसित माना जाता है। इसीतरह रमल शास्त्र भी मुस्लिम संपर्क की देन है। सवाई जयसिंह ने भारतीय गणना-पद्धति को गणित की दृष्टि से शुद्ध एवं फलादेश की दृष्टि से अधिक विश्वश्वनीय बनाने के लिए ही काशी, उज्जैन, दिल्ली और जयपुर आदि नगरों में ज्योतिष-वैधशालाओं का निर्माण कराया था। इन यंत्रों की रचना हो जाने पर 'यंत्र राज रचना' नामक ज्योतिष ग्रंथ लिखाकर जयसिंह ने तत्कालीन मुगल बादशाह मुहम्मदशाह के नाम से 'जीच मुहम्मद शाही नामक' फारसी ग्रंथ की रचना करायी थी। जगन्नाथ ज्योतिषी को फारसी आदि भाषाओं का ज्ञान कराने के उपरान्त उसी के निर्देशन में सवाई जयसिंह ने ज्योतिष के क्षेत्र में ग्रह गति के गणित को शुद्ध करने के लिए नए संशोधन प्रस्तुत किए थे।
—यंत्रराज रचना की भूमिका पृ० ८, प्रकाशक—राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जयपुर।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो गया, किन्तु हिन्दी साहित्य के अधिकांश समीक्षकों ने इस प्रश्न की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया कि फ़ारसी भाषा की वर्चस्विता स्वीकार करनेवाले मुग़ल बादशाहों तथा उनके हाकिमों के दरबारों में उपस्थित रह कर भी रीतिकाल का कवि और उसकी कविता क्या सचमुच से कमल-पत्र बनी रह सकती थी? हिन्दी साहित्य (भाषा-साहित्य) के इतिहास-लेखकों ने इस काल में लिखी गई कविता पर फारसी प्रभाव का अंकन करने में विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई, जबकि भाषा और विचारों का आदान-प्रदान, भारतीय इतिहास का अत्यंत प्राचीन पृष्ठ है। संप्रति इतना ही प्रासंगिक है कि अमीर खुसरो तथा कबीरदास आदि के समय में फारसी भाषा-साहित्य का प्रभाव विशेष रूप से व्यक्त हो रहा था।[१] अलाउद्दीन खिलजी, सिकन्दर लोदी और शेरशाह जैसे बादशाहों ने अपने दरबारों में संस्कृत एवं भाषा कवियों को मान्यता प्रदान करके इस प्रवृत्ति पर शासकीय प्रामाणिकता की मुहर लगाई थी। भाषाओं और साहित्य के मध्य घटित इस आदान प्रदान का मूल्यांकन न करके भाषा-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने इतिहास की प्रकृति की उपेक्षा करते हुए केवल यही माना है कि मुगल-काल ने साहित्य की विषय-चेतना को शृंगारिकता और विलासिता का पाठ पढ़ाने का ही काम किया है। जिस अकबर बादशाह ने पिंगल और डिंगल भाषाओं को अपनी मातृभाषा और राजभाषा फारसी के समकक्ष समादृत किया एवं इन भाषाओं में विद्यमान लोक-साहित्य के संग्रह-संरक्षण को प्रोत्साहन प्रदान करने के साथ विद्वानों के बीच उनके गुणों को स्वीकृति का मार्ग प्रशस्त किया, उसी अकबर तथा उसके प्रिय अधिकारी खाने खानानअब्दुल रहीम आदि के ऋणों को उचित मान्यता न देने से इतिहास के साथ अन्याय हुआ है। अकबर द्वारा **वेलिक्रिसन रुकमणीरी** की तुलना में **'ढोला मारु रादूहा''** की साहित्यिक श्रेष्ठता स्वीकारने के कारण रीतिकालीन भाषा-साहित्य को लोक-चेतना से संपृक्त रखने में विशेषरूप से प्रेरणा मिली है। मुगल हरमों में अनेक रूपों में भारतीय स्त्रियों के प्रवेश के साथ-साथ उनकी भाषा-संस्कृति का प्रवेश होना भी स्वाभाविक था। सामान्यतः स्त्रियाँ अपनी भाषा संस्कृति एवं लोक-धर्मिता के ग्रहण एवं पोषण

---

१. ईरान के साथ भारत के सांस्कृतिक और साहित्यिक सम्बन्ध पुरातन और प्रागैतिहासिक काल से चले आ रहे हैं। ऐतिहासिक परिस्थितियों और लोक जीवन के मानसिक गठन की दृष्टि से ईरान और भारत के निवासियों तथा दोनों देशों के भाषायी संस्कारों में गहरी निकटता है। अँग्रेजी आदि यूरोपीय भाषाओं में वह संवेद्यता नहीं हो सकती, जो फारसी भाषा में सहज रूप से सुलभ है। तमाम दूरियों के बावजूद जिस रूप में आज की भाषाओं को राजभाषा होने के कारण अँग्रेज़ी ने प्रभावित किया है, उसी तरह इससे कई गुनी शक्ति के साथ उस युग में फारसी ने 'भाषा-काव्य' को प्रभावित किया है। आदान-प्रदान और सह अस्तित्व की भावना के विकास के साथ-साथ दोनों के बीच हुई आपसी टक्करों का लेखा जोखा करने के लिए इस युग के भाषा साहित्य की ही शरण में जाना पड़ेगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में पुरुषों की अपेक्षा अधिक अविकृत हुआ करती हैं। इस तरह शाही महलों के परिसर में भी भाषा काव्य की निज परंपरा को निरंतर मान्यता प्राप्त होती रही है।

□ मुग़ल साम्राज्य के समानान्तर भाषा एवं भाषा-साहित्य का प्रभाव विस्तार :

१६ वीं शताब्दी में अकबर के साम्राज्य की स्थापना के फलस्वरूप अनेक नये पुराने सामन्तीय ठिकाने तत्कालीन राजनैतिक मान-चित्र में शनैः शनैः मिटते अथवा निष्प्रभ होते रहे हैं। मुग़ल साम्रज्य इन सबको अपनी छाया से आच्छादित करता रहा है। मुगलों के राजनैतिक वर्चस्व के साथ-साथ उत्तर भारत की भाषाओं पर मुगल साम्राज्य के केन्द्रीय क्षेत्र की जनभाषा (ब्रज भाषा) का साम्राज्य भी समानान्तर रूप से फैलता रहा है। 'आगरा', 'सीकरी' और 'मथुरा' के आस-पास बोली जानेवाली ब्रजभाषा को साहित्य-भाषा के रूप में इस युग में .विशेष रूप से मान्यता मिली है। जयपुर के कछवाहा घरानों में एक कहावत प्रचलित है कि मुग़ल साम्राज्य के प्रत्येक गाँव में कछवाहों के घोड़ों की टापों के निशान अंकित हुए थे। स्पष्ट है कि उनके ब्रज मंडलीय सैनिक अपने साथ अपनी भाषा को भी देश में चारों तरफ फैलाने का काम करते रहे हैं।

मुगलकालीन अथवा रीतिकालीन कविता की समस्त रचनाएँ मुख्यरूप से ब्रज प्रदेश की भाषा में ही लिखी गई हैं। उत्तराखंड के गढ़वाल और कुमायूँ राज्यों से लेकर पंजाव एवं पूना, सतारा तक फैले विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेश, भाषा कवियों को अपने यहाँ आश्रय प्रदान करते थे।[१] संतकाव्य में जो एक-रूपता और एक-सूत्रता मिलती है, उसे सुदृढ़ करनेवाले कारण धार्मिक और सामाजिक थे, जबकि रीतिकालीन काव्य की मान्यता वृद्धि में मुग़ल राजतंत्र के साथ समझौता और सहयोग करने से विशेष रूप से लाभ हुआ। महात्मा कबीर दास, मैथिल कोकिल विद्यापति

---

१. 'भोंसले दरबार के हिन्दी कवि' 'गुजरात की हिन्दी काव्य परम्परा ओर गोविन्द गिल्ला भाई' 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य' तथा 'बिहार के हिन्दी कवि' आदि विषयों पर शोध करनेवाले विद्वानों के शोध-प्रबन्धों ने इस तथ्य को निर्विवाद बना दिया है। इसी तरह दक्षिण में बहमनी राज्यों में भी ब्रजभाषा को मान्यता प्राप्त थी। बहमनी दरबारों में दिल्ली और आगरा से हिन्दुई भाषा के कवियों को अकबर के युग में ही निमंत्रित किए जाने के प्रमाण मिलते हैं। महाराष्ट्र सरकार की आर्काइव्स द्वारा प्रकाशित 'इब्राहीमनामा' नामक गन्थ के संपादक डा० गोपालसिंह चह्वाण ने अपनी विद्वतापूर्ण भूमिका में इस पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इतिहास में प्राप्त इन प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि उत्तर भारत के शासन केन्द्र दिल्ली और आगरा की भाषाओं का वर्चस्व स्वाभाविक रूप से स्थापित हो गया था। इतिहास के इस संपूर्ण परिप्रेक्ष्य को महाकवि भूषण ने एक ही छंद में उपस्थित कर दिया है—

"मोरंग जाहुँ कि जाहुँ कुमायुँ कि श्रीनगरैं हू कवित्त बनाए" इत्यादि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और जायसी आदि पूर्वी प्रदेशों में आविर्भूत होनेवाले कवियों की काव्य-भाषाओं का रीतिकाल में पर्दे के पीछे चला जाना, क्या कम आश्चर्य की बात है ? हिन्दी के पूर्वी प्रदेशों की इन भाषाओं की रचना-क्षमता मुगलों की शक्ति-सापेक्ष्य में उदित हुई भाषा के प्रभुत्व के समक्ष बुझ-सी गई थी। पूर्वी क्षेत्र में बनारस और पश्चिम में कच्छ भुज प्रदेशों में भाषा या ब्रजभाषा काव्य के विद्यापीठों[1] (कवितापीठों ?) की स्थापनाओं के पीछे कौन सी प्रेरणा काम कर रही थी ? इतना ही नहीं महात्मा तुलसी दास जैसे महाकवि को भी मानस की समर्थ और परिपक्व अवधी भाषा को छोड़कर अपने अन्तिम समय की रचनाओं में ब्रजभाषा और उसी भाषा में ढले हुए कवित्त और सवैया छन्दों में रामकथा का गायन करना पड़ा। यह सब अकस्मात नहीं हुआ। ब्रजभाषा की महत्ता, मान्यता और उसके प्रभाव की व्याप्ति के पीछे राजकीय दरबारों में प्रवेशजन्य प्रतिष्ठा द्वारा अर्जित शक्ति का ही प्रतिफलन हुआ है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि ब्रजभाषा देश की संपर्क भाषा एवं देश के मन की भाषा भी थी। इसे व्यापक बनाने में केवल मंदिरों, मठों तथा कृष्णोपासना के प्रति लोक भावना का हाथ होने के साथ उसके मूल को सींचने में शासन-तन्त्र एवं व्यापार आदि की भूमिका भी विद्यमान थी। राज-सम्पर्क के फलस्वरूप उत्तर भारत के जन समुदाय की साहित्य-चेतना को साहित्य-भाषा की गरिमा से मंडित करने के पश्चात् कालान्तर में यही भाषा संपूर्ण देश को राजनैतिक इकाई के रूप में संगठित करते हुए मुगल सत्ता के विकल्प रूप में एक राजनैतिक योजना को क्रियान्वित करने का माध्यम बन गई। भाषा साहित्य में बिखरे हुए तथ्यों के अनुसार भारत में राष्ट्रीयता का उदय इसी भाषा की देन है। इसकी चर्चा यथावसर अगले पृष्ठों में विस्तार से की जायेगी।

---

१. ब्रजभाषा के कवि कविता करने के पूर्व सम्यक रूप से शास्त्रों का अध्ययन करने के लिये प्रायः बनारस की पाठशाला में प्रवेश लेते थे। अनेक हिन्दू राजा यहाँ की पाठशालाओं को नियमित रूप से आर्थिक अनुदान दिया करते थे। बर्नियर के वर्णनों में अनुदानों का उल्लेख मिल जाता है। यदि बनारस में संस्कृत के उपरांत ब्रज-भाषा में ही कविता करने का चलन न रहा होता, तो कवीन्द्राचार्य सरस्वती के साथ दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ के समक्ष 'कवीन्द्र चन्द्रोदय' में संकलित संस्कृत कविता के बाद 'कवीन्द्र कल्पलता' नामक ग्रंथ में ब्रजभाषा के स्थान पर अवधी भाषा की ही रचनायें बादशाह के समक्ष समर्पित की गई होतीं। इसी तरह सौराष्ट्र में डिंगल भाषा में रचना करनेवाले चारणों को भाषा-काव्य की शिक्षा प्रदान करने के लिये विद्यालय चलते थे। डा० मालारविंद गोविन्दम् चतुर्वेदी के प्रकाशित शोध प्रबन्ध "गुजरात की हिन्दी काव्य परम्परा तथा गोविन्द गिल्लाभाई' में इस पाठशाला का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। महाराजा सयाजीराव विश्व-विद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष रूप में डा० कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह ने ब्रजभाषा साहित्य के राष्ट्रीय स्वरूप को लक्षित करने की दिशा में महत्वपूर्ण मार्ग-दर्शन किया है। इसीप्रकार पूना में दक्षिण भारत के अनेक विश्व विद्यालयों के हिन्दी विभागों ने भाषा काव्य के महत्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश डालने में योगदान किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

☐ चित्र कला एवं वास्तु कला की तरह भाषा-साहित्य के लिए मुग़लकाल नाम की असंगति :

इस संक्षिप्त चर्चा के उपरान्त यह स्पष्ट करना आवश्यक हो गया है कि भाषा-काव्य के विकास में मुगलों के महत्वपूर्ण योगदान के वावजूद अँग्रेजी साहित्य के इतिहासों की परम्परा का अनुकरण करते हुए इस युग का साहित्यिक नामकरण 'मुगलकालीन साहित्य' का औचित्य नहीं है। इस नए नाम की स्वीकृति के कारण 'भाषा-साहित्य' के इतिहास में अनेक अन्तर्विरोध उपस्थित हो जायेंगे। तीन शताब्दियों का दीर्घ जीवन प्राप्त करने वाला मुगल शासनकाल सदैव अकबर द्वारा स्थापित सहिष्णु, एवं उदार नीतियों से ही नहीं संचालित हुआ था। ढाई तीन सौ वर्षों की इस दीर्घ अवधि में नीतियों में उतार-चढ़ाव तथा मूलभूत परिवर्तन ही नहीं उपस्थित हुये, वल्कि मुगल साम्राज्य विपरीत ध्रुवों पर स्थित नीतियों के आवर्तों में डूबता उतराता रहा है। उत्तराधिकार के प्रश्नों को लेकर रक्त-रंजित भयंकर युद्ध केवल नीतियों के आधार पर लड़े गये थे।[1] दारा शुकोह एवं औरंगजेब के बीच होनेवाले संघर्षों की यही अन्तर्कथा है, जिस पर कुछ इतिहासकार मुलम्मा चढ़ाने में दत्त चित्त हैं।

भाषा कवियों और मुग़ल बादशाहों तथा उनकी नीतियों के बीच जब-जब संपर्क-सामीप्य स्थापित हुआ है, तब-तब भावातिरेक के कारण गदगद् कंठ से भाषा कवियों ने मुगल बादशाहों को 'विष्णु' और 'कृष्ण' के रूप में 'जगद्गुरु'[2] की उपाधि

---

१. शाहजहाँ के जीवन काल में ही उसके पुत्रों में उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर जो युद्ध लड़े गये हैं, उनमें नीतियों की ही आड़ ली गई थी। औरंगजेब और उसकी नीतियों के प्रशंसक इतिहासकार दारा शुकोह को बार-बार काफिर अर्थात् 'क़ुरआन शरीफ़' पर अविश्वास करनेवाला घोषित करते रहे हैं। इससे भी भयंकर रक्त-रंजित उत्तराधिकार-युद्ध बहादुरशाह शाहआलम की मृत्यु के उपरांत लाहौर में लड़ा गया था।

२. कवीन्द्राचार्य सरस्वती ने शाहजहाँ की प्रशंसा में अनेक संस्कृत एवं भाषा-कवियों की रचनाओं को संकलित करके शाहजहाँ और दाराशुकोह को प्रसन्न किया था। काशी और प्रयाग में स्नान करनेवाले तीर्थ-यात्रियों को कर-मुक्त कराने में यह प्रशंसा सहायक सिद्ध हुई है। इन रचनाओं में शाहजहाँ को रास रचानेवाले कृष्ण के रूप में ही चित्रित किया गया है।

चोवा चंदन चन्द्र मृगमद के, उत सुवास तरंग अभंग।
मोहन (शाहजहाँ) की छवि निरखि तियन के, अंग-अंग बढ़त अनंग॥
सुख संवाद संपूरन तन-मन, साहिजहाँ सुन्दर के संग।
यह राज समाज रहो थिरु तौलों, जौलों जमुना गंग॥ —पृ० ३४

इसी ग्रन्थ में संकलित दाराशुकोह के लिए भाषा कवियों की उक्ति भी उद्धृत की जा रही है—

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से विभूषित किया है। इस भाव के विपरीत जब सल्तनत के साथ बात बिगड़ गई, तब उसी सिंहासन पर आसीन दूसरे बादशाहों को रावण और कुम्भकर्ण जैसे विशेषणों में मढ़ दिया[1] गया है। मुगल साम्राज्य और उसकी प्रशासनिक विशेषताओं के प्रति लोकमत जाग्रत करके यदि अकबर के समय में इन कवियों ने मुग़ल साम्राज्य की स्थापना और श्रीवृद्धि में अपना योगदान किया[2] है, तो औरंगजेब के समय में उसी मुगल साम्राज्य के प्रति जनाक्रोश उभार कर उसे ध्वस्त करने के काम में भाषा कवि जन-क्रांतिके पुरोधा बने हैं।[3] मुगल साम्राज्य कभी इन कवियों का शत्रु रहा है, तो कभी मित्र और इन्हीं सम्बन्धों का निश्छल प्रतिबिंब रीति काल के ऐतिहासिक

(शेष पिछले पृष्ठ से)

भुम्मि भरतार यह (दारा शिकोह) विष्णु अवतार है,
आपु करतार मत सत्य मानैं ।।
ज्ञान धारा धरे, साहि दारा नृपति,
नित्त नारायणहिं चित्त आनैं ।। —पृ० ५३

१. कुंभकर्ण औरंग को औनि अवतार लैकैं, मथुरा जराइ के दुहाई फेरी रब की।
खोदि डारे देवी-देव-देवल अनेक सोई, पेखि निज पानिप तें छूटी माल सबकी ।।
भूषन भनत भाजे कासीपति विस्वनाथ, और का गिनाऊँ नाम गिनती में अब की।
दिल में डरन लागे चारो बर्न ताही समै, सिवाजी न होते तो सुनति होति सबकी ।।
—भूषण छन्द सं० ४४८

२. दिल्ली तें न तखत ह्वै है, बख्त ना मुगल कैसो,
ह्वै है ना नगर बढ़ि आगरा नगर तें।
गंग तें न गुनी, तानसेन तें न तानबाज,
मान तें न राजा औ न दाता बीर बर तें।
खानखाना तें न, नर नरहरि तें न,
ह्वै है न दिवान कोऊ बेडर टोडर तें।
नवौ खंड सातद्वीप, सातहू समुद्र पार,
ह्वै है ना जलालुद्दीन साह अकबर तें। —होलराय

कवीन्द्र कल्पलता में शाहजहाँ और उसके द्वारा बसाए गए शाहजहानाबाद (दिल्ली) की प्रशंसा में कुछ दोहे मिलते हैं। एक दोहा उद्धृत किया जा रहा है—

सात दीप नव खंड में, भुवन चतुर्दश माँहि,
शाहिजहाना बाद सो, नगरु दूसरो नाँहि।

३. भूषण आदि कवियों की वाणी ने मुगल सत्ता के विरुद्ध भारतीय जनमत तैयार करने में बहुत बड़ा योगदान किया है। शिवाजी के पुत्र शंभूजी की निर्ममता पूर्वक हत्या करने के समय उनके कवि 'कलश' (इलाहाबाद के निवासी) की जबान काटकर यंत्रणा पूर्वक वध कराया गया था। बास्तव में मुगल साम्राज्य को अपनी शस्त्राग्नि से दग्ध करनेवाले जन-नायक महाराज छत्रसाल, दशम गुरु गोबिन्द सिंह जी तथा भगवंतराय खीची के कवि रूपों की प्रसिद्धि भी कम नहीं है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वीर काव्यों में प्रस्फुटित हुआ है, अतः साहित्य के इतिहास में इस काल के लिये 'मुगल काल' नाम का औचित्य नहीं सिद्ध होता है।

रीतिकाल नाम और उसकी सार्थकता

□ साहित्य और काव्यशास्त्र के इतिहासों में—एक स्पष्ट विभाजक रेखा :

आचार्य शुक्ल जी ने स्पष्ट रूप से कहा था कि रीतिकाल शब्द में प्रयुक्त 'रीति' शब्द का संस्कृत काव्यशास्त्र के 'रीति संप्रदाय' के साथ कोई लगाव नहीं है। इस स्पष्टीकरण के बावजूद स्वयं शुक्ल जी द्वारा रीतिकाल के कवियों के मूल्यांकन के लिए उनके आचार्य पक्ष पर अतिशय आग्रह दिए जाने के फलस्वरूप आलोचक एवं पाठकों के अवचेतन में यही धारणा घर कर गई है कि इस युग के कवि, संस्कृत काव्य-शास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों की तरह साहित्य शास्त्र का ही प्रणयन कर रहे थे। इसके फलस्वरूप रीतिकालीन कवियों के मन में विद्यमान रीति शब्द की धारणा का वास्तविक रूप ही तिरोहित हो गया है। इस युग की अधिकांश आलोचना को देखकर यह समझ पाना बहुत ही कठिन हो गया है कि साहित्य के इतिहास-लेखकों का वास्तविक मन्तव्य साहित्य का इतिहास लिखना है, या हिन्दी काव्य शास्त्र का। इतना तो स्पष्ट ही है कि शास्त्रीयता के अत्याग्रहवश इस काल में लिखे गए साहित्य के मूल्यांकन में काव्य की संवेदना का अनुसरण करने के स्थान पर पुस्तकीय ज्ञान का कथन आवश्यकता से अधिक किया जाता है। रीतिकालीन कवियों को 'रीति' शब्द का जो अर्थ अभिप्रेत था, उस पर प्रकाश डालने से उस युग के काव्य की आलोचना-दृष्टि काव्य शास्त्रीय गतानुगति की जकड़न से मुक्त हो सकेगी। कविता के विशुद्ध तत्वों विशेषकर 'अर्थ' को ही आलोचना का आधार बनाने से इस युग के काव्य का वैशिष्ट्य लक्षित किया जा सकता है।

किसी भी जीवंत साहित्य का ऐतिहासिक मूल्यांकन उसमें प्राप्त मौलिक रचनाओं के आधार पर ही किया जाता है। इस सर्वमान्य सरणि के विपरीत रीतिकाल के आलोचकों ने अपने काव्य-शास्त्रीय व्यामोह के कारण रीति युग के कवियों के काव्य को उल्टी गंगा में नहलाया है। अन्याय की पराकाष्ठा तो इस बात में है कि रीतिकाल के कवियों ने कविता की काव्य शास्त्रीय प्रामाणिकता के लिये जो उद्धरण संस्कृत काव्य-शास्त्र के लक्षण ग्रंथों से अनूदित करके लोगों के समक्ष उपस्थित किए हैं, उन्हीं अंशों के आधार पर इनके कवि-कर्म एवं आचार्यत्व के मूल्यांकन का मापदण्ड बना लिया गया है। 'आचार्य' संबोधन के साथ विशेष मोह होने के कारण आलोचकों ने कवियों के सर्जकत्व को उचित महत्व न देकर सर्व प्रथम आचार्य पक्ष की ही परीक्षा लेने की परिपाटी डाल दी है। यानी हुआ यह है कि इन कवियों का जो पक्ष गौण था, उसे प्रमुख घोषित कर दिया गया और जो

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रमुख था उसे गौण बना दिया गया।[1] आलोचना की इस अंधेर ने संस्कृत से अलग होकर अपने अस्तित्व और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिये किये गये भाषा कवियों के समस्त प्रयासों को, भाषा की स्वतंत्र परंपरा के विपरीत उसे संस्कृत काव्य शास्त्र का अनुचर बना दिया है। यह बात भुला दी गई है कि किसी वृक्ष की जड़ें, उसकी शाखाओं-पत्तियों और फल-फूलों का स्थानापन्न नहीं हो सकती हैं।

रीतिकाल के कवियों की मौलिक रचनाओं में निहित काव्य-क्षमता की तुलना में उनका काव्य-शास्त्रीय पक्ष गौण ही परिलक्षित होता है। वस्तुत: काव्य-शास्त्रीय विवेचन के साथ इन कावियों का गम्भीर मानसिक लगाव नहीं प्रमाणित किया जा सकता। मौलिक रचनाकार के स्वभाव का अनुसरण करते हुए शास्त्रीय उलझनों से बचाने के लिये ही ये कवि प्राय: आरंभ में यह बता दिया करते थे कि अमुक ग्रंथ के अमुक प्रमाण से मेरी रचना के अमुक अमुक गुणों की पुष्टि होती है। जिस तरह किसी सुन्दर-स्वस्थ बालक के माथे में काला टीका लगाकर देखनेवाले की कुदृष्टि का निवारण करने का प्रयत्न किया जाता है, उसी तरह शिष्ट भाषाओं के पंडितों की आलोचना से वचने के लिए भाषा-कवियों के लिए इस प्रथा का अपनाना आवश्यक हो गया था। यही नहीं कुछ समर्थ कवियों ने आगे आकर यह भी कहना चाहा कि भाषा के लिये संस्कृत से कुछ भिन्न उनका का अपना काव्य-शास्त्र भी होना चाहिये। यह कार्य भी प्रकारान्तर से संस्कृत काव्य-शास्त्र से भाषा काव्य को मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से ही प्रेरित प्रतीत होता है। उक्ति चमत्कार का प्रशंसक रसान्वेषी दरबारी समाज, काव्य-शास्त्रीय विवादों में न उलझ कर अनुभूति के आधार पर ही काव्य का आस्वादन करता रहा होगा। उनका प्रयोजन आम खाने से था, पेड़ गिनने से नहीं। इसलिये रीतिकालीन कवियों के काव्य में काव्य-शास्त्रीय विवेचन का पक्ष गौण रूप में है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों का मुख्य उद्देश्य तो सरस मौलिक काव्य की सृष्टि करना ही प्रतीत होता है। अत: कवियों के मौलिक कृतित्व के आधार पर की गई आलोचना ही सही दिशा की ओर अग्रसर हो सकती है। रीतिकाल के प्रसिद्ध कवियों की दृष्टि में काव्य शास्त्रीय विवेचन का क्या महत्व था तथा इन लोगों ने किस कारण और किस उद्देश्य से इसकी रचना की थी? लक्षणों के उल्लेख सहित ही वे क्यों कविता रचते थे, ये प्रश्न स्वाभाविक हैं।

☐ परंपरा के ग्रहण और नवीन प्रभावों के स्वीकरण में तालमेल :

उक्त प्रश्नों का सही उत्तर पाने के लिये कवियों के युग-परिवेश पर दृष्टि-पात करना उचित होगा। रचनाकारों को इस दिशा में अनुप्रेरित करने में यह तथ्य

---

१. हिन्दी साहित्य का अतीत, भा० २, पृ० ८ पर आचार्य मिश्र ने इस त्रुटि को लक्षित किया है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि "इस युग के निर्माता शास्त्र के आचार्य नहीं थे, कवि ही थे।"

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

महत्वपूर्ण प्रतीत होता है कि मुग़ल दरबारों की साहित्यिक संगोष्ठियों में राजभाषा फ़ारसी कवियों को प्रतिष्ठित आसन मिला करता था। इसी भाषा में करीब-करीब प्रत्येक मुगल बादशाह स्वयं भी थोड़ी बहुत काव्य रचना किया करता था।[१] फ़ारसी भाषा के बहुत से कवि आश्रय की खोज में विदेशों से आते रहते थे।[२] ठेठ ईरान से आनेवाले फ़ारसी भाषा के कवि भारत में जन्में फारसी कवियों को हेय दृष्टि से देखने के अभ्यस्त थे।[३] ये फारसी कवि 'इलमुलबदायी' (कलापक्ष) पर बहुत ज़ोर दिया करते थे। उस्ताद और आदर्श काव्य-ग्रंथ की मान्यता और महत्ता की परिपाटी दीर्घ काल से फारसी कवियों के मध्य प्रचलित थी।[४] विजेता एवं शासकों की भाषा होने के साथ साथ फ़ारसी कवियों को अपने साहित्यिक रिक्थ पर गर्व होना भी स्वाभाविक था। इनकी बगल में थोड़ा हटकर संस्कृत भाषा के कवि और पंडित बैठते थे। साहित्य और शास्त्र-चिंतन की जो प्रौढ़ता संस्कृत भाषा में मिलती है, उसकी मिसाल किसी अन्य भाषा में मिलना कठिन ही नहीं शायद असंभव है। इन दोनों प्राचीन भाषाओं की बराबरी में जब अकबर के दरबार में भाषा-कवियों को स्थान दिया गया होगा, तो दोनों भाषाओं के कवि-पंडितों ने इसी पंक्ति के कवियों के प्रति सबसे अधिक ईर्ष्या-द्वेष और हेठे भाव से देखा होगा। शिष्ट और समृद्ध भाषाओं की तुलना में भाषा-कवियों के पास सर्वमान्य एवं प्रामाणिक ग्रन्थों की सुस्पष्ट काव्य-परम्परा नहीं थी। इस वस्तुस्थिति में समृद्ध परम्परावाली भाषाओं के विद्वानों के समक्ष, भाषा कवि स्वरचित रचनाओं के

---

१. डा० हादी हसन द्वारा संपादित A Golden Treasury of Persian Poetry. Publication Division Govt. of India.

2. A History of Persian Languages and Literature at the Mughal Court. Vol. III, P. 36-39, में कवियों के नामों के साथ आधार ग्रंथों की सूची भी दी गई है।

३. अमीर खुशरों के समकालीन शेख शदी ने भी भारतीय कवियों तथा काव्य प्रेमियों का मजाक उड़ाया है (देखिये 'Court Poets of Iran and India. By R. P. Masani P. 82. "There (In Indian Courts) is no need how ever for intellect wisdom, sense or sagacity" etc. शेख़ शादी।

अकबर के समय में मौलाना कासिक 'काही' ने भी एक कविता में काबुल के प्रति अपना अगाध प्रेम प्रकट करने के साथ भारतीय दरबारों की फ़ारसी कविता का मज़ाक उड़ाते हुए कहा था कि मैं 'कौवां' और 'पंतग' नहीं, जो काबुल के चमन को छोड़कर हिन्दुस्तान जाऊँ। अकबर ने इस कवि की एक ही कविता पर पाँच हजार रुपयों का पुरस्कार दिया। परिणाम यह हुआ कि यह भारत से वापस नहीं गया। वही, पृ० १२९–१३०।

४. शीराज में जन्में शेखर शादी का ग्रंथ' 'गुलिस्तां और बोस्तां' फारसी भाषा के विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य था। गुलिस्तां गद्य के लिये और बोस्तां पद्य रचना के लिये आदर्श माना जाता था। इनके अध्ययन द्वारा जीवन के लोक पक्ष का मार्ग दर्शन भी मिला करता था। नीति और सूक्तियों से पूर्ण होने के कारण साहित्यिक दृष्टि से कभी इसकी अवहेलना नहीं हुई, किन्तु रीति काल में सूक्ति रूप में लिखे गए साहित्य की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काव्य-गुणों की पुष्टि के लिये काव्य-शास्त्रीय प्रमाण नहीं दे सकते थे। भाषा काव्य के मुख्य प्रवर्तक चारणों और भाटों की काव्य परम्परा वास्तव में मौखिक थी। इसके अतिरिक्त संतों और भक्तों से जो कुछ विरासत मिली थी, वह दरबारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उपयुक्त नहीं थी। संतों की वाणियाँ एक दूसरे ही प्रकार के माहौल में प्रस्फुटित हुई थीं। दरबारी संसार की दृष्टि से उस माहौल की रचनाएँ भला कैसे उपयुक्त हो सकती थीं?

'इल्मुलबदायी' पर फारसी और संस्कृत भाषा में प्रामाणिक सामग्री विद्यमान थी। यह सामग्री भाषा-कवियों के पास लिखित नहीं थी, अतः कविता की प्रमाणिकता की दृष्टि से इसकी पूर्ति भी आवश्यक हो गई। बहुत से रीतिकाल के कवि अपनी मौलिक रचना लिख लेने के पश्चात् अपनी रचना विशेष के काव्य-गुणों को प्रमाणित करने के लिये संस्कृत के श्लोकों का अनुवाद भी दोहों में लिखने लगे। इस प्रकार समृद्ध और शिष्ट भाषाओं के मर्मज्ञों द्वारा भाषा काव्य के रचना-सौष्ठव पर उँगली-उठाने की प्रवृत्ति पर रोक लगाने की साहित्यिक युद्धनीति का जिक्र हो चुका है। सामान्य श्रोता तो केवल 'अपील' अर्थात् भाव सौन्दर्य ही खोजता था, अतः काव्य शास्त्रीय लक्षणों का कथन, फ़ारसी और संस्कृत के वृत्ति-कामी कवि-पंडितों का मुँह बन्द करने के लिए आवश्यक हो गया था। भाषा कवियों के सम्मुख उपस्थित इन्हीं विषम परिस्थितियों ने लक्षण-युक्त कविता की परम्परा स्थापित की थी।

☐ कवि स्वयं अपने काव्य के व्याख्याता भी :

रीतिकालीन कवियों की रचनाओं में छंदो की चुस्ती, भाव-प्रवाह तथा भाषा की स्वाभाविकता आदि ऐसे काव्य-गुण विद्यमान हैं, जिनका अवलोकन करने से यही धारणा बनती है कि ये कवि मूल रचनाओं को लिख लेने के बाद उनमें निहित काव्य-गुणों की पुष्टि के लिए लक्षणों का अनुवाद और निर्माण किया करते थे। यही प्रक्रिया स्वाभाविक और सहज है। पीठ की ओर मुँह करके चलना महज़ कल्पना की बात है। बीसवीं सदी के हिन्दी कवि भी अपनी साहित्यिक मान्यता के लिये स्वयं या दूसरों से भूमिका लिखवाकर अपनी कृति की प्रतिष्ठा प्राप्त करने का यत्न करते हैं। स्वर्गीय दिनकर जी ने भारतीय ज्ञानपीठ का पुरस्कार पाने के अवसर पर अत्यंत खिन्न भाव से अपने भाषण में कहा था कि संप्रति लोग कविता न पढ़कर कविता पर लिखे गए वक्तव्यों को ही पढ़ा करते हैं। इसी मनोवृत्ति के लोगों के लिए रीतिकाल में बड़े छंदों के गुणों को प्रकट करनेवाले काव्य-तत्वों को आमुख रूप में दोहा-सोरठा जैसे छोटे छंदों मे प्रस्तुत करने की परंपरा चल पड़ी थी।

फ़ारसी के साथ प्रत्यक्ष लाग-डाँट के कारण रीतिकालीन कवियों को अपनी विशिष्ट शैली द्वारा रचनाओं को परिमार्जित करने की प्रेरणा के साथ-साथ अप्रत्यक्ष रूप से फ़ारसी साहित्य से प्रभाव-ग्रहण करने का अवसर भी दरबारों के वातावरण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से ही मिला था। वैचारिक आदान-प्रदान[1] के अतिरिक्त कलात्मक स्पर्द्धा के साथ-साथ इस युग के भाषा-साहित्य ने (संस्कृत ने नहीं) राजभाषा फ़ारसी को मर्यादा में बाँधे रखने में जिस क्षमता एवं दूर-दृष्टि का परिचय दिया है, वह आश्चर्यजनक है। इस पक्ष में बहुत ज़्यादा सोच विचार पूर्वक अध्ययन करने की आवश्यकता है।

☐ तत्कालीन कविता में रीति शब्द एक बिस्तृत साहित्य फलक का द्योतक :

तत्कालीन भाषा-कवि मानसिक स्तर पर आज के आलोचकों की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्र बुद्धि था। इन कवियों के मन में अपनी भाषा-भणित के लिए किसी प्रकार के हीनभाव की ग्रंथि नहीं थी। उन्होंने 'रीति' शब्द को संस्कृत काव्य शास्त्र के प्रचलित अर्थ से बिल्कुल भिन्न, भाषा के व्यवहृत अर्थ एवं कवि समय के अनुसार ही ग्रहण किया था। तद्नुसार पूर्ववर्ती कवियों के मार्ग या पंथ को सीख-समझकर देश-काल और लोक-स्वभाव के अनुसार काव्य की माँग और पूर्ति में तालमेल प्रकट करनेवाली रचनाओं को रीति-विहित अर्थात रीतिकालीन रचनाएँ कहा जा सकता है। रस अथवा विषय-चेतना की दृष्टि से 'शृंगार' तथा काव्य शास्त्रीय दृष्टि से लक्षण और 'उदाहरण' आदि लिखने की परंपरा के अर्थ में ही जो लोग 'रीति' शब्द की अवधारणा को सीमित करते आ रहे हैं, उन्हें लालकवि के 'छत्रप्रकास' का अवलोकन करना चाहिये। लाल कवि के अनुसार वीर-रस प्रधान छत्रप्रकास जैसा इतिहास-प्रवन्ध, संपूर्ण रूपेण रीति-विहित काव्यधारा का ग्रन्थ है—

"तेरी कृपा लाल जो पावै, तौ कवि रीति बुद्धि बिलसावै।
कविता रीति कठिन रे भाई, बाँहन समुद पैरि नहिं जाई॥"

लाल कवि के उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि 'रीति' शब्द उनके समय में अत्यन्त व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाता था। 'भूषण' जैसे वीर-रस प्रधान राष्ट्रीय कवि ने भी 'समुझि कविन को पंथ' पद में अपने काव्य को रीति धारा में ही समाविष्ट किया है। इसीलिए तत्कालीन काव्य-भाषा एवं लोक-भाषा के सापेक्ष्य में ही इस शब्द की मूलधारणा का साक्षात्कार करने का निवेदन किया जा रहा है। तत्कालीन

---

१. फारस से भारत आनेवाले फ़ारसी भाषा के प्रसिद्ध कवि 'कौसरी' ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि हिन्दुस्तान आकर उसे नई काव्य-शैली प्राप्त हुई है। रहीम को संबोधित की गई कविता में उसने लिखा है—

ब तरज़े ताज़ा मद्दे तो आशना गरदीद,
चोर वी खूब के या बदज़मा शतह ज़ेवर।

—पर्शियन पोएट्री एट द मुगल कोर्ट, भा० ३, पृ० २२३–२४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्य-भाषा में 'रीति' शब्द के प्रयोग और अर्थ पर विचार किया जाय, तो यह शब्द 'अलंकरण' 'शैली' और 'प्रबन्ध-पटुता' आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[१]

लोक-भाषा में रीति शब्द का परम्परा-वाची अर्थ ही व्यापक रूप से ग्रहीत है। 'लोक रीति' 'वेद रीति' और कुल रीति' आदि प्रयोगों से प्रकट होता है कि मध्यदेश (उत्तर भारत का हिन्दी भाषी प्रदेश) का जन-मानस सम्पूर्ण मानव-व्यवहार को 'रीति' शब्द के अन्तर्गत समेटलेने का चिर काल से अभ्यस्त रहा है। रीति शब्द में मूलतः परम्परा की मान्यता के अतिरिक्त उसकी निरंतरता में जुड़े रहने का भाव भी विद्यमान है। अतीत की स्वीकृति के साथ वर्तमान की समस्त भंगिमाओं को ग्रहण करने का आग्रह रीति शब्द का प्रमुख लक्षण है। तटों से बँधकर नदी की धार की तरह मर्यादा में बँधकर चलने या बहते रहने का भाव भी इस शब्द में निहित है। जब कभी किसी व्यक्ति विशेष द्वारा लोक व्यवहार की मर्यादा अर्थात् मार्ग या 'पंथ' का उल्लंघन होता है, तब बोलचाल की भाषा में यही कहा जाता है कि रीति में चलो, अनरीति न करो। 'रीति' शब्द की अर्थ-व्यापकता इतनी अधिक है कि इसके प्रयोग से भाषा-काव्य की महिमा में अतिशय वृद्धि होती है। रीति शब्द के व्यावहारिक अर्थ के अनुसार रीति-युग का काव्य, परम्परा, युग-परिवेश तथा रचनाकारों की व्यक्तित्व-चेतना की निरंतरता के साथ पूर्णतः संबद्ध है। काव्य-कला के इन्हीं आयामों के परिप्रेक्ष्य में इस युग में लिखे गये काव्य के ऐतिहासिक और सामाजिक पक्षों का उद्घाटन और उसका विवेचन वैज्ञानिक रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

रीतिकालीन कवियों ने जिस परम्परा का अनुगमन किया है, उसमें सबसे अधिक महत्व उस काव्य-भाषा की परम्परा को दिया गया है, जो रचना का माध्यम थी। 'भाषा' को श्रेष्ठ पद पर प्रतिष्ठित करने के पश्चात्, क्रमशः 'प्राकृत' और संस्कृत का उल्लेख करने में जो सावधानी की गई है, उस पर ध्यान देने की आवश्यकता है।[२]

वास्तव में अनेक महाकवियों की मौलिक रचनाओं का अनुशीलन करने से ही किसी कवि को निज काव्य-दृष्टि प्राप्त हुआ करती है। भिखारी दास ने काव्य निर्णय में **"काव्य की रीति पढ़ी सुकवीन सों"** कहकर इसी प्रथा की ओर लक्ष्य

---

१. ब्रह्म कवि (बीरबल) ने रीति शब्द को शृंगार-प्रसाधन की विशेष विधि के रूप अंकित किया है।

श्रीपति के अवराधन कारन राधिका जू इक रीति बनाई।
कुंकुम आड़ मृगंमद सोभित, तामैं दिपै मुकतानि की झाई॥
सीस ते एक खुली लट सुंदर, आइ रही कुच सों लपटाई।
ब्रह्म भनै ससि मंडल ते मनो, संभु को पूजन नागिन आई॥

२. भाषा प्राकृत संस्कृत देखि महाकवि पंथ। —शब्द रसायन ११ वाँ प्रकाश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया है। मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों का भी यही अभिमत[1] है। रीतिकाल के कवि रचना-प्रक्रिया के सामान्य नियम के अनुरूप महाकवियों के काव्य-पथ अर्थात उनकी भाषा-शैली इत्यादि काव्य उपादानों को समझ बूझकर कवि-कर्म में संलग्न हुआ करते थे।

रीतिकालीन कवियों की काव्य चेतना और काव्य-शिल्प की सजीवता सिद्ध करती है कि मौलिक साहित्य के अनुशीलन-मनन तथा अनुसरण के लिए आदर्श कवियों की कृतियों का चयन करते समय कविगण अपने स्वभाव-वैचित्र्य और रुचि साम्य की दृष्टि से ही परिचालित हुआ करते थे।[2] किसी पथ पर एक ही समय और एक साथ सहस्रों लोग चलते हैं, किन्तु सबके साथ पथ पर चलने का यह अर्थ नहीं कि चलनेवाला अपना गन्तव्य भूल जायेगा। यदि किसी कवि में व्यक्तित्व की विलक्षणता और विशेषता विद्यमान है, तो उसके कारण उत्पन्न होनेवाली मौलिकता उसकी प्रत्येक रचना में स्फुरित रहेगी। रीति परम्परा का अधिग्रहण करनेवाले कवियों की रचनाओं में कर्ता के व्यक्तित्व की विविधता के सन्निवेश का प्रमाण देखने के लिये महाकवि देव का यह कथन महत्वपूर्ण एवं ध्यान देने योग्य है।

अपनी अपनी रीति के काव्य और कविरीति।

देव की उक्त साक्षी के आधार पर कहा जा सकता है कि 'रीति' की स्वीकृति का यह अर्थ नहीं कि ताज़गी और विविधता के साथ कवि की दुश्मनी हो गई थी। प्राचीन आचार्य दण्डी ने 'रीति' के प्रमुख भेदों का निरूपण करने के पश्चात् लिखा है कि वस्तुतः प्रत्येक कवि की स्वतंत्र रीति हुआ करती है—**भेदाः प्रति कवि-स्थिताः।**''

विषय चाहे कितना ही पुराना और कितना ही घिसापिटा क्यों न हो, किन्तु सत्कवि की प्रतिभा का संस्पर्श हो जाने से वह नवीनता, मौलिकता और ताज़गी से परिपूर्ण हो जाता[3] है। राम-कथाओं के संदर्भ में तुलसीदास का 'मानस' इस कथन का सबसे बड़ा प्रमाण है। मौलिकता और नवीनता तात्विक दृष्टि से कवि में ही होती है, प्रायः विषय में नहीं होती। यदि तुलसी दास को अपनी प्रतिभा का विश्वास न रहा होता, तो वे रामायण की रचना करने के लिए प्रवृत्त ही नहीं हुए होते। अपने प्रशंसक एवं राम-कथा लिखने का आग्रह करनेवाले अपने श्रृद्धालुओं को ''सतकोटि और अपार'' राम कथाओं में से व्यक्तिगत रुचि के आधार पर कुछ राम-कथाएँ छाँट लेने की सलाह देकर स्वयं भजन-पूजन में ही लगे रहते! इस तरह राम

---

१. शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्य वेक्षणात्
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे। —काव्य प्रकाश १/३

२. अपनी अपनी रीति के काव्य और 'कवि-रीति'।—शब्द रसायन ११ वाँ प्रकाश

३. तन्नास्तियन्न रसभावमुपैति लोके—काव्य मीमांसा : राज शेखर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कथा के उपक्रम के साथ काशी के पंडों के बखेड़े से भी वे आसानी से अपनी बचत कर सकते थे, किन्तु आसान रास्ता छोड़कर वे जान बूझकर कठिन रास्ते पर चले थे ।

रीति कवियों की रचनाओं में प्राप्त अन्तर्साक्ष्यों पर तटस्थता पूर्वक विचार करने पर यही संभावना प्रकट होती है कि उस युग में काव्य-रचना को अन्य कलाओं की ही भाँति सीखने-पढ़ने की परिपाटी थी । इस प्रथा को अपनाते हुए भी इस काल के कवि अपने देशकाल और अपने व्यक्तित्व की विशेषता को प्रकट करने की दिशा में सदैव सजग बने रहे हैं । अतः यह धारणा निर्मूल है कि रीतिकाल का कवि सँकरी नालियों में ही अपनी काव्य-चेतना को प्रवाहित करता रहा है । इस युग में लिखे गए काव्य की व्यापक संवेदना की पुष्टि करनेवाले तथ्यों को इंगित करने के लिए रीतिकालीन कविता में उपलब्ध साक्षियों की चर्चा करना प्रासांगिक होगा ।

कविवर वंशीधर की तीसरी पीढ़ी में उत्पन्न, 'करन' कवि के सुपुत्र कविवर लीलाधर ने 'रसोल्लास'[१] नामक ग्रन्थ की रचना की है । इस ग्रन्थ में प्राप्त एक कवित्त में 'रीति' शब्द की अवधारणा को सम्यक रूप से स्पष्ट किया गया है । रीति शब्द का तत्कालीन काव्य के संदर्भ में निबद्ध प्रचलित अर्थ ज्ञात करने के लिये इस कवित्त का विशेष महत्व है । इस छंद का रचयिता ऐसे कवि घराने में उत्पन्न हुआ था, जहाँ कम से कम तीन पीढ़ियों से इस धारा की कविता रचने का अनुभव संचित हो रहा था । इसी अनुभव-जन्य ज्ञान के अधार पर लीलाधर ने रीति विषयक परिभाषा लिखी थी । रचनाकार का कथन है कि 'भाषा' में निहित काव्य-पंथ का अनुसरण करनेवाला कवि अर्थ (भाषा और अलंकार), निबंध (थीम अथवा कथ्य) के अतिरिक्त विविध दृष्टिकोणों से निर्धारित अनेक प्रकार की नायिकाओं के रूप-गुणों से सुविज्ञ हो जाता है । कविता की संवेदना को समाज-परिवार के बीच स्थापित करनेवाले इन विषयों के महत्व-ज्ञान से कला और सामाजिक वस्तुस्थिति का मणिकांचन योग घटित होता है । कवि का अभिप्रेत यह है कि 'थीम' और उसको व्यक्त करनेवाले उपादानों का सम्यक ज्ञान प्राप्त करनेवाला सहृदय व्यक्ति ही इस शैली की काव्य-रचना में प्रवृत्त होने का अधिकारी है । इन्हीं विशेषताओं से अलंकृत कविगण सहृदयों को तुष्ट करनेवाली सभी काव्य रीतियों से पुष्ट श्रेष्ठ रचनाकार सिद्ध होते हैं ।

कीन्हें हैं अनेकनि अनेकन बड़े ग्रन्थ,
तिन्है याद कीबे को यह अनुक्रम बंध है ।

---

१. दतिया राज्य-पुस्तकालय में प्राप्त ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भाषा के पढ़ैया भूरि-भूषित करैंगी पढ़ि,
जानि है जू याको पथ, अरथ निबंध है।
रीति आइ जैहै ताहि, कविता बनाइवे की,
जानि है सकल नायिका मत-संबन्ध है।
कर्न कविराज हैं तनय तिनके लीलाधर,
कीन्हों तिनसों मैं सुभ प्रकट प्रवन्ध है।

☐ रीति शब्द परम्परा-बोध का सजग प्रहरी :

रीति विषयक जो कल्पना भाषा-कवियों के मन में रही होगी उस पर किंचत् विचार किया जा चुका है। चूँकि रीति शब्द प्रचलित लोक-व्यवहार में अपने युग का एक सजीव शब्द था, इसलिये इतिहास की वस्तु को लक्षित करनेवाले इस अभिधान के संदर्भ में यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के साथ यह शब्द किसप्रकार और किसरूप में जुड़ा हुआ है। इतिहास और सांस्कृतिक परम्परा को अपने अर्थ-बोध में प्रतिबिम्बित कर सकने के औचित्य में ही साहित्य के इतिहास में प्रवृत्ति विशेष के लक्षक रूप में इस अभिधान की सार्थकता सिद्ध हो सकती है।

भारतीय-चिंतन की इतिहास-धारा पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि नए से नए विचार के प्रतिपादकों ने अपनी पीठ पर परम्परा की आड़ बनाये रखी है। इसी मार्ग का अनुसरण करते हुए भारतीय मनीषियों ने अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिये टीकाओं तथा व्याख्याओं आदि पद्धतियों की आड़ लेकर अपने नव चिन्तन को लोक-हृदय तक संप्रेषित करके उसे लोक द्वारा मान्यता दिलाई थी। परम्परा को छोड़कर गौतम बुद्ध ने जो कुछ कहा, उससे उनको मिलनेवाली सफलता कलंक-रहित नहीं हो सकी। कालांतर में परम्परा-विरोध का कलंक ही उनके अनुयायियों को भारत में ले डूबा है। दूसरी ओर परम्परावादी व्याख्याकारों ने गौतम बुद्ध को विष्णु के अवतारों में परिगणित करके बौद्ध-धर्म के अनुयायियों को वैष्णव धर्म में आत्मसात कर लिया। भारतीय इतिहास के इस परिच्छेद को प्रायः हर युग में स्मरण रखा जाना स्वाभाविक था क्योंकि यह उसकी अन्तश्चेतना की शाश्वत प्रवृत्ति का लक्षक रहा है। तुलसीदास की 'दोहावली' में इसका प्रमाण विद्यमान है—

अतुलित महिमा बेद की, तुलसी किए विचार।
जेहि निंदत निंदित भयो, विदित बुद्ध अवतार॥ —सं ४६४

तुलसीदास के कुछ ही समय बाद संवत १७३५ वि० में हरद्वार के कुंभ-पर्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के अवसर पर एकत्र रीतियुग के समस्त हिन्दू धर्माचार्यों[1] ने बौद्ध धर्म की इसी परिणति को ध्यान में रखकर संत प्राणनाथ को 'निष्कलंक बुद्ध' की उपाधि प्रदान की थी। संत प्राणनाथ के साथ जोड़े गये विशेषण 'निष्कलंक' और 'बुद्ध' तत्कालीन इतिहास के विद्यार्थियों की दृष्टि से विचारणीय हैं। धर्म की रूढ़ियों में वैचारिक क्रान्ति के उन्नायक होने के नाते सम्भवतः वे बुद्ध कहे गये, किन्तु ईश्वर की सत्ता के प्रकट रूप से समर्थक तथा परम्परा के अधिग्रहण के कारण इतिहास के बुद्ध से सविशेष उन्हें **"निष्कलंक बुद्ध"** कहा गया। "प्राणनाथ" जी ने भारतीय चिंतन की परम्परा में ही बौद्धिक प्राखर्य से परिपूर्ण अपनी मौलिक व्याख्याओं द्वारा वैदिक भागवत धर्म और इस्लाम में पाई जानेवाली मूलभूत एकता को साहसपूर्वक संसार के समक्ष नई दृष्टि और नए रूप में व्याख्यायित करने का उद्योग किया था। भारतीय धर्म-शास्त्र और इतिहास-परम्परा के प्रकाश में हिन्दू धर्म के स्वरूप में ही पश्चिम एशिया की भूमि में उत्पन्न धर्मों को समेट लेने का उद्योग करनेवाली असाधारण प्रतिभा के कारण ही उन्हें 'महामति' कहा गया। संत एवं विद्वत् समाज द्वारा व्यवहृत इन अभिधानों के मूल में व्यक्त होनेवाली प्रेरणा उस युग की बौद्धिक जागरूकता का प्रमाण प्रस्तुत करती है। सहसा इस तरह के विशेषण क्यों सुझाई पड़े तथा परम्परावादी हिन्दू (भारतीय) धर्माचार्यों ने इस प्रवृत्ति को क्यों मान्यता प्रदान की? यह प्रश्न स्वयं में महत्वपूर्ण एवं विचारणीय है।

सत्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न महामति प्राणनाथ का चिंतन उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न होनेवाले बंगाल के राजा राममोहन राय के समाज और धर्म-चिंतन में तात्विक दृष्टि से बहुत कुछ साम्य है। दुर्भाग्य है, तो बस यह कि प्राणनाथ की ओर इतिहासकारों का ध्यान ही नहीं गया। अँग्रेजी दाँ विद्वानों की दृष्टि १९ वीं शताब्दी में ही अटक गई है।

संत प्राणनाथ उस युग में उत्पन्न हुए थे, जब मुग़ल बादशाह अकबर और दारा शुकोह क्रमशः दीन इलाही तथा सूफी सम्प्रदायों के धर्म-तत्वों को आधार बना कर भारतीयों को नई धर्म-दृष्टि देकर जन-जीवन में एक प्रकार की धार्मिक क्रान्ति लाने का उद्योग कर रहे थे। इस तत्व-दृष्टि को प्राणनाथ ने पूर्ण रूप से भारतीय धर्म चिंतन का अंग बनाने का उद्योग किया है। उन्होंने भागवत धर्म की परम्परा में ही इस्लाम के सिद्धान्तों को अन्तर्भुक्त करने का प्रयत्न किया। प्राणनाथ की

---

१. लालदास की लिखी 'लालदास की बीतक' तथा ब्रज भूषण कवि की समकालीन बीतक जिसे बृत्तान्त मुक्तावली' कहा जाता है, उक्त ग्रन्थों में क्रमशः प्रकरण पैंतीसवां और प्रकरण बावनवां देखें। ब्रजभूषण लिखते हैं :

संन्यासी दस चारि संप्रदा, षट दरसन सब मिलियो।
बर न चारि अरु चार्‌यो आश्रम, इत उत संघट मिलियो॥ —पृ० २४४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चर्चा का प्रसंग उठाकर निष्कर्ष रूप में कहना यही है कि इस युग में भारतीय चिंतन की परम्परा अतीत के साथ अविकल भाव से संपृक्त बने रहने के साथ व्यावहारिक रूप में इतनी लचीली होने का यह उद्योग भी कर रही थी कि वह दो विपरीत ध्रुवों को एकत्र करने के सपने को साकार करदे। रीतिकाल की इस युग-चेतना को उपेक्षित करके उसके इतिहास को विकृत करने का ही काम संपन्न हुआ है।

☐ नई चेतना का अग्रदूत :

जब कभी कोई नया विचार और नई जीवन-दृष्टि प्रकाश में आती है, तो पहले अन्य समकालीन विचार-धाराओं के साथ उसका संघर्ष होना स्वाभाविक हो जाता है। 'संस्कृत' भाषा के पंडित देववाणी के शब्द समूह एवं व्याकरण की शुद्धता के प्रति जैसी आग्रह शीलता से सने रहते हैं, यह सर्व विदित है। संस्कृतज्ञों के शुद्धतावादी दृष्टिकोण के विपरीत प्रारम्भ से ही हिन्दी भाषा का हर रचनाकार यह मान्यता प्रकट करता रहा है कि भाषा को अधिक से अधिक 'संकर' किया जाय तभी उसमें उचित अभिव्यक्ति-सामर्थ्य उत्पन्न होगी। भाषा-कवियों ने एक दो नहीं, कहीं छः और कहीं आठ-आठ भाषाओं के मिश्रण की बात खुले आम कही है। इसी मिश्रण-क्षमता को कवि की योग्यता का प्रमाण माना जाता था। इस तरह 'भाषा' का भाषागत आदर्श संस्कृत से भिन्न सिद्ध होता है।

संस्कृत भाषा की लाग-लपेट से दूर बने रहने की भावना कबीर और विद्यापति आदि कवियों की उक्तियों में पूर्णतः सुरक्षित है। ये कवि संस्कृत की तुलना में अकुंठित भाव से भाषा की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते रहे हैं। कबीर आदि संतों के विषय में संभव है, कुछ लोग यह भी कहें कि संस्कृत भाषा का ज्ञान न होने के कारण ही कबीर जैसे अपढ़ संत ने भाषा की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया है, किन्तु विद्यापति की रचनाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था। फिर भी विद्यापति ने प्रकट रूप से 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' मान कर लोक भाषा को ही वरीयता दी थी। भाषा के सुप्रसिद्ध कवि तुलसीदास और केशव[1] का भाषा-प्रेम इस स्थिति को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है। उक्त दोनों महाकवियों ने संस्कृत में रचना करने की क्षमता से परि पूर्ण होते हुए भी अपनी अभिव्यक्ति के लिये भाषा का ही अंचल ग्रहण किया था। उस युग के समक्ष समस्या यह थी

---

१. 'भाषा बोल न जानहीं, जाके कुल के दास' में व्याज रूप से यही कहा गया है कि संस्कृत का ज्ञान मेरे लिए अत्यंत स्वाभाविक है। मेरे घर के नौकर चाकर भी संस्कृत बोलते रहे हैं, किन्तु मै उस परम्परा को छोड़कर भाषा में ही काव्य रचना की नई रीति का ग्रहण कर रहा हूँ। (केशव दास पंडितों की कुलपरम्परा में अपने नौकरों से भी गए बीते थे, यह कैसे मान लिया जाय ?)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि भाषा की विद्रोही चेतना के अनुरूप नए प्रभावों को आत्मसात करते हुए भाषा-साहित्य को संस्कृत भाषा के साथ सुसंबद्ध सांस्कृतिक प्रवाह की चेतना के साथ निरंतर जोड़े रखा जाए। ('रीति' के माध्यम से भाषा-साहित्य की विद्रोहिणी प्रकृति को परम्परा-बोध का संवाहक बनाते हुए उसे जन-जीवन की बदली हुई परिस्थितियों के अनुकूल युग-धर्मी विचारों की अभिव्यक्ति का उस युग में माध्यम बनाया गया था।) दरबार में प्रविष्ट होकर एवं दरबारी रुचि के साथ समझौता करने तथा संस्कृत भाषा के परित्याग के उपरान्त भी आलोच्य युग में लिखा गया काव्य भारतीय जनजीवन की अन्तश्चेतना से विच्छिन्न नहीं हुआ है। आम जनता की भावनाओं को अपनी रचनाओं में स्थान देकर सर्वसाधारण को भारतीय मूल के साहित्य के प्रति आस्थावान बनाए रखने के लिये इन कवियों ने गहरी सूझ-बूझ से काम किया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के लक्षणों के उद्धरण अपनी साहित्य-परम्परा के प्रति आस्थावान बने रहने की प्रतिबद्धता के ही द्योतक हैं। अपनी ही परम्परा में कविता के नए युग-बोध को अविकल भाव से प्रवाहित रखने को श्लाघ्य कौशल से तद्युगीन काव्य की जो श्री वृद्धि हुई है, उसकी ओर आलोचना जगत में समुचित ध्यान नहीं दिया गया है।

☐ रीति शब्द-विषयक बद्धमूल धारणा में संशोधन करने की आवश्यकता :

हिन्दी साहित्य के आलोचकों ने रीति शब्द को अपेक्षाकृत संकुचित अर्थों में ही ग्रहण किया है। फलतः सम्पूर्ण रीतिकालीन साहित्य के प्रति लोगों के मन में पूर्वाग्रह की भावना बद्ध मूल हो गई है। इसीलिये 'नायिका भेद' को उसके सामाजिक परिप्रेक्ष्य में न देखकर गर्हित दृष्टि से देखा जाता है। आग्रहशील (प्रिजुडिस्ट) दृष्टि के फलस्वरूप भाषा काव्य में प्राप्त नायिका-भेद का ऐतिहासिक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक जीवन दृष्टियों से मूल्यांकन करने की ओर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। नायिका भेद के रूप में प्राप्त होनेवाली हिन्दी साहित्य की यह निधि ऐतिहासिक विवेचन के अतिरिक्त पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन-बोध की व्याख्या के लिए भी महत्वपूर्ण है। संप्रति समाज की 'सेक्स' विषयक द्विवेदी युगीन मनोग्रंथि शिथिल हो गई है। उपन्यासों, कहानियों, कविता और नाटकों में निरंतर इस प्रवृत्ति का उभार हो रहा है। यही नहीं आज के शिक्षाविद् भी अनेक प्रसंगों पर पाठ्यक्रमों में 'सेक्स' से सम्बन्धित विषयों को सम्मिलित करने का विचार करते रहते हैं, किन्तु रीतिकालीन समाज एवं कवि के मन में द्वन्द्व जनित अस्पष्टता रंच मात्र भी नहीं थी। प्रस्तुत प्रसंग में रीतिकालीन कविता के नायिका भेद में सुलभ दाम्पत्य-शृंगार की समीक्षा स्थगित करके आलोच्य साहित्य पर मात्र ऐतिहासिक दृष्टि से ही विचार किया जा रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

☐ यह काव्य किसे लक्ष्य करके लिखा जा रहा था :

इस संदर्भ में महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि रीति-युग में रीति पूर्वक अर्थात व्यवस्थित और सुनिश्चित रीति से काव्य रचना का आग्रह क्यों उत्पन्न हुआ ? प्रश्न में निहित उत्तर की प्राप्ति के लिये साधन रूप में भाषा-साहित्य में काव्य-शिक्षा विषयक प्रचुर सामग्री का अवलोकन आवश्यक है। पूरक प्रश्न के माध्यम से मुख्य प्रश्न को स्पष्ट किया जा सकता है कि इस तरह की कविता की आवश्यकता किसे थी ? कविता का रचयिता और कविता का प्रशंसक किन-किन सामाजिक दायरों के बीच फैला हुआ था ? बाज़ार, माँग और उपयोगिता इन तीनों के परस्पर संवंध में ही किसी वस्तु का उत्पादन हुआ करता है। कविता को लिखकर उसे सुरक्षित करने की प्रेरणा क्यों उत्पन्न होती है ? इसीलिए न कि रचयिता के अन्तर्मन में वर्तमान और भविष्य के अनुपस्थित पाठकों की कल्पना स्पष्ट विषय के रूप में विद्यमान रहा करती है। भवभूति का 'कालो निरहवयं' श्लोक भी यही लक्षित करता है। यदि आज की वस्तुस्थिति के प्रकाश में इस प्रश्न पर विचार करके देखा जाय, तो प्रश्न का स्पष्ट उत्तर मिल जाएगा।

शिक्षा, साक्षरता और आलोचना-शास्त्र के प्रचार के बावजूद काव्य-रचनाओं के आस्वादन एवं उनका सृजन करने की प्रवृत्ति में निरन्तर क्यों ह्रास होता जा रहा है ? इन प्रश्नों का सीधा सादा उत्तर यह है कि कविता करनेवालों का आर्थिक और सामाजिक महत्व कम ही नहीं, प्रायः समाप्त-सा हो गया है। सामान्य-जन कवि-कर्म से विमुख होकर अन्य धंधे अपनाते जा रहे हैं। जो काम कविता द्वारा सधा करते थे, उन्हें गद्य ने हथिया लिया है। काव्य-शास्त्र द्वारा मनोविनोद करने की शिक्षा देनेवाले लोग शाम को रेडियो सुनते हैं या पिक्चर हालों की तरफ भागते हैं या घर में ही बैठ कर टेलिविज़न देखते हैं। विज्ञान ने मनोरंजन के लिये अन्यान्य विकल्पों की उपलब्धि करा दी है। इन्हीं कारणों से कवि एवं उसकी कविता का महत्व घट गया है। कागज और मुद्रण की सुविधाओं के कारण स्मरणीयता के लिये आवश्यक छन्द-विधान और तुक का महत्व भी मिट गया है। आज की स्थिति के विपरीत रीति-युग में संगीत, नृत्य और चित्रकारों के घरानों के समान कवियों के घराने भी सुविख्यात थे।[१]

१: पन्ना राज के कविमणि श्री कृष्ण कवि ने बुन्देलखण्ड क्षेत्र के गाँवों में घूम-घूम कर ग्यारह सौ कवियों का वृत्त एकत्र किया है। किंचित रूप से मुझे उनके रजिस्टर का अवलोकन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इतिहास की दृष्टि से कुछ त्रुटियाँ होने पर भी कृष्ण कवि के भगीरथ प्रयास का अपना महत्व है। कृष्ण कवि के संग्रह के अनुसार कई पुश्तों तक कवि-घरानों के नाम गिनाए जा सकते हैं। नरहरि का घराना इसका सबसे बड़ा सबूत है। अन्य उदाहरणों के रूप में

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

☐ तत्कालीन समाज में काव्य की उपादेयता :

चारण, भाट और बंदीजन जातियाँ निर्विवाद रूप से कवि-कर्म के पेशे से ही जीविकोपार्जन करती थीं।[1] यह सब इसीलिए था कि कवि-कर्म को समाज द्वारा व्यापक मान्यता प्राप्त थी, क्योंकि समाज के सर्व साधारण जन के लिए भी असंदिग्ध रूप से कविता की प्रयोजनवत्ता पर आँच नहीं लगी थी। राजतन्त्र की व्यवस्था में ही काव्य का स्थान था और उसके महत्व का स्थापनापन्न बनने के लिये उस युग में विकल्प नहीं था। हाथी घोड़े सेना और खजाने के द्वारा किसी राजा की जितनी प्रतिष्ठा होती थी, उससे कई गुना अधिक यश-विस्तार किसी सुकवि के एक छन्द द्वारा हो जाता था। कविता द्वारा किसी व्यक्ति को जो लोकोप्रियता प्राप्त होती थी, वह जनता का कंठहार बनकर पुश्त दर पुश्त के लिये सुरक्षित हो जाती थी। इसी साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि रीतिकाल का काव्य अपने युग-परिवेश से बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप में संबद्ध था। इन्ही क्षमताओं को लक्ष्य करने से

(शेष पिछले पृष्ठ से)

उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र दूलह और बाबा कालिदास का उल्लेख करना उचित होगा। करन कवि की (चर्चा) हम पहले ही कर चुके हैं। (संवत् १८८५-१९४४ वि०) में चरखारी राज्य के आश्रय काल में 'शृंगार सागर' नामक ग्रंथ की रचना की गई है। इस ग्रंथ के अनुसार मोहन लाल के वंश में जहाँगीर के समय से ही काव्य रचना की परम्परा विद्यमान थी। वे लिखते हैं कि मेरे पुरखे 'कृष्णदत्त' कवि पोहकर के काव्य गुरु थे। कृष्णदत्त को बादशाह जहाँगीर ने मिश्र खिताब से विभूषित किया था।

तिनको साह जँघीर ने, कीन्हो अति सनमान।
दान दाम दै कै कियो, मिसिर खिताब सुखान ॥

इस ग्रंथ को हाल ही में औरंगाबाद से डा० भालचन्द्र राव तैलंग ने संपादित करके प्रकाशित कराया है। ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाशित ग्रंथ का उद्धृत छंद अशुद्ध हो गया है।

१. अकबर के समकालीन कविराज नरहरि के पिता रामेश्वर भट्ट एक श्रेष्ठ कवि थे। नरहरि के विषय में सभी लोगों को ज्ञात है। नरहरि के पुत्र हरिनाथ ने अनेक श्रेष्ठ ग्रंथों की रचना की थी। इसी प्रकार बंदीजन वृन्द कवि की वंश परम्परा में भी श्रेष्ठ कवि उत्पन्न होते रहे हैं। चंपतराय के समकालीन बखत बली कवि के पुत्र भानु भट्ट भी अच्छे कवि थे। इसी वंश परम्परा की अंतिम कड़ी के रूप में कृष्ण कवि का उल्लेख करना उचित होगा।

२. शियर शाहो का तो सो है यादगार,
रखो (रहिई) नाबु आलम में ज्यूंता करार
कि जों तलक दुनियाँ रहिई कर मंदान (मंडान)
फिरी (फिरई) शियर तलकों हो आलम निशान।

—इ० ना० पृ० १३९

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

स्पष्ट हो जाता है कि उस युग-परिवेश को समझने के लिये रीतिकाल की कविता को एक सशक्त साधन के रूप में व्याख्यायित करने से जनवादी इतिहास बोध में स्पष्टता एवं परिपूर्णता आएगी।

जिस प्रकार किसी वृक्ष के फल फूल और पत्तों के आकार-प्रकार तथा उसकी सुगंधि मात्र से हम वृक्ष के संबंध में बहुत कुछ जान लेते हैं, उसी प्रकार कविता द्वारा हम किसी काव्य-युग के बारे में भी बहुत कुछ जान सकते हैं। कवि-व्यक्तित्व की संरचना में सहायक होनेवाली सामाजिक और ऐतिहासिक शक्तियों को अप्रत्यक्ष रूप से प्रकट करने के साथ-साथ प्रत्यक्ष रूप से भी अनेक कवियों ने अपने युग की वस्तुस्थिति को काव्य का वर्ण्य विषय बनाया है। जीवन की वास्तविकता से बचकर एकान्त में पलायन करने के स्थान पर सामाजिक और राजनैतिक यथार्थ की चुनौती को इन कवियों ने निर्भीक रूप से अंगीकार किया था। राजदरबारों में जिस तरह के लोग विद्यमान रहते थे, उनके द्वारा अपनी काव्य-प्रतिभा पर प्रामाणिकता की मुहर लगवाकर अपनी रचना का सिक्का चलाना, इस युग के रचनाकार की प्रतिभा की कसौटी थी। आज के युग की अपेक्षा उस युग में वाचालता का इतना अधिक प्रसार नहीं हुआ था, तथा पाखंड को ऐसी मान्यता नहीं मिली थी। आज के साहित्य-जीवी (व्यवसाई ?) पदोन्नतियों के लिए जिस तरह दर-दर भटकते हैं और जिस तरह के तिकड़म करते हैं, उससे ज्यादा विपन्नावस्था उस युग में नहीं थी। स्वानुभूत विषयों की उपेक्षा करके केवल कल्पित मानदण्डों से लिखा गया इतिहास नाममात्र का ही इतिहास हो सकता है। इसीलिए वैज्ञानिक-शोध के साथ साहित्य का अध्ययन और अनुशीलन करने के लिये तत्कालीन जनजीवन के इतिहास और तत्कालीन साहित्य-बोध को एक दूसरे के परिप्रेक्ष्य ही नहीं, पूरक रूप में अध्ययन करने की आवश्यकता है। तथ्य तो यह है कि रीतिकाल की कविता व्यापक जीवन फलक पर लिखी गयी थी, किन्तु आज के साहित्य जगत में व्यवहृत होनेवाली आलोचना ने उसके वास्तविक गौरव से उसे वंचित कर दिया है।

अब तक के विवेचन से यह आशय नहीं लिया जाना चाहिये कि आलोच्य युग में कविगण केवल राज-राजदरबार को ही लक्ष्य में रखकर अपनी कविता लिखा करते थे। राजा के साथ-साथ कवि के समक्ष राजा की सभा भी विद्यमान रहती थी। राजा और राजसभा में उपस्थित रहनेवाले विभिन्न वर्ग, जाति, धर्म और रुचिवाले पार्षद अपने-अपने संस्कारों की कसौटी पर कविता की परख करते थे। जिस कविता में निर्दोषता और सूझ-बूझ से परिपूर्ण उक्ति विलास के साथ जीवन की मर्मस्पर्शी उद्भावनाओं की सविशेष अभिव्यक्ति होती थी, वही कविता राजसमाज में समादृत हो सकती थी। अतः रीतिकालीन कविता के लिये आवश्यक था कि वह युग-परिवेश तथा अवसर विशेष में संदर्भ के अनुकूल होने के साथ जीवन-बोध के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नए-नए क्षेत्रों का अनुसंधान करती रहे। दरबारियों के माध्यम से इस युग का काव्य जनता के हृदय एवं वाणी तक पहुँचने का सुगम मार्ग प्राप्त कर लेता था।

हिन्दी साहित्य की परम्परा का अनुशीलन यह प्रकट करता है कि चाटुकारिता की प्रवृत्ति को हिन्दी भाषी जनमत ने केवल निरुत्साहित ही नहीं किया, वरन् एक प्रभावशाली ढंग से उसका विरोध भी गया था।[1] अकबर जैसे बादशाह की अनावश्यक प्रशंसा करनेवाले के लिए "काटहु जीभ सुलब्बर की" जैसी उक्तियों का प्रचलित हो जाना इस परम्परा को प्रमाण-बद्ध करता है। आधुनिक काल खासकर स्वतंत्रता के बाद जिस ढंग से हिन्दी-जीवियों का अपनी परम्परा से स्खलन हुआ है, उसे देखकर "निराला" जी भीतर ही भीतर टूट गए थे। पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र ने अनेक अवसरों पर निर्भीक रूप से लेख लिखे। संभवत भावी इतिहासकारों द्वारा इसी सामग्री की विशेष रूप से तलाश होगी। सोने के पात्र से सत्य का मुँह बन्द करने की चेष्टा सनातन काल से चली आ रही है "हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्य अपिहतं मुखम्।"

प्रस्तुत प्रसंग को स्पष्ट करने के लिए हम हिन्दी साहित्य के मनीषी आचार्य विश्वनाए प्रसाद मिश्र के ग्रंथ "हिन्दी साहित्य का अतीत" भाग दो पृ० ३८५ से एक उद्धरण देना उचित समझते हैं, "जो चाटुकारिता बर्तमान स्वतंत्र भारत में राजकीय मंत्रियों को अभिनंदन ग्रंथ समर्पित करने में हिन्दी के कविर्मन्य और पण्डितमन्य महानुभावों के द्वारा देखी जा रही है, उसका शतांश ही उनमें (रीतिकालीन कवि) मिल सकता है। सभ्यता अपने विकास के साथ सचाई छिपाने के जितने अधिक साधन और मार्ग आज निकाल चुकी है, उतने उस समय नहीं थे। इसी प्रवृत्ति पर कटाक्ष करने के लिए पं० श्री नारायण चतुर्वेदी जी ने 'विनोद शर्मा अभिनंदन ग्रंथ' निकाल कर साहित्य सेवियों की यश-लोलुपता पर वयंग्य-वर्षा की थीं। लेकिन जब कुएँ में ही भाँग पड़ी हो, तो गाँव कैसे नहीं बौराएगा।

□ रीतिकाल की मूल भाव-चेतना ग्रामीण परिवेश से ही प्रस्फुटित :

रीतिकालीन कविता के काव्य उपादानों पर दृष्टिपात करने से प्रकट होता है कि वे मूलतः लोक-जीवन से ही संग्रह किये जाते थे। 'लोक' से हमारा तात्पर्य सामान्य आदमी के उस जीवन-परिवेश से है, जिसकी रुचि और मानसिकता में ग्रामीण जीवन का रस और रंग प्रमुख रूप से चढ़ा रहता है। इस युग के हिन्दी-काव्य की चेतना और संवेदना का आधार ग्रामीण जीवन की धुरी पर ही केन्द्रित रहा है। दरबारों में रहनेवाले फारसी भाषा की 'नागर चेतना' संपन्न कवियों से होड़ करने के लिये ग्रामीण जीवन की मिठास को संवेद्य बनाकर ही रीतिकाल के कवि

---

१. कीरति के बिरवा कवि हैं,
इनको कबहूँ मुरझान न दीजै।" —इत्यादि

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अपनी कविता का वैशिष्ट्य प्रमाणित कर सकते थे। ग्रामीण संस्कारों में रँगी और पगी हुई भाषा और भावों को नागर-संस्कारों के अनुकूल बनाने में अप्रतिम रूप से सफल, रीति युग का कवि निज अन्तश्चेतना को अपनी मिट्टी की सुगंधि से हर क्षण परिपूर्ण रखने में जिस सीमा तक कृत-कार्य हुआ[1] है वह आश्चर्य का विषय है। इनकी भाषा, मुहावरे, लोकोक्तियाँ और काव्यबिम्बों का अधिकांश लोक-विषयक अनुभूतियों को ही प्रकाश में लाता है। दरबारदारी में निष्णात बिहारी जैसे कवि के शब्दों के हृदय में झाँककर देखने पर विदित होता है कि उन जैसा रीति-सिद्ध कवि भी अंततः नागर सौन्दर्य संस्कारों की तुलना में ग्रामीण सौन्दर्य-चेतना[2] की विशिष्टिता को ही सोलह आने खरा स्वीकार करता है। आलोच्य युग में ग्राम्य सौन्दर्य-बोध के अम्लान बने रहने के रहस्य पर विचार करके देखने पर यही प्रकट

---

१. दतिया स्टेट पुस्तकालय में छोटे लाल नामक किसी कवि का लिखा हुआ 'गूजरी चरित्र' शीर्षक एक आख्यान काव्य सुरक्षित है। इसकी नायिका 'मानो' चंदा नामक गूजर की पत्नी है। उक्त नायिका के रूप-सौंदर्य की चर्चा सुनकर दिल्ली के बादशाह का एक सरदार 'मिर्ज़ा' मथुरा पहुँचा। मिर्ज़ा की सेना ने चारों तरफ से घेरा डालकर अपने तम्बू तान दिए। 'मानो' दही बेचते समय पकड़ ली गई और मिर्ज़ा के सामने पेश की गई। दही बेच कर मज़दूरी से जीविका निर्वाह करनेवाली 'मानो' मिर्ज़ा के राजसी ठाट-बाट से अप्रभावित रही तथा उसके प्रेम प्रस्ताव को ठुकराते हुए अपनी ग्रामीण अस्मिता को व्यक्त करते हुए कहा : हे मिर्ज़ा, जितने तुम्हारे तम्बू तने हैं, उससे ज्यादा मेरे घर में मेरे उतारे हुए लँहगे टँगे हैं। फिर मुझे क्या कमी है, जो तुम्हारे इस वैभव की तरफ आँख उठाकर देखूँ? मानो की ऐसी उक्तियों को सुनकर मिर्जा लज्जित हुआ तथा गूजरी को मुक्त कर दिया। वस्तु स्थिति में रीतिकाल इन्हीं सौंदर्य-संस्कारों के साथ बँधा रहा है। अमीर खुशरो ने भी दही बेचनेवाली किसी गूजरी की व्याज रूप में प्रशंसा की है। दो भाषाओं की मिली जुली शब्दावली की 'मुलम्मा' शैली में दही बेचनेवाली ग्वालिन के कहे हुए शब्द 'दुर दुर मुई' ध्यान देने योग्य हैं।

रफ़्तम बतमाशए कनार जूई, दीदम ब लब आब जन हिन्दुई।
गुफ़्तम सनमा व हाय जुल्फ़त च बूद, फ़रियाद बरावुर्द कि दुर दुर मुई।

२. प्रस्तुत कथन की पुष्टि हेतु देव आदि कवियों के उदाहरण इसलिए नहीं दिए जा रहे क्योंकि उनके सौंदर्य-वर्णन में ग्रामीण चेतना के अधिग्रहण पर संदेह नहीं किया जाता। बिहारी की ऊहात्मक उक्तियों के कारण उन पर सबसे ज्यादा फ़ारसी अर्थात् नगर संस्कृति का प्रभाव लक्षित किया जाता है। अतः प्रस्तुत उदाहरणों के माध्यम से यह स्पष्ट करने की चेष्टा की जा रही है कि बिहारी भी मूलतः ग्राम्य सौन्दर्य के ही प्रशंसक थे—

गदराने तन गोरटी, ऐपन आड़ लिलार।
हठ्यो दै, इठलाइ दृग, करै गँवारि सुवार॥ —बिहारी रत्नाकर, ९३

इस दोहे के 'सुवार' शब्द की व्यंजना पर ध्यान देने का निवेदन है।

गोरी गदकारी परै, हँसत कपोलन गाड़।
कैसी लसति गँवारि यह, सुनकिरवा की आड़॥ —वही, ७०८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होता है कि आभिजात्य मुगलों के मन में भारतीय काव्य-परम्परा के प्रति प्रगाढ़ प्रेमाकर्षण विद्‌यमान था। रीतिकालीन कवियों की यही अन्तर्दृष्टि आधुनिक काल की रचनाओं की तुलना में उस युग के साहित्य का वैशिष्ट्य प्रकट करती हैं। संप्रति जब कोई भारतीय विद्‌वान विदेश से लौट कर स्वदेश में आता है, तब अक्सर वह यही कहता पाया जाता है कि यूरोप या अमेरिका में सही जिज्ञासा यह है कि भारतीय भाषाओं के लेखक अपनी परम्परा के अनुसार वर्तमान संदर्भ में क्या लिख रहे हैं और किस तरह का सोच-विचार कर रहे हैं। उन्हें हमारे वर्तमान लेखन से संतोष नहीं हो पाता क्योंकि यह सब उनकी छाया के समान ही है। मुगल बादशाहों की मातृभाषा बहुत अंशों में फारसी ही थी, किन्तु उनकी रस-व्यभिचारी प्रकृति उन्हें सदैव नई काव्यानुभूति और नई शैलियों की ओर उत्प्रेरित करती रहती थी। यदि रीतिकाल के कवि फारसी शैली के महज़ नक्काल रहे होते, तो मुग़ल दरबार में उनकी कोई सार्थकता नहीं हो सकती थी और न ही उन्हें वह सम्मान मिला होता, जो उन्हें सहज में ही प्राप्त हुआ। अतः मुगल राजदरबार के मध्य भी भाषा काव्य का महत्त्व अक्षुण्ण बना रहा। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत और फारसी जैसी समृद्‌ध भाषाओं के कवियों के समक्ष भाषा-कवियों ने जो मान्यता प्राप्त की थी, उसकी आधार भूत शक्ति उनकी कविता में ही अन्तर्निहित थी।

चर्चित युग में भाषा-काव्य की सौन्दर्य-चेतना इतनी प्रभावी (अपील-युक्त) थी कि अकबर ने राजस्थानी-लोक-गीतों के संग्रह को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। फारस की जमीन में बचपन गुज़ारनेवाले अकबर को निश्चय ही भारतीय शिष्ट-साहित्य एवं लोक साहित्य में फारसी की तुलना में कुछ विशेष रस मिला होगा। काव्य-गुण की इसी विशेष सत्ता के कारण सौन्दर्य-प्रेमी सम्राट ने इसकी ओर आकृष्ट होकर नल-दमयन्ती की प्रेम-कथा को फारसी के प्रसिद्‌ध कवि 'फ़ैजी' द्‌वारा 'नलदमन' शीर्षक में अनूदित कराया था। दमयन्ती की प्रेम-करुणा तथा नारी के समर्पण भाव में उसकी अविचल निष्ठा शिष्ट भाषा के अतिरिक्त लोक-साहित्य के रूप में भी प्रचलित थी। दमयन्ती का चरित्र भारतीय नारी की मूल प्रकृति के बहुत समीप है। अपने हरम में प्राप्त अनेक भारतीय नारियों में उसे दमयंती की प्रतिच्छवि अवश्य ही मिली होगी। इसप्रकार परोक्ष रूप से इसी बात की पुष्टि होती है कि लोक-काव्य की मिठास ने फारसी भाषा के गढ़ में प्रवेश करने के लिए अपनी गुणवत्ता के आधार पर उपयुक्त दरारें बना ली थीं। भाषा काव्य में निहित लोक-तत्व ने अब्दुर्रहीम खानखाना को अकबर के ही समान अपना भक्त बना लिया था। जिस ग्रामीण नायिका ने अपने पति के व्याह-कंगन में लोक छन्द की परिधि में अपने प्रेम की पीर और विवाह के तत्काल बाद होनेवाले वियोग की हृदय-द्रावी करुणा को बरवै के थोड़े से शब्दों में मुखरित कर दिया था, उसकी मर्मस्पर्शिता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से रहीम के कवि हृदय का अभिभूत होना स्वाभाविक था[1]। इस तरह के उदाहरणों से यही प्रकट होता है कि रीतिकाल में लिखे गए भाषा साहित्य की जड़ें लोक जीवन से ही अपना खाद्य ग्रहण कर रही थीं। भारतीय-लोक का यही सौन्दर्य-बोध राजदरबारों में हिन्दी काव्य को प्रश्रय दिलानेवाला प्रत्यक्ष कारण था। अतः कह सकते हैं कि इस काल की कविता के सौन्दर्य-बोध को समझने और उसकी सही व्याख्या प्रस्तुत करने के लिये लोक-तत्वों की पृष्ठभूमि को समुचित महत्व प्रदान करने की आवश्यकता[2] है। लोक-चेतना और लोक भाषा को राजभाषा फारसी की प्रतिस्पर्धा में उसके समकक्ष सिद्ध करने के प्रयास में ही उसे रीति में ढालना सर्वमान्य हो गया था। रीति की मर्यादा में सुनियोजित प्रशिक्षण कवि की प्रतिभा को खराद पर चढ़ाकर इस तरह चमका देता था कि ग्रामीण लोक और नागर दरबारियों के बीच इस युग का काव्य समान रूप से लोकप्रिय बना रहा। राजकुमारियों और राज महिषियों के ही समान नाइन, धोबिन, मालिन एवं चुड़िहारिन वर्ग की सेविकाएँ भी नायिका भेद के अन्तर्गत महत्वपूर्ण बनी रही हैं। इस वर्ग की नायिकाओं के संदर्भ ज्ञान के बिना बिहारी सतसई को पढ़ा ही नहीं जा सकता। नगर और ग्राम दोनों ही छोरों की जनता के लिए समान रूप से उपयोगी बने रहने में रीतिकाल को जो अप्रतिम सफलता मिली है, उसका आधार उसकी लोक-धर्मिता ही है।

---

१. श्री उदयशंकर दुबे साहित्यान्वेषक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद द्वारा मुझे इस संदर्भ में ज्ञात हुआ है कि उक्त प्रसिद्ध छन्द उदयचन्द नामक कवि की रचना है। उदय चन्द के 'बरवै नायिका भेद' नामक ग्रन्थ में यह छन्द भी संकलित है। उक्त ग्रंथ में संकलित उदय चन्द के समस्त छन्द ग्राम्य सौंदर्य-बोध का चित्रण करते हैं, अतः लोक जीवन से संकलित किए गए उपमानों और काव्य बिम्बों से यह रचना ओत-प्रोत हैं।

श्रुति परंपरा में कहा जाता है कि इस छंद को लिखकर नव विवाहित वधू ने अपने पति के व्याह-कंगन के साथ बाँध दिया था। सैनिक ने रहीम की सेवा में उपस्थित होने पर पत्नी के कथनानुसार बरवै छन्द की पुर्जी अपने स्वामी की सेवा में प्रेषित कर दी। रहीम ने नव विवाहित सैनिक को तत्काल घर जाने की अनुमति दे दी। इस छंद से वे इतने मुग्ध हो गए कि समय-समय पर स्वयं भी बरवा छंद में रचना करने लगे। रहीम के संस्कारों पर इस छंद का प्रभाव पड़ना अत्यंत स्वाभाविक था। अरबी भाषा के 'बैंत' छंद को फारसी कवियों ने दुगुना करके अपनी प्रकृति के अनुकूल 'दुबैती' छंद गढ़ लिया था। यह दुबैती छंद दोहा सोरठा और बरवै जैसे छोटे छंदों के अधिक समीप था।

२. भाषा-काव्य की इस अन्तर्वर्ती शक्ति-निरूपण की दिशा में पं० श्री नारायण चतुर्वेदी ने "आधुनिक हिन्दी का आदिकाल" ग्रन्थ में समुचित ध्यान दिया है। उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ३७-४९ में जो विवेचन और प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें मूल रूप में ही पढ़ना उचित होगा। उक्त पृष्ठों में देव की जो कविता उद्धृत की गई है, वह संवाद शैली में नाटकीय-तत्त्वों की संयोजना के कारण भावों को मूर्तिमान करने में पूर्ण रूप से सफल हुई है। वास्तव में देव की काव्य-प्रेरणा का समग्र स्रोत ग्राम्य जीवन के शिखर से ही फूटा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

☐ इतिहास के छल-जन्य सम्मोहन की मीमांसा :

रीतिकालीन कविता का मूल्यांकन करनेवाले समीक्षकों ने सामान्यतया इस काल की कविता के 'गुन-ग्राहकों' का स्वरूप निर्धारित करने में या तो उपेक्षा की है, या फिर तथ्यों की दृष्टि से विपथन किया है।[1] कविता के सामाजिक और ऐतिहासिक परिवेश प्रकट करनेवाले इतिहास के प्रमाणाधारों को भारतीय परम्परा के सापेक्ष्य एवं विवेक दृष्टि से देखने-समझने के स्थान पर फारसी और ब्रिटिश इतिहासकारों के चश्मा से ही इतिहास का अनुशीलन करने के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य के आलोचकों ने इतिहास का जो पक्ष हृदयंगम किया है, वह पक्ष विदेशी साम्राज्यवादी दृष्टि का ही संपोषक है। जब तक हम विदेशी विचारकों द्वारा खींची गई 'लकीर के फकीर' बने रहेंगे, तब तक रीतिकाल में लिखे गये साहित्य की इतिहास-संगत प्रामाणिक तस्वीर अंकित करने के प्रयास में केले के तने के छिलके उतारने का ही काम करेंगे, ठोसवस्तु से हमारी भेंट नहीं हो सकेगी।

जिस युग ने रीतिकाल को जन्म देकर संपोषित किया था, उस युग का इतिहास लिखने में ब्रिटिश-दृष्टिकोण किसी भी न्याय से वस्तुपरक और तटस्थ नहीं रह सकता था। राजनैतिक दृष्टि से अँग्रेजों को अपने साम्राज्य की स्थापना एक ऐतिहासिक प्रकिया के रूप में सहज-स्वाभावि सिद्ध करना आवश्यक एवं अनिवार्य था। जिसके हाथों से राज्य-सत्ता छीनी जाती है, उसकी प्रशंसा मूर्ख राजनैतिक भी नहीं करता। अँग्रेज जाति की कूट नीतिज्ञता तो जग जाहिर है। अतः ब्रिटिश इतिहासकारों के लिये यही कहना उचित था कि भारत में ब्रिटिश राज्य स्थापित होने के पूर्व जो प्रशासनिक तंत्र और सामाजिक व्यवस्था भारत में विद्यमान थी, वह सब जर्जर और पतनावस्था को प्राप्त हो चुकी थी। राजनैतिक दुर्वस्था और अराजकता का अन्त करके भारतीय जन-जीवन में वैज्ञानिक युग के नव प्रभात का उन्मेष करना अँग्रेजी राज्य की ही देन है। इससे यह अभिप्राय स्वयं सिद्ध होता है कि अँग्रेजों ने पूर्ववर्ती व्यवस्था को न्यायोचित ढंग से समाप्त किया है, इतिहास का यही दृष्टिकोण ब्रिटिश साम्राज्यवाद की स्थिति को भारत में सुदृढ़ कर सकता था।

ब्रिटिश काल में लिखे जानेवाले इतिहास-ग्रंथों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करनेवाले राजनैतिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखने से यही विवेक दृष्टि प्राप्त होती है कि रीतिकालीन साहित्य के मूल्यांकन के लिये पहली आवश्यकता

---

१. रीतिकालीन ग्रंथों की पुष्पिकाओं से प्रकट होता है कि इनकी रचना और प्रतिलिपियाँ राज पुरुषों, राजकुमार, राजकुमारियों के ही समान खवासिनों तथा गुणी स्त्रियोंकी शिक्षा के लिए की जाती थीं। घर से दूर रहनेवाले सिपाही भी इस काव्य के प्रेमी थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह है कि उस युग की ऐतिहासिक और सामाजिक पृष्ठ-भूमि की सही तस्वीर को नए सिरे से अंकित किया जाय। इतिहास के तथ्यों की शोध और उन पर पुनर्विचार करके इतिहास और साहित्य के अन्योन्याश्रित संबंधों का अन्वेषण करने की प्रविधि (टेकनिक) को विकसित करने से ही रीतिकालीन इतिहास का वास्तविक रूप उभर कर सामने आ सकता है। इतिहास और साहित्य के बीच जिस बिन्दु पर विम्ब प्रतिविम्ब भाव की परिणति होती है, वही बिन्दु इतिहास की शाश्वत धारा की शाश्वत लहर के रूप में जन-जीवन का प्रेरणा-स्रोत बन सकता है। साहित्य में मनुष्य के समन्वित (इंटीग्रेटेड) व्यक्तित्व का ही प्रस्फुटन हुआ करता है। अतः हम कह सकते हैं कि वह इतिहास जो साहित्य में प्रतिबिंबित नहीं हो सका है, उसने लोक मन को गहराई से कभी प्रभावित ही नहीं किया था। अतएव इतिहास लेखन के क्षेत्र में साहित्य को प्रमाण मानने की आवश्यकता है।

इस नई प्रक्रिया के अन्तर्गत राजनैतिक इतिहास के नवीन तथ्यों के अतिरिक्त सामाजिक, आर्थिक और व्यापारिक वस्तुस्थितियों के सम्यक संदर्भों में विवेक-पूर्ण इतिहास-बोध के माध्यम से जब रीतिकाल का नए सिरे से मूल्यांकन किया जायेगा, तब निश्चय ही इस युग में लिखा गया विपुल साहित्य अपनी कलंक-केंचुल को उतार कर तेजस्वी चेतना के अधिष्ठान के रूप में हमारे भविष्य-पथ का प्रेरणा-स्रोत बन जाएगा।

☐ रीतिकाल का सीमांकन—छंदगत वैशिष्ट्य :

जिस साहित्य-युग को हम 'रीतिकाल' नाम से अभिहित कर रहे हैं, उस युग के सम्यक अध्ययन के लिये इसका आरम्भ और अन्त जान लेना आवश्यक होगा। प्रस्तुत प्रसंग में इस युग के आरंभ-काल की ही चर्चा करना अभीष्ट है। रीतिकाल का आरंभ जानने के लिये सबसे पहले रीतिकालीन काव्य की उन विशेषताओं को लक्षित कर लेना उपयुक्त होगा, जो इस युग की कविता की पृथकता और विशिष्टता को प्रमाणित करती हैं। पूर्ववर्ती युग से पृथकता प्रकट करनेवाले लक्षणों के आधार पर ही किसी युग को नया अभिधान देना सार्थक होता है। अतः रीतिकालीन साहित्य की काव्यगत विशेषताओं का अनुसरण करते हुए उसके स्रोत की ओर उन्मुख होकर इस युग के उद्गम के कुछ निकट पहुँचा जा सकता है। सामान्यतया साहित्यिक युगों की शुरूआत की तिथि और घड़ी निश्चित करके उसकी जन्म पत्री बनाना बहुत वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

जिस प्रकार किसी व्यक्ति के व्यक्तितत्व की चर्चा छिड़ने पर सबसे पहले उस व्यक्ति विशेष के रूपाकार आदि पर दृष्टि दौड़ती है, उसी प्रकार किसी भी साहित्य-युग की विशेषताओं को लक्षित करने के प्रयत्न-काल में उस युग के 'काव्य-रूप' में ही समीक्षक की दृष्टि का अटकना स्वाभाविक हुआ करता है। इस दृष्टि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से रीतिकाल का अनुशीलन करने से यही प्रकट होता है कि उसका समस्त काव्य वैभव दंडक जाति के कवित्त और सवैया[१] नामधारी भाषा काव्य के विशिष्ट छन्दों पर ही टिका हुआ है। इस युग की काव्य-चेतना ने इन्हीं छंदों की शोध-पूर्ण संरचना करके तद्‌युगीन जन-चित्त को वांछित रूपाकार प्रदान किया है। कवित्त और सवैया के वस्त्राभरण में रीतिकाल का खिलखिलाता हुआ सौन्दर्य-बोध, कवियों के उच्छ्‌वसित हृदय का संगीत और उनके वैदुष्य की आभा से इन छंदों की चेतना परिपूर्ण है। छंद-विधान को मन अथवा आत्मा की शाश्वत भाषा की देन कहा जा सकता है। मन की छंद रूपी अस्फुट भाषा की अवतारणा स्वर-संधान, लयों, मीड़ों, आलापों और टेक के माध्यम से होती है। यही तत्व छन्द विधान के मूलाधार हैं। रीति युग के सवैया और घनाक्षरी छंदों में युग-मन का प्रस्फुटन हुआ है। इस काल की कोमल-भावना और रूप संवेदन की जो संतुलित अभिव्यक्ति इन छंदों के कलेवर में विद्‌यमान है, उसी आधार पर कवित्त छन्द रीतिकाल में कवि-कर्म का पर्याय बन गया था। रीतिकाल में परिमार्जित हुए छंदों को माध्यम बनाकर जब हम समूचे युग पर दृष्टिपात करते हैं, तो रीतिबद्‌ध काव्य, रीति-मुक्त काव्य, वीर काव्य, इतिहास काव्य तथा नीति काव्य इत्यादि के ऊपरी पार्थक्यों के अन्तराल में सम का संवादी स्वर सुनाई पड़ने लगता है। इन छन्दों (रीतिकाल में सवैया भी कवित्त कहलाता था) की सृष्टि करने में भाषा-कवियों की प्रतिभा को जो सफलता मिली है, वह विस्मय-जनक है। इसके पहले दोहा, चौपाई और पदावलियाँ आदि को ही भाषा-कवि अपनी अभिव्यक्ति का आधार बनाए हुये थे। भाषा साहित्य के आरंभ काल के समस्त छन्द-रूप उसे किसी न किसी पूर्ववर्ती परम्परा से प्राप्त हुए थे। अतः यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि विविधता भरे कवित्त और सवैया छन्दों की शोध-सृष्टि, भाषा साहित्य की मौलिक एवं सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि[२] है। रीतिकाल के

---

१. 'गंग कवित्त' (नागरी प्रचारिणी सभा प्रकाशन सं० २००७) की भूमिका में आचार्य विश्वनाथ, प्रसाद मिश्र ने कवित्त, सवैया छन्दों का गवेषणापूर्ण परिचय दिया है (पृ० ५-७)। 'देव और उसका कवित्त' (१९५७ ई०) में डा० नगेन्द्र ने भी इन छंदों पर महत्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं (पृ० २४२-५८)। सुप्रसिद्‌ध ध्रुवपदीय वीणाकार पं० भरतजी व्यास की मान्यता है कि कवित्त छंद 'ध्रुवपद' से ही विकसित किया गया है। एक निर्दोष कवित्त 'ध्रुवपद' की गायिकी में पूर्ण उतरता है।

२. फारसी भाषा के छंदों ने प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से रीतिकालीन छंदों के निर्माण एवं इनके परिष्कार में अपना योगदान किया है। चार चरणों का छंद सवैया, रूबाई के सन्निकट खड़ा किया जा सकता है। यही नहीं 'भाषा कवियों ने 'पठन्त' में एक पंक्ति की आवृत्ति करके इसे चार की जगह पाँच पंक्तियों के छंद का बजन देकर चतुष्पदी छंदों का 'सवाया' बनाने के साथ फारसी भाषा के पाँच चरणों के मुखम्मस छंद के समानान्तर बनाने का काम भी संपादित

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

कवि सुनिश्चित रूप से पिंगल शास्त्र का अभ्यास करने के साथ इस विषय पर नये-नये ग्रन्थ भी लिखते रहते थे। अलंकार और रस आदि की अपेक्षा रीतिकाल में पिंगल शास्त्र को अधिक महत्व प्राप्त था। ब्रजभाषा के लिए 'पिंगल' नाम का प्रचलन इसी दृष्टि का परिणाम है। इस काल में लिखे गए पिंगल-ग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि रीतिकाल के भाषा-कवि हजारों प्रकार के छंदों का ज्ञान रखते थे।

रीतिकालीन काव्य की छन्दगत विशिष्टता को सर्वाधिक महत्व देने की आवश्यकता है। इसका यही कारण है कि प्रत्येक काव्य-युग के साथ उसके स्वकीय छंद का इतिहास भी अभिन्न रूप से जुड़ा रहता है। युग-विशेष की भाव एवं संगीत चेतना का संपूर्ण व्यक्तित्व उसके छंद रूप में ही गठित हुआ करता[1] है। किसी रचनाकार की व्यक्तिगत सीमा को लाँघकर जब कोई छंद समूचे युग की काव्य-चेतना की मुहर के रूप में सामने आ जाता है, तब उस युग-विशेष में लिखे गए साहित्य की नब्ज पकड़ने के लिये छन्द विशेष को सबसे अधिक विश्वसनीय साधन के रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए।

काव्य-भाषा की समस्त रचना-क्षमता तथा लोक की समस्त आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के बीच तालमेल स्थापित करने की दृष्टि से कवित्त-सवैया छंदों की खोज करने के लिए दीर्घकाल तक गहन चिंतन-मंथन किया गया होगा। इन छंदों को परिमार्जित और परिपक्व रूप में प्रस्तुत कर सकने की स्थिति निश्चय ही एक अविकल छंद (श्लोक) साधना द्वारा प्राप्त की गई थी। कवित्त वर्ग के छंदों का सम्यक ज्ञान प्राप्त करने के लिए ध्रुवपद के इतिहास-ज्ञान की आवश्यकता है। इसके सम्यक ज्ञान के लिए ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर को विशेष श्रेय देन की आवश्यकता है क्योंकि ध्रुवपद की गायिकी से कवित्त का गहरा संबंध है।

(शेष पिछले पृष्ठ से)

कर लिया। ध्यान रहे कि एक भाषा-संस्कृति से दूसरी भाषा-संस्कृति पर पड़नेवाले प्रभावों में ज्यों की त्यों नकल नहीं हुआ करती। इसी प्रकार मुसद्दस-षटपदी-छप्पय के सनिन्कट था। मुथम्यन (अष्ट पदी)की बावरी के लिए घनाक्षरी छंद को अनेक प्रकार से सँवारा गया। गीति प्रधान 'ग़जल' और शोक प्रधान मर्सिया आदि गेय फारसी छंदों को ध्रुवपद छंद की संगीत चेतना से रूपान्तरित घनाक्षरी की आड़ में इस तरह दबा दिया गया था कि लोक-मानस अपनी साहित्य एवं संगीत परम्परा से शताब्दियों की परतंत्रता में भी विमुख नहीं हुआ।

१. जब-जब कोई जाति नवीन जातियों के सम्पर्क में आती है, तब तब उसमें नई प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, नई आचार परम्परा का प्रचलन होता है, नए काव्य रूपों की उद्‌भावना होती है, और नए छन्दों में जन चित्त मुखर हो उठता है। नया छन्द नए मनोभाव की सूचना देता है। श्लोक का उदय नई साहित्यिक मोड़ की सूचना है। —हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पंचम व्याख्यान, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संप्रति छंद-चर्चा के प्रस्तुत प्रसंग में इतना ही कहना उचित होगा कि इन छंदों के शोध में अपने व्यक्तित्व को समर्पित करनेवाले कवियों को उचित महत्व दिया जाना चाहिये। रीतिकाल का समय निर्धारण करने में शुक्ल जी ने जाने-अनजाने इस तत्व की उपेक्षा की है। जिस तरह यूरोपीय संगीत धुनों एवं तालों के पीछे आज का नव युवक समाज आसक्त होता चला जा रहा है, वह प्रवृत्ति रीति-युग में नहीं उत्पन्न हुई थी। 'गज़ल' और रुबाई की धुनों का चस्का रीतिकाल में भारतीय लोक-मानस में क्यों नहीं घर बना सका था? इसीलिये न कि रीतिकाल की कविता में भाषा-काव्य के पाठक और श्रोता को फारसी का संगीत-माधुर्य तथा उसके काव्य-वैभव का अभाव कभी महसूस ही नहीं होने दिया गया[1] था। अतः कह सकते हैं कि जिन कवियों ने इन छंदों के गुंफन में सरसता भरने के साथ इन्हें माँज-निखार कर रूप-तेज के आकर्षण से जग मग करने में अपनी प्रतिभा और अपने कौशल का प्रमाण दिया है, उन्हीं अज्ञात कवियों की छंद-साधना ने रीतिकाल की नींव रखी थी। रीतिकालीन छंदों की विशिष्टता के समक्ष फ़ारसी के संगीत-प्रधान छंद ग्रामीण जन-समाज को आकृष्ट नहीं कर सके थे। इन तथ्यों के अनुसार कवित्त और सवैया छंदों को रीतिकाल के लक्षक रूप में ही मान्य किया जाना चाहिये।

□ परलोक के स्थान पर इहलोक अर्थात प्राकृत विषयों का ग्रहण :

छंद-चर्चा के उपरांत यह प्रश्न भी उपस्थित किया जा सकता है कि रीतिकाल के कवि 'रस', अलंकार और ध्वनि आदि काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों में से किस सिद्धान्त का अनुसरण करते थे। हमारे विचार में इस प्रश्न का उत्तर देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जब कोई व्यक्ति कविता करने के लिए उद्यत होता है, तो उसका एक यही लक्ष्य हुआ करता है कि वह ऐसी रचना करने में सफल हो जाए, जिससे रचयिता की रचना-शक्ति तथा उसके काव्य-गुणों की विशेषता का प्रमाण उपस्थित हो जाए। उत्कृष्ट रचना के लिये कवि अपने अन्तर्मन में निहित प्रेरणा से प्रस्फुटित होनेवाले काव्य-उपादानों को अपने काव्य विवेक की तुला में तौलकर ही ग्रहण करता है। भाषा, बिम्ब-विधान, मुहावरा और उक्ति आदि के समन्वित रूपों के प्रस्तुतीकरण के पीछे अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान पाठक और श्रोता की सत्ता ही कवि की अन्तश्चेतना में उपस्थित काव्य-विवेक को सुस्पष्ट करने में समर्थ होती है। इन काव्य-तत्वों का विश्लेषण करने के अतिरिक्त रीतिकालीन काव्य की अन्तर्प्रकृति का निरूपण करने की दिशा में महाकवि तुलसीदास की रचनाओं का अनुशीलन करने से समुचित प्रकाश पड़ता है। तुलसी-साहित्य के माध्यम से स्पष्ट होता है कि उनके समय में भाषा-काव्य के क्षेत्र में 'साखी' 'सबदी' और 'दोहरा' के

---

१. आधुनिक हिन्दी का आदिकाल—पं० नारायण चतुर्वेदी, पृ० ४० से तुलना करें।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

अतिरिक्त 'किहनी' तथा 'आख्यान' शैली का सम्यक रूप से प्रचार था। काव्य-सर्जन की इन शैलियों के अतिरिक्त तीसरे वर्ग में आनेवाली रचनाओं की ओर भी तुलसीदास के साहित्य में इंगित किया गया है। उन्होंने इस तीसरी कोटि में प्राकृत जन के गुण-गान और प्राकृत-विषयों के वर्णन में संलग्न कवियों को परिगणित किया है।[1] तुलसीदास के मन में प्राकृत जन शब्द के प्रयोग के पीछे जो अर्थ-कल्पना थी, उसी की शोध से रीतिकाल के प्रवाह-स्रोत को समझने और सुलझाने का कार्य सुगम हो जाता है।

राम और राम की भक्ति के अतिरिक्त शेष काव्य-विषयों का कथन तुलसीदास की दृष्टि में अल्प महत्व का विषय था। साधारण स्त्री-पुरुष के शृंगार तथा प्रेम-विरह के अतिरिक्त, राजाओं एवं युद्ध जीवी राजपूत सामंतों के यशोगान संबंधी कथ्यों को तुलसीदास ने प्राकृत-विषयों के अन्तर्गत लक्षित किया है। काव्य के थीम रूप में इन्हीं लौकिक विषयों को आदर्श काव्य रचना की दृष्टि से संत कवि ने अवांछित अथवा अनावश्यक बताया है। तुलसीदास के समय में प्राकृत विषयों की रचनाएँ प्रौढ़त्व प्राप्त कर चुकी थीं, अन्यथा वे मुक्त कंठ से इस धारा के कवियों की रचना-प्रौढ़ता की सराहना न करते।[1] भक्त कवि की निज मान्यता के अनुसार राम के प्रेम में यदि कवि की रचना समर्पित नहीं हो सकी, तो वह रचना मूल्यहीन थी। मूल रूप से वे यही मानते थे कि राम का प्रेम ही कविता कामिनी का सच्चा सुहाग है। स्त्री की वसन (घर बसाना, बस जाना, व्याह कर लेना) उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार होता है। इसके अभाव में नारी का समस्त रूप-सौन्दर्य एवं ऐश्वर्य निरर्थक और निष्फल हो जाता है।

विधु बदनी सब भाँति सँवारी।
सोह न बसन बिना बर नारी।

प्रसंग-दृष्टि से इस चौपाई का अर्थ अवधी भाषा के मुहावरे एवं काव्य शास्त्र का आश्रय लेने से ही स्पष्ट होता है। स्त्री विषयक उस युग की सामाजिक मान्यता

---

१. कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना, सिर धुनि गिरा लगत पछताना। —मानस

तथा

जे प्राकृत (प्राकृत विषयों के) कबि परम सयाने।
'भाषा' जिन हरि चरित बखाने॥
भए जे अहहिं (?) जे होइहिं आगे।
प्रनवौं सबहिं कपट सब त्यागें॥—वही

२. "कवि न होऊँ नहिं वचन प्रवीनू, सकल कला सब विद्याहीनू।" इस उक्ति में तुलसीदास ने 'प्राकृत' विषयों में लिखनेवाले कवियों के काव्य गुणों को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से भी परिचित होने की आवश्यकता है। कवि का तात्पर्य यह है कि नैसर्गिक रूपाकर्षण से युक्त तथा सब प्रकार से अलंकृत होने पर भी अविवाहित अर्थात् नैतिक दृष्टि से कलंकित (अविवाहित, स्वैरिणी) स्त्री को समाज में उचित सम्मान नहीं प्राप्त होता। तुलसीदास अपनी भक्ति-विषयक मान्यता को सामाजिक जीवन के इस दृष्टांत से पुष्ट करते हुए कहते हैं कि भगवत्-प्रेम का आदर्श ही कविता-कामिनी का सच्चा सुहाग है। अपने इस मूल भाव को वें सर्वत्र कट्टरता के साथ उपस्थित करते हैं। अयोध्या कांड में सुमित्रा द्वारा लक्ष्मण के प्रति वे यह कहलाते हैं कि—

पुत्रवती जननी जग सोई।
रघुबर भगत जासु सुत होई॥

☐ भक्ति और रीति काव्य में आदर्शगत मतभेद :

तुलसीदास और प्राकृत-विषयों पर काव्य लिखनेवालों की मान्यता के बीच सीधा टकराव होना भी स्वाभाविक था। लोक जीवन से सम्बद्ध विषयों पर काव्य सृजन करनेवाले भक्तों के आदर्श से भिन्न रीति कवि ऐतिहासिक एवं समाज शास्त्रीय आदर्शों की सृष्टि करनेवाले वीरों का विरद लिखने में संलग्न थे—

माई एहड़ा पूत जण, जेहड़ा राण प्रताप।
अकबर सूती औझ कै, जाण सिराणे साँप॥[1]

भक्त कवियों के खेमे के कवि कुंभनदास की शिक्षा न मानकर प्राकृत विषयों के नरहरि, वीरबल, और गंग प्रभृत कवियों ने दरबार में ही बैठ कर समस्त कलाओं और सर्व विद्या-विशारद दरबारी कवियों के मध्य उच्च मनोबल से भाषा काव्य की दरबारी प्रतिष्ठा के लिए समानता के स्तर पर स्पृहा ही नहीं स्पर्द्धा भी की थी। ये कवि लोक की अवहेलना या उपेक्षा करके दरबारों में प्रवेश पाने के लिए नहीं प्रेरित हुए थे। वास्तव में इनके लिए घर-संसार, समाज, दरबार तथा अध्यात्म और पर-लोक सभी आवश्यक एवं काव्य-विषय के रूप में सर्वांग सत्य थे। समाज में जिन गुणों की प्रतिष्ठा थी, उनके ग्रहण में ये कवि सबसे आगे थे। कविवर भिखारीदास का यह कथन इस संदर्भ में विचारणीय है—

गुनवंतन में जासु सुत, पहिले गन्यो न जाइ।
पुत्रवती वा मात तो, बन्ध्या ज्यों ठहराइ॥

---

१. "जननी जनै तो भक्तजन कै 'दाता' कै 'सूर'।
नाही तो तू बाँझ रह मती गँवावै नूर॥"

लोकोक्ति में दैवी भाव की कविता लिखनेवाले भक्तों और प्राकृत विषयों के रचनाकारों में समझौता कराने का प्रयत्न किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'दास' कवि के पूर्वोक्त दोहे में रीतिकाल की कविता में बौद्धिक पक्ष की प्रधानता को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है। 'दास कवित्तन की चरचा, गुनवंतन को सुख देति सदाई' इसी दृष्टि को पुष्ट करती है। इस गुनवंत शब्द का जो अभीष्टार्थ रीतिकाल में मान्य रहा है, तुलसीदास की रचना में उसका भी संकेत विद्यमान है। 'मानस' में अपनी विनम्रता प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि वचन विदग्धता के साथ सभी कलाओं और सभी विद्याओं का जाननेवाला व्यक्ति ही तुलसी के समकालीन काव्य-युग में कवि या गुनवंत माना जाता था—

'कवि न होऊँ नहिं बचन प्रवीनू।
सकल कला सब विद्या हीनू ॥'

तुलसीदास और उनके समवर्ती कवि केशवदास (आचार्य नहीं, हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास-प्रसंग में ही यह उपाधि सार्थक हो सकती है) और गंग को लेकर अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। साहित्य-जगत से संबंधित तत्कालीन ऐतिहासिक तथ्यों के विश्लेषण की दृष्टि से इन अनुश्रुतियों का पर्याप्त महत्व है। 'केशव' के अनुयायी और उनकी कविता के प्रेमी यह कहते थे कि तुलसीदास के 'मानस' की प्रतिस्पर्द्धा में केशवदास ने सम्पूर्ण रामचन्द्रिका की रचना एक ही रात में कर डाली थी, किन्तु तुलसीदास के प्रशंसक और भक्तों ने प्रचारित किया कि केशव ने राम-कथा को भक्ति-भाव से विरहित होकर ही लिख डाला था, इसीलिए मरणोपरांत वे प्रेत-योनि के दुख भोग रहे थे। 'गोसाईं चरित' के लेखक एवं कवि जगत की अनुश्रुति परम्परा के अनुसार तुलसीदास ने ही केशवदास का प्रेत-योनि से उद्धार किया था।[1] इसी तरह यह भी कहा जाता है कि 'गंग' और तुलसीदास जी के बीच कभी साहित्यिक वाद-विवाद हो गया था। संत के साथ मुँह लड़ाने के पाप ने ही उन्हें बादशाह जहाँगीर का कोप-भाजन बना दिया, जिसके फलस्वरूप महाकवि को हाथी के पैरों के नीचे कुचलवा दिया गया। तुलसी के समक्ष गंग ने क्या अहंमन्यता प्रकट की थी, इसे हम नहीं जानते, किन्तु भाषा काव्य का प्रशंसक समाज दोनों महाकवियों को प्रायः

---

१. महाकवि देव ने 'वैराग्य शतक' ग्रंथ में वीरबल, केशवदास और गंग को लक्ष्य करके लिखा है कि—

कविर परम प्रवीन बीरवर, केसौ, गंग की,
सुकविताई गाई सत पायी ने।
एक दल सहित विलाने एक पलही में
एक भए भूत, एक मींजि मारे हाथी ने॥

मेरे विचार में केशव की प्रेतात्मा का उद्धार करने का यह आशय है कि यदि तुलसी दास ने सरल लोक-शैली में रामायण न लिखी होती, तो राम कथा का उद्धार न हुआ होता।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समानता की तराजू पर तौलता रहा है। रीतिकालीन कवियों के बीच प्रचलित लोकोक्ति इसका प्रमाण है—

तुलसी गंग दुबै भए, सुकविन के सरदार।
इनकी कविता में मिलै, भाषा विविध प्रकार ॥

□ लोक-कल्याण के साधक महाकवि नरहरि—इतिहास की नई दिशा :

रीतिकालीन कविता में प्राप्त इन अन्तर्साक्ष्यों से प्रकट होता है कि महाकवि तुलसीदास के समय में प्राकृत विषयों पर काव्य रचना की परम्परा सशक्त रूप में स्थापित हो गई थी। 'साहित्य दर्पण' के रचयिता विश्वनाथ महापात्र के वंश में उत्पन्न असनी के महापात्र नरहरि की रचनाएँ पंजाब से लेकर बिहार और उड़ीसा तक फैले प्रदेशों की जनता के कंठ में चढ़ गई थीं।[1] कहा जाता है कि नरहरि महापात्र ने नीति से सम्बन्धित एक हजार छप्पय छंदों का नीति हज़ारा नामक एक ग्रन्थ लिखा था। राजनैतिक प्रसंगों पर इन छंदों को समय-समय पर उद्धृत करने की परम्परा भी रही है। महाराज छत्रसाल बुंदेला ने जयपुर के सवाई राजा जयसिंह को एक पत्र लिखा था, जिसके शीर्ष में नरहरि का छप्पय उद्धृत किया गया है। यह पत्र राजस्थान आर्काइव्स बीकानेर में सुरक्षित है। इसी से इस धारा की कविता की उपादेयता और जीवन तथा राजनीति के साथ रीतिकालीन कविता की प्रासांगिकता का अनुमान लगाया जा सकता है। कृष्ण कवि द्वारा शोधित भाटों की परम्परा में नरहरि कवि ने बादशाह अकबर को इतना अधिक प्रभावित किया गया था कि स्वयं अकबर बादशाह ने उनकी पालकी के बाँस को सुवर्ण से मढ़वाकर अपने कंधों पर उठाया था। गुणग्राही बादशाह अकबर ने क्यों ऐसा किया था, उस पर विचार कर लेना आवश्यक होगा क्योंकि इसी नींव पर रीतिकालीन साहित्य का महत्व निर्मित हुआ है।

भाटों की कवि परम्परा में प्राप्त अनुश्रुति के अनुसार किसी समय प्रयाग पहुँचने पर अकबर ने भोग-विलास के लिए मीना बाज़ार लगवाया। नरहरि कवि अकबर से ही नहीं उसके पूर्व के अनेक बादशाहों से भी सम्मानित हो चुके थे। अतः अकबर के दरबार में उनको विशेष सम्मान प्राप्त था। राज सम्मान एवं राज संरक्षण से मिली सुविधाओं की चिंता न करके उन्होंने इस अन्याय को समाप्त कराने का निश्चय किया और अन्याय का प्रतिवाद करने के लिए सन्नद्ध हो गए। शायद इसी व्यक्तित्व के कारण उनके समकालीन बाराबंकी जिले के भाट कवि 'होलराय' ने नरहरि के लिए 'नर' विशेषण का व्यवहार किया है।

१. नरिहरि कवि की वंशावली के अनुसार विश्वनाथ को महापात्र पदवी दी गई थी और वे ब्रह्म भट्ट तथा नरहरि के पूर्वज थे। इस वंशावली की प्रति श्री विद्यानिवास मिश्र के पास भी है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

बादशाह और उसका मीनाबाजार सात सैनिक चौकियों के अवरोध के भीतर स्थित था। जब पहली चौकी के सैनिक अधिकारी ने कवि को प्रवेश करने से रोका, तो नरहरि ने उसके समक्ष एक छप्पय पढ़ कर मुख्य द्वारपाल के पराजित पुरुषार्थ एवं उसकी दबी हुई राजपूती नैतिकता को झकझोर कर खड़ा कर दिया। सैनिक ने कविता सुनते ही सर झुका कर महाकवि एवं महामानव को आगे बढ़ने का रास्ता दे दिया। पहली चौकी पर सैनिक के पुरुषार्थ का उद्बोधन करने के लिए पढ़ा गया ऐतिहासिक कवित्त उद्धृत किया जा रहा है। इसी का श्रवण करने से भीरू व्यक्ति में योद्धा के गुणों का प्रस्फुटन हो गया था। 'भीरु' को 'भट' बनानेवाले काव्य-युग में लिखा गया नरहरि का कवित्त है—

जदपि कुसंग संग लाभ तदपि वह संग न किज्जै,
जदपि धनिक ह्वै निधन, तदपि घट प्रकृत न लिज्जै,
जदपि दान नहिं सक्ति, तदपि सनमान न खुट्टिय,
जदपि होय अध उरध, तदपि अध उरध न टुट्टिय,
सुनि सुभाख कद्दर किवर, नरहरि बचन न मुक्किए,
जिय जाय जदपि भलपन करत, तदपि न भलपन चुक्किए ॥

नैतिकता और साहस आदि गुणों का स्फुरण करने की दृष्टि से यह छप्पय कितना समर्थ है, इसे इस छन्द में प्रयुक्त शब्दों से विकीर्ण होनेवाली चिनगारी के माध्यम से लक्षित किया जा सकता है। सैनिक को सम्बोधित करते हुए कवि कहता है कि ए द्वारपाल ! तू बादशाह के कुसंग में पड़कर स्वयं को क्यों पतित कर रहा है ? माना कि राजपाट चले जाने और निर्धन हो जाने के कारण आज तुझे धनी बादशाह की नौकरी करनी पड़ रही है, फिर भी तुझे अपने प्रकृत गुणों (राजपूती गुणों) की उपेक्षा करके हीन चरित्र व्यक्ति के धन के लोभ में अपने स्वभाव को नहीं बेचना चाहिए। प्रारम्भिक पंक्तियों में अपने तर्कों से प्रभावित करने के लिए कोमल भाषा का व्यवहार करते हुए कवि ने श्रोता को सम्मोहित करने में सफलता प्राप्त की है। जब उनकी भाषा का यह जादू सिर पर चढ़ कर बोलने लग जाता है, तब उस सैनिक अधिकारी को कायर और कापुरुष कहते हुए फटकार और व्यंग्य द्वारा जगाते हैं कि अगर तू सचमुच वीर है, तो निरीह प्रजा पर होनेवाला यह अन्याय किस तरह सहन कर रहा है ? इसी ऊर्जस्वित वाणी के गायक नरहरि कवि के समक्ष प्रथम सैनिक चौकी के अधिकारी ने अपने प्राणों की परवाह न करके कवि को आगे जाने का मार्ग दे दिया था।

कवि नरहरि ने अपने छप्पयों के सम्मोहन से हर चौकी के द्वारपाल को इस रूप में प्रभावित किया कि एक के बाद दूसरे क्रमशः सभी द्वारपालों ने कवि को आगे बढ़ने का मार्ग दे दिया। कवि ने प्रत्येक चौकी के मुख्य द्वार पर अलग-अलग सात

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवित्त पढ़े थे, जिनकी प्रतिलिपि कविमणि कृष्ण कवि के पास सुरक्षित है। इनमें से कुछ छप्पय किंचित पाठान्तरों के साथ 'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' ग्रन्थ में भी उपलब्ध होते हैं। ऐतिहासिक संदर्भ के अभाव के कारण इन छंदों के अभिप्रेत अर्थ पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

शाही पहरे की सात चौकियों को पार करके जैसे ही कवि अकबर के अन्तः पुर में दाखिल हुआ, वैसे ही मर्यादा भंग से जाग्रत होनेवाले क्रोध के कारण तमतमाते हुए बादशाह ने म्यान से अपनी तलवार निकाल ली। नरहरि ने इस आसन्न भयानक परिस्थिति में भी संतुलन पूर्वक बड़े ही धैर्य और विनय के साथ अकबर के समक्ष आठवाँ छप्पय पढ़ा जो इस प्रकार है :—

को सिखवत कुल बधुन लाज गृह काज रंग अति,
हंसन को सिखवत्त करन पय पानि भिन्नगति,
सज्जन को सिखवत्त दान सनमान सुलच्छन,
सिंहन को सिखवत्त हन गज कुंभ ततच्छन,
जग रचना नरहरि निरख कुल-स्वभाव को मिट्टवै।
गुण धर्म अकब्बर साह सुन, को नर काको सिक्खवै ॥

कवि के साहस एवं उसकी प्रवन्ध वक्रता का अकबर के हृदय पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसके हृदय में उठा क्रोध का उफान शान्त होने लगा। मुग़ल बादशाह अपनी वंश परम्परा को चंगेज खाँ और तैमूर जैसे विश्व विजेता बादशाहों के साथ स्थापित करते हुए अपनी श्रेष्ठता का दावा करते थे। मुगल शाही फरमानों में तैमूर से प्रारम्भ शाही पीढ़ियों के चिह्नों वाली मुहर अंकित की जाती थी। अतः इस परिप्रेक्ष्य की ओर संकेत करके नरहरि ने अकबर के हृदय में निहित कुल-सम्मान की भावना को उद्बुद्ध कर दिया। कवि ने कहा कि तुम्हारी कुलीनता तुम्हारे आचरण द्वारा प्रकट होनी चाहिए। कवि की इस मार्मिक उक्ति को सुन कर अकबर ने म्यान से निकली हुई अपनी तलवार को पुनः म्यान में रख लिया। अपनी सफलता से उत्साहित होकर कवि ने बादशाह के समक्ष नवाँ छप्पय पढ़कर प्रार्थना और प्रशस्ति से समन्वित वाणी द्वारा शाहंशाह को इतना अभिभूत कर दिया कि उसने तत्काल कवि के गाँव असनी के सन्निकट प्रयाग में लगे मीना बाजार को बन्द कराने की आज्ञा दे दी। इतनी ही नहीं स्वयं के कंधों पर कवि की पालकी उठाकर "नर पुरुष" नरहरि के प्रति अभूतपूर्व सम्मान प्रकट किया। अकबर के आलोचक समकालीन इतिहासकार बदायूनी के वर्णनों में अकबर के हृदय परिवर्तन की सम्यक् चर्चा की गई है। अतः इन छप्पयों की ऐतिहासिकता पर संदेह नहीं किया जा सकता। अकबर को सम्बोधित करके लिखे गए अंतिम छप्पय का प्रत्येक शब्द ध्यान देने योग्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। मुहावरे और लोकोक्तियों को संगुंफित करके प्रस्तुत छप्पय में कितनी गहरी व्यंजना भरी गई है, इसका साक्ष्य उपस्थित छंद में स्वत: प्रस्फुटित है—

नरहर धर हर को करै, जननि सुतहिं विष देय,
कर जो खेतहिं हठि चरै, साहु परद्धन लेय,
साहु परद्धन लेय, नाव करिया गहि बोरै,
जेइ पाहरु तेइ चोर, रीति प्रियतम हठि तोरै,
नृपति प्रजहिं दुख देय, कवन समरथ कर धरहर,
सुनिए अकबर साह, बचन बिनती कर नरहर ॥

तैमूर के समकालीन 'शीराज' के फ़ारसी कवि 'शम्स अल मुहम्मद हाफ़िज़' का नाम फ़ारसी साहित्य के शीर्ष कवियों में गिना जाता है। शीराज़ पर आक्रमण करके जब तैमूरलंग ने सुल्तान जैनल आब्दीन से शीराज छीन लिया, तब बहुत से ईरानी बन्दी बनाए गए। हाफिज भी बन्दी किए गए। तैमूर के सामने पेश किए जाने पर इनकी 'सभाचातुरी' से भरी काव्योक्ति से प्रसन्न होकर इन्हें मुक्त कर दिया।[1] हाफ़िज की कविता की अपेक्षा नरहरि की कविता लोक-हित साधन की कसौटी पर अधिक प्रभावशाली एवं अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। जिस कवि की कविता में विचारों को उद्वेलित करने की इतनी अधिक क्षमता विद्यमान थी एवं जिसने अपने काव्य द्वारा अकबर के व्यक्तित्व के माध्यम से इतिहास की धारा को मोड़ देने में सफलता पाई, उस कवि को उत्पन्न करनेवाली काव्य-परम्परा को किस न्याय से हेठा समझ लिया गया है? इसकी उपेक्षा करके लिखा गया हिन्दी साहित्य का इतिहास किस न्याय से विवेक पूर्ण एवं वैज्ञानिक कहा जा सकता है?

नरहरि कवि को भाटों की परम्परा के प्रतिनिधि कवि के रूप में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। उनके समय में इस परम्परा में छोटे बड़े हज़ारों कवि विद्यमान थे। इस परम्परा में जिस प्रकार की कविता हुआ करती थी, उसको फ़ारसी भाषा के कवियों ने भी मान्यता प्रदान की थी। इसी को लक्ष्य करके रहीम के दरबार में उपस्थित होनेवाले कवि 'कौसरी' ने लिखा था 'वतरज़े ताजा मद्दे तो आशना गरदीद'। इसी विशिष्ट तर्ज़ के लिए तुलसीदास ने पार्वती मंगल में 'रीति' शब्द का व्यवहार किया है—

कवित रीति नहिं जानऊँ, कवि न कहावउँ।
मति अनुरूप राम गुन गावए।

१: देखिए क्लासिकल पर्शियन लिटरेचर (अंग्रेजी): ए० जे० अरबेरी, पृ० ३२८, प्रकाशक रस्किन स्ट्रीट लन्दन।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'छत्रप्रकास के रचयिता' लाल कवि के अनुसार उनके समय में काव्य-कला की 'रीति' समुद्र के समान विस्तृत एवं अगाध रूप में विद्यमान थी।

कविता रीति कठिन रे भाई, वाँहन समुद पैर नहिं जाई।

इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में चिंतामणि जैसे सामान्य कवि को रीतिकाल का प्रवर्तक मानना कहाँ तक उचित हुआ है?

☐ परवर्ती काव्य धारा में प्राकृति विषयों का उपवृंहण--भक्ति भी वीर रसान्वित हो गई :

प्रस्तुत प्रसंग में प्रश्न यह उठता है कि जिस समय कविगण काव्य-विषय और उसके स्वरूप को लेकर आपस में उलझ रहे थे, उस समय समाज का आम आदमी इस संदर्भ में क्या सोच-विचार कर रहा था? यह आम आदमी क्या चाहता था? क्या प्राकृत जन का गुणगान करनेवाली काव्य-धारा को तुलसीदास आदि भक्त कवियों के कारण सचमुच कोई आघात लगा था? हमारी समझ में इतिहास की शक्तियाँ स्वयं अपनी भाग्य विधाता होती हैं। इतिहास का प्रवाह कभी इस तरह की टिप्पणियों से रुका और मुड़ा नहीं करता। मनुष्य के जीवन में भाग्य का महत्व भले ही न हो, किन्तु इतिहास के अनुशीलन से नियति की ही प्रधानता पुष्ट होती है।

रीतिकाल की भाव-प्रेरणा को समझने के लिए इस युग में लिखे गए साहित्य में उपलब्ध वीरता मूलक आख्यानों पर दृष्टिपात करना उचित होगा। महाभारत मूलतः युद्ध और राजनीति प्रधान ग्रन्थ है। रीतिकाल में महाभारत के प्रति सामान्य जन की विशेष रुचि रही है। सबलसिंह चौहान कृत महाभारत, कवित्त और सवैया में लिखा गया ग्रंथ-'विजय मुक्तावली' विशेपरूप से लोक प्रिय रहे हैं। इनके अतिरिक्त भी महाभारत के अनेक संस्करण भाषा के विभिन्न कवियों ने उपस्थित किए हैं। महाभारत के कथ्य के प्रति रीति युग का प्रेम यहाँ तक पहुँच गया था कि 'आल्हखंड' और 'पृथ्वीराज रासो' के पात्रों पर भी महाभारत के पात्रों का आरोप घटित कर लिया गया। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि लोक-काव्य 'आल्हखंड' ने महाभारत की चेतना को आत्मसात कर लिया था। महाभारत का पठन-पाठन केवल मन वहलाव तक ही सीमित नहीं था। महाभारतकालीन वीरों का अनुकरण करने की दिशा में इस युग का जन सामान्य जिस भावना के साथ कृतसंकल्प था, इसे औरंगजेब के सरकारी इतिहासकार ने 'मआसिरे आलमगीरी' नामक ग्रंथ के पृ० ७२ में प्रस्तुत किया है। उसने स्पष्ट लिखा है कि सतनामी साधु (साध ?) महाभारथ के वीरों का आदर्श रखकर मुग़ल सेना के साथ युद्ध कर रहे थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्गों के बीच इस युग में वीर रस की ऐतिहासिक रचनओं के प्रति गहरी अभिरुचि विद्यमान रही है। गुरु गोविन्दसिंह जी ने 'कृष्णावतार' में लिखा है कि इन पौराणिक वीर गाथाओं को भाषा में प्रस्तुत करके वे राष्ट्र की वीर-पूजा-भावना को सींचते रहना चाहते हैं। 'चण्डी चरित्र' आदि भक्ति काव्य वास्तव में वीर रस की ही रचनाएँ हैं। इतिहास की वास्तविकता तो यह है कि इस युग में ईश्वर भक्ति भी वीर रसोन्मुख हो गई थी। छत्रसाल, गुरु गोविदसिंह और भगवंतराय जैसे योद्धा कवियों के अन्तर्साक्ष्यों से इस तथ्य की पुष्टि होती है। दूसरी बात यह है कि प्राकृत विषयों की मूल काव्य-चेतना ही तुलसीदास के परवर्ती युग में विकासमान रही है, और मंदिरों के प्रांगणों में पहुँची भक्ति रास लीला रचयिताओं के हाथों में गुह्य विषय बन गई। तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित की गई भक्ति परम्परा में हनुमान का वीर रूप ही जनता एवं कवियों को शिरोधार्य हुआ। आलोच्य युग में वीर रस का प्रभाव इतना व्यापक था कि भक्ति का स्वरूप भी वीर रस प्रधान हो गया[१]। वीरों के आराध्य देवता के रूप में हनुमान के लोकप्रिय होने का रहस्य यह था कि वीरता ही इस युग की वास्तविक माँग थी। गुरु अर्जुन देव के सुझाए मार्ग का अनुसरण करते हुए दक्षिण महाराष्ट्र में समर्थ गुरु रामदास एवं उत्तर भारत में स्वामी प्राणनाथ एवं गुरु गोविन्दसिंह जैसे संतों ने भक्ति पथ के अनुयायियों को समयानुकूल शस्त्र ग्रहण की प्रेरणा देकर उपासना को लोक-रक्षण के कार्य में प्रवृत्त करने का उद्योग किया था। छत्रसाल और भगवतंराय के नेतृत्व में यह परम्परा बुंदेलखंड में उत्कर्ष पूर्ण अवस्था में पहुँच गई थी। शिवाजी की पीठ ठोकनेवाले महाराष्ट्र के संत समर्थ गुरु रामदास ने तुलसीदास के ही समान महाराष्ट्र में हनुमान की उपासना का प्रचार किया था। हनुमान और 'चंडी' इन्हीं दो देवताओं की आराधना को रीतिकाल के युद्ध कामी सामन्तों और जन नायकों ने विशेष रूप से अपनाया था। कृष्णावतार में गुरु गोविन्दसिंह जी ने लिखा है कि "और वासना नाहिं कुछ, धर्म युद्ध की चाह"। इसी आशय की पुष्टि करनेवाले अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। यथा—

देहि शिवा वर मोहिं यहै, शुभ कर्मन ते कबहूँ न टरौं।
जब आयु की अवधि निदान बनै, अति ही रण में तब जूझ मरौं।

वस्तुस्थिति के अनुसार हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि भक्ति-भाव प्रायः वृद्धावस्था में ही उत्पन्न हुआ करता है। युवक-हृदय में भक्ति भाव का समुचित

---

१. धन्य जीव तिह को जग महि,
मुखते हरि चित्त में युद्ध विचारं।"—कृष्णावतार—श्रीगुरु गोविन्दसिंह जी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पल्लवन नहीं हो सकता। लोक जीवन का अनुभव बताता है कि आवेश में आकर वैराग्य लेनेवाले युवक बहुधा पथ-भ्रष्ट हो जाया करते हैं। ऐसे लोगों के संन्यास प्रवेश से तुलसीदास जी को भी आपत्ति हुई थी। नानक जी ने तो इसे निषिद्ध ही कर दिया था। गुरुगोविन्द सिंह जी की वाणी में अविवेकी मूढ़ साधुओं के ऊपर कड़े प्रहार किए गए हैं। लोक भी इनकी ओर संदेह की दृष्टि से देखता था। कहावत है कि 'ज्वान जोगी, वैद रोगी' से बचना चाहिए।[1]

सामान्य रूप से वीर और शृंगार रस की साधना ही युवकों को अभिप्रेत हुआ करती है। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के साथ-साथ किंचित रूप से दैवी-प्रेम, भाव को यदि बीज रूप से प्रारम्भ में ही बो दिया जाय, तो वृद्धावस्था की अनुकूल वय प्राप्त करने के उपरान्त भक्ति-भावना में निरंतर वृद्धि की आशा की जा सकती है। इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार ईश्वर-चिंतन के प्रति प्रारम्भ से ही कुछ न कुछ लगाव बनाए रखना आवश्यक होता है। रीतिकाल की कविता में भक्ति-भाव के प्रति कवियों का यही दृष्टिकोण प्रतिफलित हुआ है। राधा और कृष्ण का नाम स्मरण करने के लिए रीतिकालीन कविता अवसर प्रदान करती थी। उत्साह और यौवन से परिपूर्ण युवकों को शृंगार एवं वीर रस का पान कराने के साथ-साथ भक्ति के धार्मिक भाव का संसर्ग कराते हुए लोक-साधना के साथ साथ परलोक चिंतन का मार्ग प्रशस्त करने का काम भी इस युग के काव्य में सम्यक रूपेण संपादित किया गया है। रीतिकालीन शृंगारी काव्य के इन लक्षणों के प्रकाश में इस मान्यता में संशोधन किया जाना चाहिए कि राधाकृष्ण के नाम घिस घिसाकर साधारण नायक-नायिका के रूप में ही अंकित हो गए थे। वास्तविकता तो यह है कि लोक को रुचनेवाले शृंगारी आलम्बनों का उदात्तीकारण करने में ही रीतिकालीन कवियों की मेधा दत्त-चित्त हुई है। इस वस्तुस्थिति के आधार पर कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कविता सामाजिक जीवन-बोध की तराजू पर अपनी पूर्ववर्ती कविता की अपेक्षा जीवन-क्षेत्र में अधिक व्यावहारिक दृष्टि रखती थी। इस कविता में जीवन की वास्तविकता से आँख मूँदने और भागने के स्थान पर जीवन के भोग पक्ष एवं उसकी पूर्ति के लिए चुनौतियों को उचित रूप में स्वीकार किया गया है।

कबीरदास जी ने जब अपने आस पास प्रशंसकों की भीड़ इकट्ठा होते हुए देखी, तब उनसे यह कहा कि जो लोग 'राम' को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें अपने घर (सांसारिक मायामोह) को लुकाठा से जला देने के पश्चात् ही मेरे पास आना चाहिए। तुलसीदास ने इस उक्ति में संशोधन करते हुए यह कहा कि 'घर और वन' दोनों के बीच मध्यम मार्ग का अनुसरण ही उत्तम होता है, किन्तु रीतिकालीन

---

१. सूर घमसान है पलक दो चार का, सती घमसान पलक एक लागै।
साध संग्राम है रैन दिन जूझना, देह पर्यन्त का काम भाई॥ —कबीर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवियों ने घर तथा घरनी (नायिका) के साथ मधुर संबंध बनाकर लोक-साधना को ही प्राथमिक मान्यता दी।

आध्यात्मिकता को अनावश्यक रूप से ओढ़नेवाला समाज ऊँघने लगता है। काल्पनिक लोक में विश्राम ढूँढने की प्रवृत्ति अन्ततः घातक सिद्ध होती है। इसी व्यवहार-बुद्धि के कारण रीतिकाल में हाथ पर हाथ रह रख आकाश से सहायता माँगने के स्थान पर लोक द्वारा अपनी रक्षा के लिए शस्त्र धारण का संकल्प किया गया था। गुरु गोविन्दसिंह जी ने 'शस्त्रनाम माला पुराण' की रचना द्वारा जनता को **अस्त्र-शस्त्रव्रती** होने का पाठ पढ़ाया है। आत्म-कथा प्रधान 'विचित्र नाटक' के मंगलाचरण में भी खड्ग की स्तुति की गई है। शिवाजी अपनी तलवार को ही भवानी मानते थे। उन्होंने छत्रसाल को जो तलवार भेंट की थी, उसमें भी 'भवानी' खुदा हुआ है। 'धुवेला ताल' के संग्रहालय में यह सुरक्षित है। भूषण की रचनाओं से स्पष्ट होता है कि वे डंके की चोट पर यही कह रहे थे कि मथुरा और काशी के मंदिरों की मूर्तियाँ जनता की रक्षा नहीं कर सकी हैं, वरन् शिवाजी जैसे एक शस्त्रधारी वीर महा पुरुष ने ही जनता के धर्म के साथ मथुरा और काशी की मूर्तियों की भी रक्षा की है। भक्ति काव्य और रीतिकालीन काव्य के मध्य स्थापित इस मूलभूत अंतर की तरफ ध्यान ही नहीं दिया गया है। इस काल के कवियों ने लुका छिपी और रूपकों की भाषा को छोड़कर अपने कथ्य को पुरुषोचित भाषा में कहने का साहस दिखाया है! जिस तरह संत काव्य के प्रतिनिधि कवि कबीरदास, अष्टछाप के सूरदास और राम भक्ति के महात्मा तुलसीदास जी हैं, उसी प्रकार भूषण रीतिकालीन ऐतिहासिक चेतना के कर्णधार हैं।

महाराज छत्रसाल स्वयं कहते थे कि कृष्ण को पुकारने की नहीं उनके पुरुषार्थ के अनुकरण की आवश्यकता है। **'तुम दनुज संघारे, हम यवन प्रहारे हैं'** में यही बात कही गई है। इसी प्रकार के विचार गुरुगोविन्द सिंह जी के 'विचित्र नाटक' नामक ग्रंथ में प्रकट हुए हैं—

"धर्म चलावन संत उबारन दुष्ट सभन को मूल उपारन।"

रीतिकालीन योद्धा कवियों का मुख्य स्वर इन्हीं **खाँड़ाव्रत**-धारियों को आदर्श बनाने का आग्रह कर रहा था **"कत्ता ऐसा बाँधिए ज्यों छत्ता बाँधि जाना है।"**

कवियों की वाणियों में प्रस्फुटित वीरता के ये आदर्श, लोक-हृदय में पूर्ण रूप से संप्रेषित भी हुए थे। व्यालू आदि से निवृत्त होकर गांवों की चौपालों, सैनिक पड़ावों एवं यात्रा-मंजिलों में इकट्ठे होनेवाले लोग आल्हखंड की शृंगार-संवलित वीर रस की कथा (प्राकृत काव्य अर्थात विषय-कथा रस) सुनते समय मंगलाचरण के बाद अल्हैत की प्रस्तावना सुनते थे, तो उनके कर्ण-कुहरों मेंप्र वेश करनेवा अल्तले

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के शब्द भक्ति एवं वीर रसों में होनेवाले युग-द्वन्द्व के संदर्भ में वीर रस की ही वरिष्ठता का प्रतिपादन करते थे—

छूटि सुमरिनी गइ देवन की,
साका सुनौ सूर वन क्यार ।।

अल्हैतों की इस प्रस्तावना को आधार बनाकर कहा जा सकता है कि निष्क्रिय बनानेवाली भक्ति का उपदेश करनेवालों को चुप करने के लिए लोक के पास सेर का जवाब देने के लिये पंसेरी नहीं तो सवा सेरी हमेशा मौजूद रही है।

☐ भाषा-काव्य में ऐतिहासिक-दृष्टि का आधार और विस्तार :

यदि (वैष्णव सम्प्रदाय=श्रौत परम्परा) भक्ति के विकास के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाय, तो यही प्रकट होता है कि वैष्णवों में बुद्ध की पूजा के प्रचलन का विकल्प प्रदान करने के लिये ही राम और कृष्ण के ऐतिहासिक नामों पर विष्णु के अवतार का आरोप कर लिया गया था। इस तरह धार्मिक कल्पना को लोक-ग्राह्य बनाने की प्रेरणा से ही अवतारवाद को ऐतिहासिक रूप प्रदान किया गया[१] है।

श्रौत परम्परा में महायानी बौद्धों की मूर्ति पूजा से प्रेरणा लेकर विष्णु-पूजा को इतिहास-सम्मत बनाने का प्रयत्न किया गया। इस दृष्टिकोण के ग्रहण का मुख्य आधार यह था कि मिथक की अपेक्षा इतिहास की वस्तुनिष्ठता मानव-हृदय को प्रभावित करने में कई गुना अधिक सक्षम हुआ करती[२] है। रीतिकाल की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इस युग में केवल 'वीर-काव्य' और 'देव काव्य' ही नहीं लिखे गए, बल्कि शुद्ध रूप से श्रेष्ठ इतिहास-काव्य भी प्रचुर मात्रा में उपस्थित कर दिए गए। रीतिकाल में लिखे गए इतिहास-काव्यों में भाषा संबंधी जो परिष्कृति और तथ्यात्मकता है, वह संस्कृत साहित्य के इतिहास काव्यों में नहीं प्राप्त होती।

---

१. "बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (डा० भरतसिंह उपाध्याय) के अनुसार भारत के इतिहास में यह एक महान बात है, जो श्रौत परम्परा में नहीं मिलती, क्योंकि वहाँ भक्ति देवताओं पर अवलम्बित थी, जिनमें ऐतिहासिक मानव का लेश मात्र वर्णन न था। बुद्ध जैसे ऐतिहासिक महापुरुष को भक्ति का आलम्बन बनाकर महायान को अभूतपूर्व सफलता मिली। इसी से प्रेरणा लेकर श्रौत परम्परा ने जिसने मूलतः भक्ति के विचार को महायान से लिया था, राम और कृष्ण जैसे ऐतिहासिक महापुरुषों को सामने लाकर उन्हें भगवान विष्णु से एकाकार करने का प्रयत्न किया। —(पृष्ठ ५९२)

२. कार्ल मार्क्स के सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक विचारों की मान्यता के पीछे मार्क्स का इतिहास-चिंतन और उस चिंतन द्वारा विश्व की समस्त चिंतन पद्धतियों को उद्वेलित करने की शक्ति को प्रमाण रूप में उपस्थित किया जा सकता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यथार्थोन्मुखता की यह प्रवृत्ति क्यों और कहाँ से आई ? इसकी निजी विशेषता क्या है ? इस प्रकार के प्रश्नों का सही उत्तर प्राप्त करने के लिए उस युग में लिखे गए ऐतिहासिक काव्यों को ऐतिहासिक अध्ययन के उपयुक्त युक्ति-युक्त ढंग से विश्लेषित किए जाने की आवश्यकता है । इस प्रविधि से साहित्यिक आलोचना के क्षितिज में विस्तार आने के साथ ऐतिहासिक विषयों की समझ का भी विकास होगा ।

प्रस्तुत ग्रंथ में स्पष्ट किया जा चुका है कि भाषा-काव्य के प्रारम्भ काल में ही 'साखी' 'सबदी' एवं 'किहनी' आदि शैलियों के समानान्तर प्राकृत जन के ऐहिक-जीवन तथा ऐतिहासिक संघर्षों को कथ्य रूप से अपना लिया गया था । अनेक कारणों से इस शैली का अधिकांश साहित्य हमारे बीच उपस्थित नहीं रह सका[1] है । मुख्यतः यह काव्य-धारा मौखिक रूप में ही प्रवाहित रही है । भाषा काव्य का समस्त युग राजनैतिक दृष्टि से इतनी उथल पुथल से भरा हुआ था कि उजड़ना और बसना जीवन के सामान्य धर्म बन गए थे । जब लोगों का जान-माल ही हर क्षण असुरक्षित था, तो पोथी-पत्रा कैसे बच सकते थे ? मंदिरों, मठों और धार्मिक संप्रदायों के साथ बँधे हुये साहित्य की सुरक्षा की संभावना इतिहास-काव्यों की अपेक्षा अधिक थी । प्राकृत विषयों को काव्य-बद्ध करनेवाले कवियों की परम्परा में कविवर विद्यापति और 'नरहरि' महापात्र के ही नाम सबसे पुराने हैं ।

नरहरि कवि के समकालीन संत कवि नानक देव ने ज्ञान और भक्ति-निरूपण के साथ साथ समकालीन राजनीति को प्रत्यक्ष एवं निर्भीक रूप से अपना काव्य-विषय बनाया था । बाबर[2] संबंधी वाणी में गुरु नानक देव ने संत-जगत को राजनीति की ओर उन्मुख करने के साथ भारतीय पुनर्जागरण को यूरोपीय पुनर्जागरण के समानान्तर और समकालीन सिद्ध करनेवाले तथ्यों को अपने काव्य में

१. चारण और भाट कवियों की परम्परा में काव्य मौखिक रूप में ही प्रचलित रहा है, उसे लिपिबद्ध करने की प्रवृत्ति बाद की देन है । अकबर कालीन प्रशासन ने इन कवियों की कृति को लिपिबद्ध करने की ओर विशेष रूप से प्रेरित किया था । जब-जब मुगल शासकों तथा हिन्दू राजाओं ने असैद्धांतिक रूप से सत्ता हथियाने के जुगुप्सित कार्यों को किया है तब-तब अपने कलुषित कार्यों को जनता से छिपाए रखने की स्वार्थ-दृष्टि के कारण ऐतिहासिक प्रमाणाधारों को नष्ट करने का काम किया गया है । मनूची कृत 'स्टोरिया डु मुगर' भाग १, पृ० ३४३ में लिखा हुआ है कि दारा की दुर्भाग्य पूर्ण हत्या के पश्चात् सम्पूर्ण घटना को लेकर एक ऐतिहासिक 'बेलेडे' (इतिहास गीत) लिखा गया था । जब इस रचना की सूचना औरंगजेब तक पहुँची, तब उसने यह घोषणा करा दी कि जो कोई इस गीत को गाएगा, उसकी जबान निकाल ली जाएगी । गुरु गोविन्द सिंह, महाराज छत्रसाल तथा भगवंतराय आदि के आश्रय में रहनेवाले कवियों की रचनाएँ भी संपूर्ण रूप में हमारे समक्ष नहीं उपस्थित हो सकी हैं, फिर इससे पूर्व का साहित्य किस तरह बचा रह सकता था ।

२. "खुरासान खसमाना कीआ हिन्दुस्तान डराइआ ।"

—गुरु ग्रंथ साहब, पृष्ठ १४५, ३६० एवं ४१७ द्रष्टव्य हैं ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपस्थित किया है। संत काव्य धारा में यह मौलिक परिवर्तन इतिहास की दृष्टि से अत्यधिक महत्वशाली है। विचार करने पर प्रगट होता है कि रीतिकाल की काव्य-चेतना १६ वीं शताब्दी में अंकुरित समस्त नव चेतना के साथ अपनी संगति सिद्ध करती है। इस काव्य धारा ने अपनी पूर्ववर्ती एवं समकालीन काव्य धाराओं को आत्मसात करके उन्हें नए रूपों और नई शैलियों में प्रकट करने का काम किया है। इन कवियों का भाव-प्रवाह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश काव्य की परंपराओं का निर्वाह करने के साथ फारसी-काव्य धारा के संपर्क-माध्यम से भी लाभान्वित हुआ था। परंपरा के ग्रहण एवं नवीनता के स्वीकरण में ही रीतिकालीन काव्य की आन्तरिक शक्ति का रहस्य छिपा हुआ है।

यदि प्राकृत-काव्य की पुष्ट परम्परा पहले से ही न विद्यमान रही होती, तो अकबर के दरबार में पिंगल और डिंगल भाषा के कवियों की बहुत बड़ी संख्या में उपस्थिति संभव नहीं हो सकती थी। नरहरि महापात्र के छप्पयों में प्राप्त लोक-हित[1] की सिद्धि करनेवाली असामान्य चेतना तथा गंग के ठनकते टकसाली कवित्तों की सरसता से उस युग के काव्य प्रेमियों के हृदय आप्लावित हो रहे थे। इन कवियों की रचनाओं के महत्व का अनुमान आज भी किया जा सकता है। कवि-लोक ने तुलसी और गंग की **समतुल्यता** अकारण ही नहीं स्वीकार कर ली थी। यदि दोनों कवियों की भाषा की संगीतात्मकता को सामने रखा जाय, तो लोक-मान्यता के मूल में निहित गंग-कवित्तों की अन्तर्वर्तिनी राग चेतना एवं संगीत प्रवणता का साक्षात्कार सहज में ही किया जा सकता है। मानस के बालकाण्ड में सीता जी के सौन्दर्य को जिस प्रकार की संगीतात्मक शब्द-ध्वनियों (अनुरणन) में तुलसीदास ने प्रस्तुत किया है, उसकी चर्चा प्रायः सभी काव्य-प्रेमियों ने की है—

कंकन किंकिनि, नूपुर धुनि सुनि, कहत लखन सन राम हृदय गुनि।

इस आधी चौपाई की तुलना में यदि गंग का यह सवैया पढ़ा जाय तो उनके छन्द में प्रयुक्त शब्दों में व्यक्त संगीतात्मक झंकार के साथ अभीष्ट भावचित्र में उत्कृष्टता प्रकट करनेवाली ध्वनि तरंगों की मैत्री (वर्ण मैत्री ?) का आस्वादन किया जा सकता है। तुलसीदास की चौपाई में आनुनासिक ध्वनियों का सहारा लिया गया है, जबकि गंग के सवैया में 'ट' वर्ग की 'ठ' और 'ढ़' जैसी परुष ध्वनियों को भी छन्द में इस तरह सुव्यवस्थित कर दिया गया है कि वे माधुर्य-गुण से आसिंचित हो उठी हैं तथा संपूर्ण छन्द की आस्वाद्यता में नवीनता उपस्थित कर देती हैं—

जोन्हहि जोति नई रँग भौनहिं,
रंग बढ़्यौ हुलसानो हिया।

---

१. नरहरि महापात्र ने फारसी के प्रचलित पंदनामों की जोड़ तोड़ से 'नीति हजारा' और नीति छप्पय की रचनाएँ की थीं। कृष्ण कवि ने कुछ छप्पयों के ऐतिहासिक संदर्भों की भी खोज की है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवि गंग अनंग को तेज बढ्यो,
अँखियान लह्यो सुख दै निदिया।
ठनकै रसना खनकै बलिया,
घनकै घुँघुरु चमकै बिंदिया।
यह कोऊ तो कोयल सी किलकी,
तजि मान मिली मनु प्रान प्रिया॥

दोनों महा कवियों की रचना में एक मूलभूत अंतर यह है कि गंग का कवित्त नायिका-भेद की परम्परा भुक्त शैली तथा मुक्तक काव्य के रूप में लिखा गया है, जबकि तुलसीदास की चौपाई 'मानस' में एक सुसंबद्ध कथा-क्रम में लिखी गई है। राम-कथा का पारायण करनेवाले तुलसी के हजारों प्रशंसकों की दृष्टि इस चौपाई की विशेषता पर अटकी, लेकिन गंग की विशेषता देखनेवाले ब्रजभाषा के मर्मज्ञ अपनी बात को नई शब्दावली में नहीं कह सके। अँग्रेजी शिक्षा संपन्न हिन्दी आलोचना के जनकों ने ब्रजभाषा के विरुद्ध पं० श्री नारायण चतुर्वेदी के शब्दों में एक प्रकार का 'जेहाद' किया था। परवर्ती काल में इसी दृष्टि का अधिग्रहण हुआ है।

गंग महाकवि थे, जबकि तुलसीदास महाकवि होने के साथ निस्पृह संत और महान विचारक भी थे। उपर्युक्त चर्चा सीमित उद्देश्य से ही की गई है। अभिप्राय यह है कि रीतिकालीन कविता का शब्द शिल्प और उसकी श्रृंगार-चेतना, संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं के समक्ष अपनी मौलिकता प्रकट करने में पूर्ण रूप से समर्थ है। उसका रचना-सौष्ठव गर्व करने योग्य है।

☐ कला बोध के स्तर पर संपूर्ण देश की एकात्मकता :

राज-संसर्ग के माध्यम से हुई फारसी से संपर्क-जन्य मैत्री के कारण कला के विकास के लिए नए वातायन भी मिले। इस काव्य में संपूर्ण इतिहास-बोध को लक्षित किया जा सकता है। २६ दिसंबर १५६४ ई० में तालीकोट के युद्ध में दक्षिण के विजय नगर राज्य के पतन के उपरान्त उक्त राजाश्रय में रहनेवाले दक्षिण भारत के हिन्दू संगीतज्ञों और चित्रकारों का प्रवेश बहमनी राज्यों में हुआ। इस तरह दक्षिण में भी समन्वित कला के आयामों के विकास के नए अवसर गतिशील हुए[1]। कुछ ही समय बाद जब अकबर ने दक्षिण के बहमनी राज्यों का दमन करने हेतु अभियान किए, तो उसके साथ में जानेवाले उत्तर भारत के सामन्त सैनिकों को दक्षिण भारत की नव-विकसित कला शैलियों का निकट से परिचय मिला। यही वजह है कि रीतिकालीन काव्य की कला संवेदना में समग्र देश के समन्वित कला-बोध की अभिव्यक्ति हुई है। इस कविता की यही विशेषता है कि उसने केवल भाषा ही नहीं बल्कि भाषा की अन्तश्चेतना,

---

1. Legacy of Persia. Page 105-106.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कला-बोध की धुरी पर देश को एकात्म करने की प्रक्रिया को तीव्र करने का कार्य-संपादन भी किया है।

इस आशय की पुष्टि करनेवाले अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। अकबर के समय में सन् १५८२-९२ के बीच बीकानेर के राव रायसिंह बुरहानपुर के 'किलेदार' अथवा राज्यपाल पद पर नियुक्त थे। उन्होंने अहमदनगर की दक्खिनी शैली के राग रागिनियों के अनेक चित्रों को बहमनी राज्यों की लूट में प्राप्त किया था। इन चित्रों में से कुछ चित्र बीकानेर के महाराजाओं के व्यक्तिगत संग्रह में अब तक सुरक्षित रहे हैं। 'कामोद' तथा 'धनाश्री' रागिनियों के अहमदनगर शैली के १५६५-६६ के बने चित्रों का उल्लेख राजकीय संग्रहालय बीकानेर के संग्रहालयाध्यक्ष श्री सगतसिंह जी ने अपने एक लेख में किया है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि दक्षिण भारत की चित्रशैलियों को कला की दृष्टि से उत्तर भारत के कला-पारखियों ने विशेष महत्व प्रदान किया था। लास्य के भावाभिनयों से परिपूर्ण नृत्य की विशिष्ट शैलियों के साथ गान विद्या के स्वर संधानों की दृष्टि से दक्षिण भारत की अपनी विशिष्टता अब तक विद्यमान है।[2] इस विशिष्टता ने बहमनी राज्यों में जो प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, उसका अनुमान करने के लिए श्री देवीसिंह व्यं० चौहान द्वारा संपादित ग्रंथ 'इब्राहीम नामा' की विद्वत्तापूर्ण भूमिका में अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। उससे एक अंश उद्धृत करना यहाँ उपयुक्त होगा। "इस जशन (वर्ष गाँठ) के लिए सब विद्यावंत इकट्ठा जमा होते थे। एक महल में ऊँचे-ऊँचे मंडप लगाए गए थे। उसमें विद्यावंत, गुणी लोग, गायन (गवय्या) जन, कव्वाल, मीरजादे जमा थे। उन्होंने सवद सोहला मनाया। दूसरी ओर उत्तमोत्तम नर्तकियाँ (पातर, पात्र) जमा हो गई थीं। नर्तकियों के तैल, अत्तरों का वर्णन करने के बाद कवि ने (इब्राहीम नामा का रचनाकार) उनके बाद यंत्रों और वादन का वर्णन किया है। इन पात्रों के सात सुरों में बावीस तान, छत्तीस रागिनियों के राग सुनाए। उन्होंने लघु, गुरु, द्रुत और प्लुत मिलाकर गा दिखाया। नृत्यों में नर्तकियों ने चौंसठ भेद दिखलाए। यह गायन नर्तन इतना अप्रतिम रहा कि इन्द्र सभा उसके सामने पोच रही। —पृ० १०१

अब हम मूल इब्राहीम नामा के रचनाकार अब्दुल दिहलवी के शब्दों को उपस्थित करना उचित समझते हैं—

कोई बाँद घुँघुँरू जरत रूप यूँ।
कहूँ नाद बजना उनन पाँव ज्यूँ॥
कि या वो जरत के सो भंवर्‌यो के हार।
करें नाद भुर भुर कँवल चर्न थार॥

---

१. एवं २. 'भारतीय संस्कृति की रूप रेखा' में प्रकाशित 'राजस्थानी चित्रकला में रागों का स्वरूप'—प्रकाशक-सादूल रिसर्च इंस्टिट्यूट बीकानेर, पृ० १४७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

× × . × ×

कोई ले उडे हात अलापे निगार।
अजब चाँद कोयल जवान मिल पुकार ।।

—इब्राहीम नामा, पृ० १७६-७७

दक्षिण भारत के ही समान उत्तर भारत के मुग़ल राजदरबारों में भी वर्षगाँठ और नौरोज़ के जश्न बड़ी सज-धज के साथ सम्पन्न होते थे। कवीन्द्र कल्पलता के अवलोकन से इसकी पूर्ण पुष्टि होती है। इन दोनों ग्रन्थों की तुलना करने से स्पष्ट होता है कि मुगल और बहमनी दरबारों में भारतीय नृत्य कला की विशिष्टता सर्व-मान्य रूप से प्रतिष्ठित थी। भाव-भंगिमा और गति की चपलता की दृष्टि से भारतीय नृत्य की जो कलात्मकता उभर कर प्रकाश में आती है, उसे रीतिकालीन कवियों ने अपने छंद बंध में ऐसी सफलता के साथ उतार दिया है कि वह आश्चर्यजनक है। कवियों के शब्द चयन में चित्रात्मकता और छंद में गति-प्रवाह के साथ घुँघरू की झंकार और सूक्ष्म भाव-भंगियों का विशद आलेखन किया गया है। जो कला चेतना खजुराहो और कोणार्क के मूर्तिकारों ने छेनियों के द्वारा पाषाण पर उकेरी थी, वही कला-बोध मंदिरों को ढहानेवाले युग में कवियों की लेखनी द्वारा इस प्रभावशीलता के साथ अवतरित हुआ कि वह जन-जन के कंठ में जा बसा। कला की ऐसी विजय-पताका फहराने का श्रेय केवल रीतिकाल को ही प्राप्त है।

संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं की मुक्तक रचनाओं का प्रभाव ग्रहण करने में ही रीतिकालीन कवि की चेतना की इतिश्री नहीं हो गई थी, वरन् उसने खजुराहो के मूर्तिकारों, अजंता और बाघ आदि गुफाओं के चित्रकारों के कला नैपुण्य को समेटने के साथ उनको अधिक सजीव और मुखर बनाने की दृष्टि से संगीत और नृत्य कलाओं की अन्तस चेतना के समीकरण द्वारा अपने युग के काव्य-बोध को प्रतिबिम्बित किया था। महाकवि देव, बिहारी, मतिराम और पद्माकर आदि कवियों का रसास्वादन करने के लिए तत्वतः भारतीय चित्रकला, मूर्तिकला और संगीत-नृत्य तथा वाद्य यंत्रों की विविध धुनों तथा शास्त्रीय एवं लोक शैलियों का सम्यक् परिचय होना आवश्यक है। इन कवियों ने अपने पाठक और श्रोता की सौंदर्य-भावना को केवल काव्य-माध्यम द्वारा अन्य सभी कलाओं से मिलनेवाली तृप्ति को समन्वित रूप में उपलब्ध करा देने की दीर्घकालीन साधना की थी।[1]

---

१. **वीणा वादन तत्वज्ञ: श्रुति जाति विशारद:।**
तालज्ञश्च ऽप्रयासेन मोक्ष मार्गं स गच्छति ।। --संगीत पारिजात: अहोवल प्रका० हाथरस।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतिकालीन कविता में नृत्य कला के आधार तत्व चाक्षुष भाव-बिंबों की संयोजना को विशेष रूप से ग्रहण किया गया है। शाहजहाँ के दरबार में उपस्थित एक नर्तकी द्वारा बिंदी सँवारने के व्याज से बादशाह को सम्मोहित करने का कैसा अनूठा चित्र उपस्थित किया है, यह देखने योग्य है—

तब मैं रीझि सँवारी बिंदुली, यह मिस कर्‌यौ प्रनाम।
उनहूँ (शाहजहाँ) समुझि सँवार्‌यो तुररा, मार्‌यो कुररा कामु॥
× × × ×
"जाति पाँति कुल धरम गँवायो, प्रान पियारो पायो।
कोऊ कछू कहोरी होरी में, कियो काजु मन भायो॥"

—कवीन्द्रकल्पलता, पृ० ३५

इस उद्धरण में स्पष्ट है कि भारतीय नारी के सौंदर्य प्रसाधन 'बिंदुली' ने मुग़ल बादशाह की पगड़ी के तुर्रा को नीचे झुका कर उसे पैताने बैठा दिया था।

इस चतुरा नायिका की भाव-भंगी ने सम्राट के हृदय में काम-भावना का ऐसा कशाघात किया कि वह युवती के समक्ष पूर्णतः सर्मपित हो गया। सौंदर्य के धरातल पर इन कलावन्तों ने किस तरह विजेता शासकों को भारतीय कलाओं का उपासक बना लिया था, इसे सर्वत्र देखा जा सकता है।[1] धर्म और पद की विशिष्टताओं की खाइयों को पाटते हुए मनुष्य और मनुष्य के बीच होनेवाले प्रेमाकर्षण के चित्रण में

(शेष पिछले पृष्ठ से)

तथा

तंत्री नाद कवित्त-रस, सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग॥—बिहारी

इन्हीं विशेषताओं के ग्रहण से रीतिकालीन कविता चिर नवीना की तरह अपने पाठक-श्रोताओं का कंठहार बनी रही है। सौंदर्य-बोध के दो उदाहरण हैं—

"अभिनव जोबन ज्योति सौं, जगमग होत बिलास।
तियके तन (कविता) पानिप बढ़ै, पिय (श्रोता) के नैननि प्यास॥

तथा

'जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरु जन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति॥' —मतिराम

१. बीजापुर के इब्राहीम आदिल शाह द्वितीय ने १००८ हिजरी अर्थात् १६०३ ई० के आसपास 'नवरस' नामक एक रचना भाषा में लिखी है। इसी प्रसिद्ध ग्रंथ की भूमिका फारसी भाषा के महाकवि जुहूरी ने फारसी में लिखी थी। इब्राहीम ने 'नौरस पुर' नामक नगर भी बसाया था। जुहूरी ने इब्राहीम की प्रशंसा में लिखा है कि 'अगर बुल-बुल कशद आवाज़ वशन्, देहद

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतिकाल को जैसी सफलता मिली है, वह भाषा काव्य का स्वर्णिम पृष्ठ है। इब्राहीम आदिलशाह बीजापुरी (विद्यापुरी) की पुस्तक नौरस से एक उदाहरण इस प्रसंग में द्रष्टव्य है—

"बहुत रूप खेले खेल कामिनी,
हो ना जानू तुरकिनी बरहमिनी।"

गोरख पंथी संतों और योगियों ने काम-वासना को दफ़ना देने की अभिलाषा से जीवन में शृंगार-विरोधी रुख अपनाया था। इस प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण के ग्रहण से मानव समाज को पर्याप्त हानि उठानी पड़ी थी। अनेक साधु ऐसे भी थे, जो अपनी इंद्री को ही कटा लेते थे। गुरु गोविन्द सिंह जी ने ऐसे साधुओं को कड़े शब्दों में डाँटा था।[1]

कुछ समय पश्चात भक्तों ने अपने अतिवादी दृष्टिकोण पर स्वयं सोच विचार किया, जिसके फलस्वरूप वे शृंगार अथवा 'काम' के साथ उचित समझौता करने के ही निष्कर्ष पर पहुँचे। इस तरह उन्होंने शृंगार को ईश्वर-प्रेम का आधार बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रवृत्ति ने भक्त-कवियों के साधना-पथ को स्वाभाविकता का रूप प्रदान किया तथा काम-भावना की पशु-ऊर्जा 'इड' का उदात्तीकरण कर दिया। शृंगार की रेचन-विरेचन क्रियाओं का युक्ति पूर्वक ग्रहण किए जाने से रीति-युग के काव्य ने अपने युग के लोगों को अंकुठित रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। रीतिकालीन कवियों की शृंगार-दृष्टि यथार्थ और विवेक इन दोनों के उचित समन्वय पर आधारित है। इसी विशिष्टता पर उसके काव्य की सजीवता और नवीनता का रूप-संभार निर्मित हुआ है। स्त्री-पुरुष के मध्य होनेवाले सामाजिक और शारीरिक सम्बन्धों को इन कवियों ने यथार्थ-दृष्टि बोध तथा अंकुठित रूप में प्रस्तुत करने की पहल की है। रहीम, गंग, केशव, बलभद्र मिश्र, पुहकर और नरोत्तमदास आदि कवियों की रचनाएँ करीब-करीब एक ही युग में लिखी गई थीं तथा शृंगार से जुड़ा इन कवियों का नायिका-भेद अपने युग की चित्तवृत्ति और सामाजिकता की पृष्ठ भूमि को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में पूर्णतः सफल हुआ है। उच्च कवि-प्रतिभाओं की

(शेष पिछले पृष्ठ से)

आवाजरा पर वाज़ वशनू' और भी कहा है—व नब्ज-गीरिए तारे तम्बूर, व इलाज़े अलील नहदानें दर मसीहाई' इसी तरह की संगीत निपुणता शाहजहां की थी। उसके लिए कवीन्द्र कल्पलता में कहा गया है कि—

औरन के गुन सरित ज्यों, तेरो गुन अपरंपार समुद्र समान॥
जिती कोऊ करै अलापचारी विस्तारसों, ताते सरस तेरी एक टीपकी तान॥
तेरे गावत और गाइक ऐसे छिपते, जैसे उडगन उदै होत भान॥ —पृ० २५

१. क्रिपाल न भीजत······लाड़ कटाए॥ —वाणी० पृ० १५४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह परम्परा रीतिकाल में निरंतर प्रवहमान रही है। इस तरह शृंगार परम्परा को राष्ट्रीय कलाबोध में उभारने तथा दाम्पत्य जीवन के अनुकूल बनाने में रीति-काव्य की विशिष्टता को स्वीकार करने की आवश्यकता है।

नायिका-भेद कहकर जिस शृंगारी (रस राज) कविता को पूर्वाग्रह के कारण आलोचकों ने निंदित किया है, उस समस्त साहित्य की विशिष्टता यह है कि वह नारी स्वभाव की पारिवारिक संदर्भ में व्याख्या प्रस्तुत करने की दिशा में किए गए महत् उद्योग का प्रतिफल है। नायिका-भेद को लक्षित करनेवाली कविताओं को ध्यान में रखकर यूरोप के प्रसिद्ध कला मर्मज्ञों ने इस काव्य को पारिवारिक संबंधों की व्याख्या के रूप में ही देखा-समझा था। १८४४ ई० में प्रकाशित 'विलियम वायर्स' के ग्रन्थ में इस कथन का प्रमाण देखा जा सकता है। अपनी बात की प्रमाणिकता के लिये उसने एक महत्वपूर्ण साक्ष्य के आधार पर यह कहा है कि—

A learned European writer well acquainted with the poetry of all the most celebrated nations, both of Europe and Asia remarks that in the tenderness of the character and domestic relations of female beauty of that character and domestic relations of woman, the Indian poetry may be compared to the purest and noblest effusions of christian poetry. —P. 361-62.

कहा जा चुका है कि भाषा-साहित्य के आरम्भ-युग से ही मनुष्य की सबसे जटिल काम अथवा सेक्स समस्या को हल करने के लिए अनेक दृष्टियों से सोच-विचार किया जा रहा था। इस समस्या को सुलझाने में रीति कवियों ने व्यावहारिक और संतुलित दृष्टिकोण का परिचय दिया है। निर्गुण की सीढ़ी पार करके सगुण को आलम्बन बनाने के पश्चात् मानव जीवन की रसवत्ता को ही अपना हृदय-हार बनाने में रीतिकाल, ऐतिहासिक विकास क्रम की उपलब्धि के रूप में ही आर्विभूत हुआ है। जिस प्रकार सूरदास ने वात्सल्य रस का कोना-कोना झाँक लिया था, तुलसीदास ने राम के चरित्र को मथ कर नवनीत के रूप में शक्ति, शील एवं सौन्दर्य जैसे आदर्श तत्वों को उद्‌घाटित करके भाषा भाषियों के समक्ष प्रस्तुत कर दिया था, उसी प्रकार रीतिकाल में लिखे गए नायिका-भेद के अन्तर्गत गृहस्थी की आधार शिला नारी-स्वभाव की समस्त विविधताओं तथा विचित्रताओं को अंकित करने का सफल प्रयत्न किया गया है। इस शृंगार-धारा के ग्रहण से भाषा-साहित्य में जो विशेषता प्रकट हुई है, उसकी उपस्थिति संसार की किसी भी समृद्ध भाषा के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकती। हिन्दी आलोचकों की हीन भावना के कारण ही इस काल के सृजन को अपना प्राप्य नहीं मिला। कामायनी के लज्जासर्ग में इसी मूल भाव-चेतना को प्रसाद जी ने नई शैली और नये प्रतीकों में प्रस्तुत करके रीतिकालीन काव्य-चेतना की अविकलता को नये शब्दों में उजागर किया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

□ ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से रीतिकाल की स्वाभाविक श्रेष्ठता :

भाषा साहित्य में 'प्राकृत जन' का गुणगान करने की प्रवृत्ति में प्रशस्ति एवं वीर-पूजा की भावना तथा इतिहास-कथन, ये दो विषय विशेष रूप से स्वीकृत थे। राजतंत्र के सम्बन्ध में संत और भक्त कवियों का प्रायः मौन बने रहने का दृष्टिकोण तथा लोक विषयक सामान्य उदासीनता 'कोऊ नृप होउ हमहिं का हानी'[1] का पराजित मनोभाव रीतिकाल के कवियों का आदर्श कभी नहीं बन सका। निर्जन एकान्त में बैठकर सुसंगठित राजतन्त्र के साथ संघर्ष नहीं किया जा सकता। राजतंत्र के साथ विरोध करने के लिए उपस्थित व्यवस्था के समानातंर विकल्प रूप में अन्य व्यवस्था की रूप रेखा स्पष्ट करने की आवश्यकता होती है। 'नरहरि' और 'बीरबल' जैसे भाषा-कवि इसी तथ्य से अवगत होकर मुग़ल दरबार में उपस्थित हुए थे।

नरहरि की निर्भीकता का प्रमाण पिछले पृष्ठों में दिया जा चुका है। बीरबल की स्पष्ट वादिता आज तक लोक-स्मृति में अक्षुण्ण बनी हुई है। इसी तरह की निर्भीकता गंग में भी विद्यमान थी। जहाँगीर के विलासी स्वभाव पर उन्होंने कितना करारा प्रहार किया था कि—

कबौं भँडुवा रण चढ़े, कबौं न बाजीं बम्ब।

इस तीखी उक्ति अथवा इसी तरह के किसी अन्य कथन के लिए उन्हें हाथी के पैर के नीचे कुचलाया गया था।[2] गंग ने कितने निर्भीक भाव से मृत्यु का आलिंगन किया था, इसे भी भाषा काव्य के एक छंद में देखा जा सकता है—

मृत लोक में है इक गंग गुनी,
अरु गंग को लेन गनेस पठायो।

यह तथ्य सर्वमान्य है कि आधुनिक युग में १८५७ की राजनैतिक पराजय के बाद स्वामी दयानन्द और विवेकानन्द जैसे धार्मिक नेताओं तथा भारतेन्दु जैसे साहित्यकारों ने ही आगे आकर भाषा, समाज सुधार और धर्म आदि विषयों की आड़ में प्रच्छन्न रूप से राजनैतिक पुर्नजागरण की भूमिका निर्मित की थी। इन्हीं सांस्कृतिक एवं धार्मिक नेताओं द्वारा जगाए गए देश ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के

---

१. तुलसीदास की इस चौपाई को प्रस्तुत प्रसंग में हम लोकोक्ति के रूप में ही उद्धृत कर रहे हैं। कारण यह है कि तुलसीदास एक ऐसे भक्त कवि हैं, जिन्होंने अपने ढंग से अपने युग की राजनीति पर प्रभावी ढंग से अपने विचार व्यक्त किये हैं। इसकी चर्चा यथावसर की जाएगी। इसी तरह गुरु नानक की वाणी में राजनीति और शासन की व्यवस्था पर प्रहार किया गया है। "बादशाह शेर है मुकद्दम (मुखिया) कुत्ते। —गुरु ग्रंथ साहब

२. तुलना कीजिए 'गंग-कवित्त' भूमिका पृ० ९, १०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मंच से 'स्वदेशी' 'स्वभाषा' और 'स्वराज्य' आदि की माँग करने की प्रेरणा दी थी। इतिहास की इसी अर्न्तदृष्टि से भक्तिकाल और रीतिकाल के भाषा काव्य का अवलोकन किया जाना चाहिए। मुग़ल साम्राज्यवाद की सत्रहवीं शताब्दी में उत्पन्न गुरु श्री अर्जुनदेव, गुरु हरगोविन्द जी, गुरु तेग़बहादुर, गुरु गोविन्द सिंह, तथा श्री प्राणनाथ और समर्थ गुरु रामदास जैसे धार्मिक और बलिदानी नेता उन्नीसवीं शताब्दी में नहीं थे। इन नेताओं के सम्मिलित प्रभाव के कारण ही मुग़लों का विशाल साम्राज्य ध्वस्त हुआ था। इन संतों की ललकार पर अपना खून बहानेवाले जितने वीर उस युग में उठ खड़े हुए थे, उसकी तुलना में सतांश कुर्वानियाँ भी वीसवीं शताब्दी के स्वतंत्रता संग्राम में नहीं हुई हैं। अर्थ और पद कामी इतिहासकार भले ही राई का पहाड़ बनाते रहें, लेकिन ऊँट की ओट में पहाड़ नहीं छिप सकता। इतिहास की प्रकृति के अनुसार किसी भी आन्दोलन के पहले विचार का ही जन्म हुआ करता है। कविर्मनीषियों को ही भारतीय परम्परा में विचारों का प्रणेता और नेता माना गया है।

मुगल साम्राज्य के समानान्तर रखकर रीतिकालीन काव्य-धारा की कविताओं का मूल्यांकन किया जाय, तो राजनैतिक उतार-चढ़ाव और परिवर्तनों तथा कर्मकाण्डी शास्त्रों के प्रति लोक की प्रतिक्रिया प्रकट करनेवाली जो सामग्री प्राप्त होती है, उसके अध्ययन से रीतिकाल की धवलता की पुष्टि होने के अतिरिक्त रीतिकाल के गौरव का स्थायी महत्व भी प्रकट होता है। यदि अकबर एवं औरंगजेब के शासन-कालों में लिखे गये भाषा-साहित्य को आमने सामने रखा जाये, तो हम दोनों युगों के साहित्य को प्रतिकूल किनारों पर खड़ा पाएँगे। अकबर के शासनकाल में जब मुगल साम्राज्य ने धार्मिक और प्रशासनिक सौमनस्य का वातावरण बनाने में सफलता पाई थी, तब भाषा-कवियों ने अपनी प्रशंसात्मक उक्तियों और सहयोग भावना द्वारा अकबर एवं उसके प्रशासन को जनता के हृदय में प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण योगदान किया था।[१] अकबर ने भारत के अनेक समकालीन राज्यों को नष्ट करके उनके स्थान पर मुगल साम्राज्य का विस्तार किया था, किन्तु उसके इन कार्यों के विरोध में वैसा स्वर नहीं उभर सका जैसा औरंगजेब का विरोध करने के लिए चतुर्दिक प्रस्फुटित हुआ है। इन तथ्यों से तत्कालीन एवं परवर्ती भाषा काव्य के अध्येता भली भाँति

१. अकबर की प्रशंसा में कही गई होलराय की उक्तियों को ऐतिहासिक दृष्टि से महज चाटुकारिता समझना भूल होगी। इतना ही नहीं अकबर की लोकप्रियता बढ़ाने के लिये कवि समाज को अनेक समस्यायें दी जाती थीं, जिनको कविगण इस रूप में पूरा किया करते थे, कि इन कविताओं से साम्राज्य और सम्राट के प्रति जनता के हृदय में सम्मान-भावना का संचार हो। प्राप्त तथ्यों के अनुसार रीतिकालीन काव्यधारा ने सहअस्तित्व-बोध को पल्लवित करने में असाधारण सफलता प्राप्त की है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिचित हैं। अकबरकालीन भाषा काव्य की सामान्य प्रवृत्ति का अपवाद मुगल-मेवाड़ युद्ध-प्रकरण में ही किंचित रूप से लक्षित किया जा सकता है। दुरसा जी चारण एवं पृथ्वीराज राठौर की डिंगल रचनाओं के अतिरिक्त गंग कवि के एक छप्पय में भी अकबर के प्रतिद्वन्दी राणा प्रताप के साहस और उनके महत्व की व्यंग्य ध्वनि के सहारे गूढ़ रूप में प्रशंसा की गई है। भाषा-साहित्य के इन लक्षणों का इतिहास की अन्तर्धारा का विवेचन करने की दृष्टि से विशेष महत्व है। कालान्तर में औरंगजेब की दुर्नीतियों के कारण जब मुगल साम्राज्य धार्मिक और आर्थिक दृष्टियों से जन-विरोधी प्रशासन के रूप में सामने आया, तो अकबर के शासन-काल में उगा हुआ सौमनस्य का बिरवा कुम्हला गया। इतिहास के इस चरण में भाषा काव्य ने प्रगट रूप से मुगल साम्राज्य की जड़ें खोद कर अपने देश और अपनी संस्कृति के पोषक नेताओं को इस दुरवस्था का विकल्प प्रदान करने की प्रेरणा प्रदान की थी। नरहरि और गंग प्रभृति भाषा-कवियों ने इतिहास की नई परिस्थितियों के अनुरूप विवेक पूर्ण एवं वस्तुनिष्ठ नीति अपनाने के साथ विषम परिस्थिति में कवियों द्वारा नेतृत्व ग्रहण करने का आदर्श भी उपस्थित किया था। इन कवियों की शैली की विरासत पानेवाले 'लाल' और 'भूषण' आदि की रचनाएँ भाषा-काव्य में इतिहास-लेखन का एक नया अध्याय जोड़ती हैं। समकालीन डिंगल कवियों की रचनाओं में भी इस प्रवृत्ति का समान रूप से ग्रहण हुआ है। इन साक्ष्यों के प्रकाश में यही मानना पड़ता है कि पंजाब से लेकर महाराष्ट्र तक फैले मुगल-भारत की राजनीतिक सीमा में रहनेवाले जनों की राजनैतिक एवं भावात्मक अंतश्चेतना को प्रस्तुत करनेवाले नव जागरण का प्रतिबिंब देखने के लिए भाषा काव्य, एक प्रामाणिक साधन के रूप में है।

कबीरदास ने भाषा-साहित्य की भविष्य दिशा को अचूक दृष्टि से देख लिया था। युग-द्रष्टा कवि ने "संसकीरत है कूपजल, भाषा बहता नीर" कह कर यही प्रकट किया है कि भविष्य में जन-जीवन की प्रवहमान चेतना का उच्छलन इसी प्रवहमान धारा का गुण-धर्म बनेगा। संत कवि की वाणी के लक्ष्यार्थ की अवज्ञा करते हुए संस्कृत भाषा के पुराने और 'आउट डेटेड' तराजू बाटों से ही भाषा काव्य की समालोचना का प्रचलन अत्यंत दुर्भाग्य पूर्ण है। आलोचना की इसी अन्तर्विरोधी प्रकृति ने भाषा-साहित्य की लोकोन्मुखता को अस्वीकृति करने का काम किया है।

□ वीर गाथाओं की रचना और संपादन-काल :

उपलब्ध तथ्यों की संगति में विचार करने से प्रकट होता है कि जिन रचनाओं को आधार मानकर शुक्लजी ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में वीरगाथा काल का नामकरण किया है, वे सब १५ वीं, १६ वीं और १७ वीं शताब्दी में ही अपने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्तमान रूपों को प्राप्त कर सकी हैं।[१] भारत में मुस्लिम सत्ता क्यों और कैसे आ गई है? जिस प्रकार आधुनिक काल के इतिहासकारों द्वारा प्लासी, बक्सर और अट्ठारह सौ सत्तावन को इतिहास के निर्णायक मानक बिन्दुओं के रूप में देखा जाता है, उसी तरह सुल्तान-युग में मुहम्मद गोरी और पृथ्वीराज के युद्धों को आज की अपेक्षा कई गुना भाव तीव्रता से स्मरण किया जाना स्वाभाविक था। भारतीय जन की इतिहास चेतना ने इस संक्राति काल के इतिहास को पृथ्वीराज, जयचंद और आल्हा-ऊदल के रूप में शताब्दियों तक बड़े यत्न से जीवित रखा है। भारत के राजनैतिक इतिहास में जयचंद और सेठ अमी चंद की भूमिकाओं में बहुत कुछ साम्य है। लोक-हृदय इनकी कटु स्मृति को नहीं याद रखना चाहता था, इसीलिए 'आल्ह खंड' में जयचंद की जगह पर उसके युवराज 'लाखन राना' के चरित्र को सविशेष रूप में ही श्लोक बद्ध किया गया है।

विदेशी एवं विधर्मी आक्रान्ताओं के आगमन-काल में हमारा देश क्या सच-मुच वीर-विहीन हो गया था? सामान्य जन के हृदय में यह जिज्ञासा निरंतर कुरेदती रही होगी। अतः उस दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास के साथ जन-सामान्य की भावना का तादात्म्य स्थापित होना एक स्वाभाविक बात थी। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह इतिहासानुराग दिल्ली के सिंहासन पर बैठकर भारत में साम्राज्य स्थापित करने वाले सुल्तानों के लिये कभी रुचिकर नहीं हो सकता था। अतः इस विषय पर खुल-कर ग्रंथ लिख पाना एक प्रकार से राजद्रोह जैसा काम था। अपने देश के राजाओं की पराजयों के तत्काल बाद उनके आश्रित एवं विश्वासपात्र चारण और भाट कवियों ने जो साहित्य रचा वह श्रुति और स्मृति परम्परा में ही प्रवाहित हो सकता था। चारण-भाटों के अतिरिक्त गोसाइयों, जोगियों और नटों एवं भाटों इत्यादि ने इस संक्रांति कालीन इतिहास को सुरक्षित रखने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।[२]

---

१. पृथ्वीराज रासो की विभिन्न प्रतियों की आपसी दूरी तथा घटनाओं एवम् पात्रों की अनैतिहासिकता को इस कथन के प्रमाण रूप में रखा जा सकता है। पृथ्वीराज की कथा भारत में अत्यधिक लोकप्रिय थी। दिल्ली के अंतिम हिन्दू सम्राट की कथा चारण-भाटों की मौखिक काव्य-परम्परा में ही विकसित एवं संवर्धित हो सकती थी। १६ वीं शताब्दी में बाबर द्वारा जब मुगलों का साम्राज्य भारत में स्थापित हो गया, तब सुल्तान काल के पठान विजेताओं के इतिहास पर लगे प्रतिबंधों का शिथिल हो जाना स्वाभाविक था। राजनैतिक सत्ता का परिवर्तन होने पर श्रुति परंपरा में प्रचलित छंदों के साथ स्वरचित छंदों को मिलाकर इस कथा के अनेक संस्करण तैयार कर लिए गए। 'बीसलदेव रासो' के बारे में तो कहा भी गया है कि वह १६ वीं शताब्दी की ही रचना होगी। —हि० सा० का अतीत तथा हिन्दी साहित्य का आदिकाल।

1. Chap. XVII of Recollection From The Northern India with Observation Ons The Origin of Customs and Moral Sentiments of Hindustan" by William Byer.

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाबर और अकबर के नेतृत्व में मुगलों द्वारा भारत विजय के उपरान्त मुग़ल बादशाहों में जब साहित्य संरक्षण का अनुराग देखा गया, तभी ब्रज के पश्चिमी प्रदेश की 'डिंगल' भाषा में पृथ्वीराज रासो को संपूर्ण रूप से लिपिबद्ध करके उसे सुरक्षित करने के लिए प्रगट रूप से उद्योग किए गए। रासो की भाषा का अध्ययन इस तथ्य को प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत कर सकता है। श्रुति और स्मृति परम्परा में प्राप्त छंदों और कथा-प्रसंगों में नई रचनाओं को जोड़ गाँठ कर पृथ्वीराज रासो के वर्तमान रूपों को उपस्थित करने का काम वास्तविक रूप से रीतिकाल के अन्तर्गत ही पूरा किया गया है। 'जल्हण' व्यक्ति रूप में भले ही 'चन्द' कवि का पुत्र रहा हो, किन्तु उसका उल्लेख एक जाति विशेष के प्रतीक रूप में ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है। यह जाति काव्य-जीवियों की थी।

पृथ्वीराज रासो के वर्तमान रूप की रचना के मूल में एक विशेष प्रकार की प्रेरणा एवं उद्देश्य की झलक मिलती है। फारसी भाषा के इतिहास में फ़िरदौसी का 'शाहनामा' एक ऐसी रचना है, जिसे फारसी भाषा और फारस के इतिहास तथा संस्कृति का मेरुदण्ड माना जाता है। फारसी-भाषा साहित्य के प्रशंसकों के लिये यह ग्रन्थ रामायण और महाभारथ की तरह सदैव आदर्श रहा है। फ़िरदौसी के इतिहासपरक इस महाकाव्य की छाप इतनी गहरी थी कि उसके जन्म के चार शताब्दियों पश्चात् भारत में ही जन्में एक फारसी कवि 'इसामी' ने अपने समकालीन सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी को नायक बनाकर 'फ़ुतुहुस्सलातीन' नामक एक साहित्येतिहास ग्रन्थ की रचना की थी। फारस एवं भारत-विजेता सुल्तानों की ऐतिहासिक गाथाओं को फारसी साहित्य के माध्यम से जनता के बीच प्रतिष्ठित होता देख कर भाषा-कवियों को जो स्पर्द्धा-जन्य प्रेरणा मिली थी, उसका अनुमान करना सुगम है। फारसी काव्यों के भारत-विजेता नायकों के समानान्तर भारतीय राजाओं के चरित्रों को जन-भाषा में उपस्थित करने के पीछे एक निश्चित उद्देश्य निहित है। 'आल्हखंड' और 'पृथ्वीराज रासो' दोनों का केन्द्रीय भाव यही है कि महोबा और दिल्ली के बीच हुए गृह-युद्ध में उत्तर भारत की दोनों प्रमुख राज शक्तियाँ जब आपस में लड़ने के कारण भीतर से टूट गईं, तभी पठानों को विजय मिल सकी है।

(शेष पिछले पृष्ठ से)

Published in 1948 में वैरागियों एवं जोगियों की संगीत-जीवी यायावरी वृत्ति पर सम्यक प्रकाश पड़ता है। भक्ति-भाव से पूर्ण रचनाओं के अतिरिक्त गोसाइं और जोगी ऐतिहासिक वीर गीतों का समान रूप से गायन किया करते थे। संगीत की महत्ता धर्म-प्रचार करनेवाले संतों तथा युद्ध-भूमि में प्राणों का पण करनेवाले वीरों के हृदय में समान रूप से प्रतिष्ठित रही है। ढ़ाढ़ियों का 'रबाब' और 'करखा' सुने बिना वीरों के हृदय में मरने-मारने का उत्साह जगना प्रायः कठिन था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तात्पर्य यह है कि भारतवासी अपनी कमजोरी के कारण पराजित हुए हैं, विदेशियों की शक्ति के कारण नहीं। इन प्रबंधों में यह ध्वनि निकलती है कि यदि भारत ईर्ष्याजन्य आन्तरिक कमजोरी को दूर करले, तो वह पुन: अपनी श्रेष्ठता स्थापित कर सकता है।[१] इस अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पराजित जाति का मनोबल उठाने के लिए ही भाषा में ऐतिहासिक वीर-काव्यों की रचना प्रारम्भ हुई है। आगे चलकर यह परम्परा निरंतर वस्तुनिष्ठ होती रही है। रीतिकाल के उपलब्ध ऐतिहासिक काव्य हमारे कथन का प्रमाण निबद्ध करते हैं। इस इतिहास-दृष्टि का अनुसंधान करनेवालों पर इतिहास-बोध के अभाव का लांछन लगाना एक एकेडेमिक दुरभिसंधि के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं।

भाषा-साहित्य की सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति यह रही है कि वह हर मूल्य पर फ़ारसी भाषा-साहित्य और फ़ारसी संस्कृति के मुकाबले में अपनी विशेषता का परिचय देती रहे। 'इसामी' के उल्लिखित ग्रन्थ 'फ़ुतुहुस्सलातीन[२] का नायक यदि अलाउद्दीन खिलजी था, तो उसकी प्रतिस्पर्धा में उसी समय के आप-पास शार्ङ्गधर ने 'हम्मीर रासो' नामक ऐतिहासिक वीरकाव्य की रचना कर डाली। यद्यपि हम्मीर विषयक यह समकालीन ग्रन्थ प्राप्य नहीं है, फिर भी उपलब्ध होनेवाले उदाहृत अंशों एवं काव्य तथा चित्रों में हम्मीर का चरित्रांकन करने की परंपरा पुष्ट करती है कि इतिहास-बोध की दृष्टि से भारतीय मेधा हर आक्रमण का उत्तर देने के लिए प्रवुद्ध ही है। 'चम्बा' (हिमाचल प्रदेश) में प्राप्त आठ कला-चित्रों में हम्मीर रासो की संपूर्ण कथा का चित्रण मिलता है। इन चित्रों को अभी हाल में ही हिमाचल सरकार की ओर से दिल्ली में प्रदर्शित किया गया है।

संस्कृत भाषा के महाभारत तथा उसके भाषानुवादों से औचित्य पूर्वक फारसी भाषा के ऐतिहासिक काव्यों की समानता सिद्ध करना संभव नहीं था। भारत की जनता को महाभारत की ऐतहासिकता पर भले ही अटूट विश्वास रहा हो, किन्तु एक विजेता जाति से महाभारत की ऐतिहासिकता की मान्यता करा सकना अत्यन्त मुश्किल काम था। इसी परिस्थिति का समाधान ढूँढ़ने के लिये पृथ्वीराज, आल्हा-ऊदल एवं हम्मीर जैसे वीर नायकों के चरित्रों को उभार कर जनता के सामने लाया गया। हम यह कह चुके हैं कि पुनर्जन्म के सिद्धान्त-रूपक से आल्हखंड को महाभारत के पुनराख्यान का रूप दे दिया गया था।'शाहनामा' के रचयिता फिरदौसी के संरक्षक ग़ज़नी के महमूद ने अगर १८ बार हिन्दुस्तान पर आक्रमण करके भारत के राजाओं पर

---

१. आपसी फूट को लक्षित करनेवाले अनेक छंद भाषा-काव्य में उपलब्ध हैं। लोकोक्तियाँ और लोक-कथाएँ भी इस आशय को अनेक प्रकार से अभिव्यक्त करती रही हैं।

२. इस ग्रंथ के प्रथम भाग के अँग्रेजी अनुवाद का संपादन आगा मेहदी हुसैन ने किया है और उसे 'एशिया पब्लिशिग हाउस' से प्रकाशित कराया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विजय प्राप्त की थी, तो उसके जवाब के लिये यह उक्ति कल्पित कर ली गई कि गोरी के साथ पृथ्वीराज ने भी अठारह युद्ध किये, जिनमें सत्रह बार गोरी को युद्ध-बन्दी बनाया गया। दिल्लीश्वर पृथ्वीराज चौहान के अप्रतिम आत्मविश्वास एवं राजपूती स्वभाव की उदारता के कारण हरबार बन्दी को छोड़ दिया जाता था। यह सारी अनैतिहासिक कहीं जानेवाली बातें पुनरुत्थानवादी भावना के पोषण की साहित्यिक दृष्टि से सोद्देश्य प्रक्षिप्त की गई हैं। लोक-मंगल के साधक काव्य स्वरों में पराजित जाति को अकुंठित रखने के साथ उसके मनोबल को उठाने के लिये ऐतिहासिक वीर-गीतों, प्रबन्धों, एवं स्फुट छन्दों के माध्यम से इतिहास की प्रयोजनवती साहित्यिक व्याख्या उपस्थित की गई थी।

पृथ्वीराज और आल्हा-ऊदल जैसे ऐतिहासिक वीरों की कथाओं को इस युग में विभिन्न साहित्य-शैलियों में वर्णित करके उन्हें जनता का कंठहार बना दिया गया। व्रज भाषा के पश्चिमी प्रदेशों में प्रचलित पृथ्वीराज रासो एवं समस्त भाषा भाषी प्रदेशों के कंठहार 'आल्हखंड' के काव्य उपादानों की मीमांसा करने पर इनकी विषय-चेतना में वीर-पूजा एवं श्रृंगारोपासना का समान रूप से अभिनिवेश मिलता है। ऐतिहासिक वीर गीतों की अन्तश्चेतना, परवर्ती भाषा काव्य में अविकल रूप से प्रवाहित रही है। आल्हखंड का लाड़ला युद्ध-नायक ऊदल सुन्दरियों की रूपासक्ति के कारण 'बरजोर तुरंग' की तरह थोथे सामाजिक नियंत्रणों को उच्छिन्न करने की भावना से ही जगह-जगह के राजाओं से 'रार' मोल लेता था। इतना बड़ा वीर और 'जमातदार' व्यक्ति राजकुमारियों का सान्निध्य-लाभ करने के लिये कभी चूड़िहारिन, तो कभी मालिन के वेश में कठिन अवरोधों को पार करता हुआ निर्द्वन्द्व भाव से हर क्षण अपनी जान पर खेलता रहता था। अप्रतिम आत्मविश्वास एवं साहस-शीलता के कारण वह असूर्यपश्या राजकुमारियों के हृदयों का एकछत्र सम्राट् बनकर तलवार की नोक पर उनका वरण करता था। रसिक-शिरोमणि ऊदल वीर एवं श्रृंगारी भावनाओं के संश्लिष्ट प्रतीक रूप में ही सीमित न रहकर सामाजिक क्रांति-चिंतन को व्यावहारिक रूप में आगे बढ़ाता हुआ अपने समय के राजाओं के थोथे आभिजात्य का गर्व-हरण करता है। अतः इस लोक काव्य में तत्कालीन समाज के सामाजिक संघर्ष समग्र रूप से लक्षित किए जा सकते हैं।

लाल कवि के छत्रप्रकास में छत्रसाल और तहव्वर खाँ के बीच होनेवाले तीन निर्णायक युद्ध छत्रसाल के विवाह एवं गौने के अवसरों पर ही लड़ेगये थे। लाल कवि द्वारा चित्रित युद्ध और 'आल्हखंड' के युद्धों में तात्विक निकटता है। जिस युग को तथ्यों से आँख मूद कर विलासिता का युग कहते चले आ रहे हैं, उसकी वास्तविकता यह है कि नव युवकों को प्रेय एवं श्रेय प्रदान करनेवाले साहित्य की साधना में ही उस युग की शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक क्रिया-शक्तियाँ एकात्म थीं। भक्तों का श्रेय मुक्ति खोजने में निहित था, तो वीर लोग युद्ध भूमि में मर कर संसार में यश

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छोड़कर स्वर्ग की अप्सराओं का वरण करने की कामना से उद्वेलित होकर रण-भूमि में साका करते थे।

उन्नीसवीं शताब्दी के पहले 'आल्हखंड' को संभवतः कभी लिखा नहीं गया था। लोक-हृदय के साथ अभिन्नता ही उसकी जीवन-शक्ति थी। इसलिये भाषा-काव्य को प्रभावित करनेवाले प्रवहमान लोक-तत्वों की शोध का वह एक विश्वसनीय साधन वन सकता है। इस विशेषता से परिपूर्ण होने के कारण उसके दर्पण में भाषा साहित्य का आलोचनात्मक सर्वेक्षण करना उपयोगी होगा। जायसी के 'पद्मावत्' में नागमती और पद्मावती का सौन्दर्य-वर्णन तथा पद्मावती के लिये रतनसेन का सिंहल द्वीप के लिए ससैन्य प्रस्थान इसी 'वैलेड' परम्परा का आधार ग्रहण किये हुये हैं। उक्त ग्रन्थ का'जोगी' एवं 'गोरा-वादल का युद्ध' खंड सीधे आल्हखंड की कथा-रूढ़ियों को सामने ले आता है। पद्मावत की रचना पर इस प्रभाव का अंकित होना स्वाभाविक ही था। पद्मावत ही नहीं महाकवि तुलसीदास का रामचरित मानस भी आल्हखंड के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका है। लक्ष्मण और परशुराम के संवादों की तीक्ष्ण वाक्-योजना एवं दर्पोक्तियों को 'आल्हखड' के वीरों की तकरारों के समानान्तर रख कर पढ़ा जाय तो 'मानस' की पृष्ठभूमि में आल्हखंड की परम्परा के सन्निवेश का साक्षात्कार किया जा सकता है। 'मानस' के युद्धकाण्ड के युद्ध संवादों एवं युद्धों के वर्णन में भी इस लोक-तत्व का अधिग्रहण है। वीरों के बीच होनेवाली प्रतिस्पर्द्धात्मक दर्पोक्तियाँ रीतिकालीन युवक समाज के लिये यथार्थ जीवन के विषय थे। यूरोपीय पर्यटक मनूची ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'स्टोरिया डि मुगर' में एक स्थान पर लिखा है कि "इस देश पर युद्धों के नियंत्रक अग्नि ग्रह मंगल का सर्वाधिक प्रभाव है। यहाँ की मिट्टी में ही लड़ाकू वीरों को उत्पन्न करने की शक्ति छिपी हुई है।" वास्तव में रीतिकाल की साहित्य-साधना भीरु जनों को भी योद्धा वनाने के काम में संलग्न थी। चारण वाणी का उद्देश्य 'भट कर भीरु लड़ावनो' कहा भी गया है।

'लाल' कवि ने छत्रसाल और 'वासा' के दाँगी राजा केशवराय के बीच होने वाले द्वन्द्व युद्ध में आल्हखंड जैसी 'घरनीवहस' का उल्लेख किया है। छत्रप्रकास में इस प्रसंग को इसलिये तूल नहीं दिया गया कि इस तरह की वहसें सामान्य जन के लिये आम वातें थीं।[१]

☐ सांकेतिकता का आश्रयण :

वीर काव्यों की ही तरह रीतिकाल का नायिका-भेद विशेषकर भिन्न-भिन्न व्यवसाय करनेवाली स्त्रियों की दूती रूप में की गई योजना तथा नायिकाओं के आभिजात्य स्वभाव एवं संस्कार वर्णनों के साथ सामन्ती वातावरण में रहनेवाली

१. सांकेतिक रूप में लाल ने इतना ही लिखा है—'घरनी बहस परस्पर जागी'।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तत्कालीन स्त्रियों के यथार्थ जीवन का जैसा चित्रण इन लोक-काव्यों में उभरा है, वह सब इतिहास के पृष्ठों में भी प्रकारांतर से सुलभ हो जाता है। मुगल हरम की अनेक कहानियाँ समकालीन यूरोपीय यात्रियों ने लिपि-बद्ध की[1] हैं। फारसी काव्य में भी शाही हरमों में रहनेवाली शहजादियों से संबंधित रचनाओं और उन रचनाओं की पृष्ठभूमि प्रकट करनेवाली कथाओं की उपलब्धि होती है। कठिन अवरोधों में रहनेवाली नायिकाओं के मध्य प्रेम सम्बन्ध स्थापित करना उस युग में कितना कठिन रहा होगा, इसका अनुमान आज भी किया जा सकता है। वर्नियर पृ० १२-१३ के अनुसार शाहजहाँ को एक दिन यह संदेह हो गया कि कोई पुरुष जहानारा बेगम साहिबा के महल में घुस आया है। उसने रात में ही पुरुष की खोज कराई। बादशाह को यह भेद मिला कि महल के भीतर वह व्यक्ति किसी तरह पानी के हौज़ में छिपा दिया गया है। बादशाह ने हौज के नीचे आग जलवा कर उस आदमी को जिन्दा उबलवा दिया। इन्हीं सामाजिक परिस्थितियों के कारण उस युग में सर्व सामान्य को भी गूढ़ अर्थ संकेतों द्वारा वस्तु-व्यंजना में निष्णात होना आवश्यक था। रीति-कालीन काव्य के इसी पक्ष के लिए यह लोकोक्ति प्रसिद्ध रही है कि

ज्यों केरा के पात में, पात पात में पात।
त्यों सुकविन की बात में, बात बात में बात॥

द्वितीया के चन्द्र दर्शन के बहाने बिहारी की दूती अपनी स्वामिनी और समवयस्क सहेली को अगस्त के फूले हुए वृक्ष के नीचे नायक से मिलने के लिए किए गए वायदे को कितने गूढ़ रूप से याद करा देती है, यह बात 'सतसई' के पाठकों को विदित है। गूढ़ता एवं सांकेतिकता का ग्रहण किए बिना रीतिकाल का कवि अपनी

---

१. वर्नियर ने अपने ग्रन्थ के पृ० २७२-७३ में सैर करने के लिए कश्मीर जाती हुई शाही हरम की स्त्रियों की यात्रा का विषद वर्णन प्रस्तुत किया है। फ्रेंच यात्री हमें बताता है कि कविगण इस प्रकार के शाही जुलूसों में उपस्थित रहकर किस तरह का काव्य रचा करते थे। उस युग में शाही हरमों के अवरोध और उन पर लगे पहरे अत्यन्त कड़े थे। उसका अनुमान करने से भी रोमांच हो आता है। दतिया राज्य में एक विशेष प्रकार की पालकी सुरक्षित है। इसे चौडोल कहते हैं। 'चौडोलों' को मुग़ल हरम की बेग़मों की सवारी के लिए विशेष पर्दे की दृष्टि से बनाया जाता था। दक्षिण के युद्धों में 'दलपतराव' का एक हाथी किसी नदी के दल दल में फँस गया। हाथी पर उसकी एक रानी सवार थी। हाथी बराबर धँसता जा रहा था। अतः रानी घबड़ा गई। दलपतराव को आशंका हुई कि रानी बेपर्दा हो जायेगी। अतः उसने उसे मारने का निश्चय कर लिया। यह देखकर औरंगजेब ने एक शाही चौडोल भेंट करके पर्दे में ही रानी को हाथी के हौदे से उतरवा लिया। औरंगजेब का यह चौडोल दतिया में अभी कुछ दिनों पूर्व तक सुरक्षित था। ऐसे कठिन अवरोधों को लाँघकर भी वहाँ पुरुष पहुँच ही जाते थे। 'वंश भास्कर' के अनुसार सम्राट के हरम में छिपे ऐसे ही एक व्यक्ति ने लाहौर में बहादुरशाह की हत्या कर दी थी। —वंश भास्कर पृ० ३०३२–३३।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपयोगिता नहीं सिद्ध कर सकता था।[1] इस युग की कविता ने अपने प्रेमी और प्रशंसकों में बौद्धिक्षक प्रखरता उत्पन्न करने में सफलता प्राप्त की है। विद्यार्थियों में ऊँघ और जम्हाई उत्पन्न करनेवाली रसबोध की पुस्तकीय आलोचना को ही जीवन एवं साहित्य का एकमात्र धर्म मानलेने से समाज की आसन्न समस्याओं का व्यापक चित्रण करनेवाले साहित्य की अनुचित रूप से अवहेलना हुई है।

☐ दरबारी मंच पर फ़ारसी के साथ बराबर की जोड़-तोड़ :

अकबर का दरबार समस्त एशिया और यूरोप में अपने ठाट बाट और साहित्यिक गरिमा से युक्त होने के कारण अद्वितीय माना जाता था। फारसी भाषा के कवियों के लिये मुगल सम्राट का राजदरबार कल्पवृक्ष के समान था। फारसी-कवियों को सहज रूप से अपनी रचनाओं पर हिन्दुस्तान में आशातीत पुरस्कार मिल जाते थे। अकबर और खान खाना रहीम का गुणगान करते हुये फारसी भाषा के अनेक कवि पश्चिमी एशिया के देशों से चलकर भारत आये तथा यहाँ आने के उपरान्त यहीं परवस गए। विदेशों से आनेवाले कवियों द्वारा भारत के मुगल-दरबार की प्रशंसा में लिखी गई कविताएँ तथा इन कवियों को दिये गये राजकीय सम्मान की कथायें जब चलते फिरते काव्य-प्रेमियों द्वारा पुनः उनके जन्मस्थानों में पहुँचती थीं, तो इन कथाओं के साथ मुगलों के ऐश्वर्य और साहित्य-प्रेम की कीर्ति भी विदेशों में प्रविष्ट होती थी। एशिया के मुस्लिम देशों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की स्पृहा मुगल सम्राटों के लिये एक स्वाभाविक कमजोरी थी[2]। विदेशों में कीर्ति-विस्तार के साथ देश की प्रजा में प्रतिष्ठा एवं सामान्य प्रजा की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये भी उस युग में कविता का महत्व था। इस तरह राजनैतिक दृष्टि से कविता की प्रयोजनीयता गृह तथा विदेश नीतियों के लिए समान रूप से थी। केवल फारसी से यह काम नहीं चल सकता था। उसकी अपनी सीमाएँ थीं।

---

१. द्वैज-सुधा-दीधति कला, वह लखि दीठि लगाइ।
मनौ अकास अगस्तिया, एकै कली लखाइ॥

तथा

लखि गुरुजन बिच कमल सौं सीसु छुवायौ स्याम।
हरि-सनमुख करि आरसी, हियैं लगाई वाम॥—विहारी सतसई, दो० ३४

२. बाबरनामा में उपलब्ध बाबर की जीवनी से पता चलता है कि 'फ़रग़ना' में उसे कठिन दिन देखने पड़े थे। उसके भाग्य का सूर्य पूर्व दिशा में ही उदित हुआ। हिन्दुस्तान की ही विजय ने उसे 'बादशाह' बनाया था। अतः जहाँ से वह निष्काशित किया गया था, उन मुस्लिम देशों पर अपनी श्रेष्ठता दिखाने के लिए बाबर ही नहीं प्रायः सभी परवर्ती मुगल बादशाहों का समुत्सुक होना स्वाभाविक था।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

फ़ारसी भाषा केवल संभ्रान्त मुस्लिम परिवारों एवं विदेशों में ही मुगलों की यशोगाथा फैला सकती थी। भारतीय जन-मानस के साथ संपर्क स्थापित करने की दृष्टि से संस्कृत का क्षेत्र फारसी से अधिक संकीर्ण था। 'हिन्दुई या हिन्दवी' भाषा इस स्थिति में नहीं थी कि वह 'भाषा' या ब्रजभाषा का स्थानापन्न बनती। 'हिन्दवी'[1] खिचड़ी भाषा के रूप में मुस्लिम शासकों तथा मुगल सैनिक छावनियों और उन छावनियों के साथ चलते फिरते बाज़ारों में जन्मीं थी। मूल रूप से फ़ारसी बोलने वाले लोग दीर्घकाल तक भारत में रहने-बसने के कारण जनता और अपने कर्मचारियों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिये ही इसका प्रयोग करने लगे थे। तत्कालीन भाषाओं के इस परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि 'हिन्दवी' भाषा भारत की मिट्टी की प्रकृत उपज होने के स्थान पर कलम के रूप में उगाई हुई भाषा थी। अतः नैसर्गिक रूप से देश की मिट्टी की सुगंधि इस भाषा में नहीं मिल सकती थी। इसी कारण यह नई भाषा भारत के निवासियों के हृदयों को सम्मोहित करने की क्षमता से विरहित थी। इसके विपरीत लोक को आकर्षित एवं प्रभावित करने का स्वाभाविक गुण 'भाषा' में सहज रूप में निहित था। भाषा की इसी प्रकृत-शक्ति के कारण फारसी के विद्वानों और संरक्षक कवियों ने समय-समय पर 'भाषा' में स्वयं भी रचनायें कीं तथा भाषा-कवियों को उच्च श्रेणी का सम्मान प्रदान किया। जो विदेशी कवि हिन्दुस्तान के कवियों की कविता को कौवे की काँव-काँव की संज्ञा देते थे, वे हिन्दुस्तान की शरण लेने के लिये दिल्ली और आगरा में आए और यहाँ आ जाने के बाद अपने वतन की याद भी भूल गए।[2]

मुगल दरबार में फारसी-कवियों की नोक-झोंक भाषा-कवियों के साथ बहुत कुछ समानता के आधार पर ही हुआ करती थी। दोनों भाषाओं के कवियों का अपना-अपना क्षेत्र और अपना-अपना महत्व था। इसप्रकार दोनों भाषाओं के बीच

---

१. हिन्दवी को दक्खिनी और 'उर्दू' भी माना जाता है। विशेष जानकारी के लिए देखें इब्राहीम नामा की भूमिका पृ० ६७–७८। यह अंश सार गर्भित और मौलिक विवेचन से पुष्ट है। अतः इसे मूल रूप में ही पढ़ा जाना उचित होगा।

२. काबुल के फारसी भाषा के कवि मौलाना कासिम 'काही' ने भारत के कवियों का मज़ाक उड़ाते हुए कभी कहा था—

काही तो बुल-बुल चमन आराई काबली।
ज़ाग व ज़गन नेह के बेह हिन्दुस्तान शवी॥

अकबर ने इस कवि की एक ही रचना पर ५००० रुपयों का पुरस्कार देकर इतना लुब्ध कर दिया कि वह फिर काबुल नहीं लौटा। —Court Poets of Iran and India. R. P. Masani. Bombay P. 129-130.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रतिस्पर्द्धात्मक टकराओं के साथ निकट आने के अवसर भी विद्यमान थे। यदि भाषा ने इस संघर्ष-काल में राज-भाषा फारसी के समक्ष अपनी विशिष्टता न प्रदर्शित की होती, तो निश्चय ही फारसी और उसकी मनस पुत्री 'हिन्दुई' का इतना अधिक बोलवाला हो जाता कि उत्तर भारत (मध्य देश) की भाषाएँ परम्परा रूपी जड़ से उच्छिन्न होकर आज से शताब्दियों पूर्व पृष्ठ-भूमि में धँस गई होतीं। राजनीतिक परतंत्रता की अपेक्षा भाषा और साहित्य की परतंत्रता के परिणाम कई गुना घातक सिद्ध हुये होते। अत: इस संकट-काल में जब भाषा की जीवन-शक्ति की कड़ी परीक्षा हो रही थी, तब रीतिकाल के कवियों ने मझधार में फँसी भाषा के साथ बँधी भारत की सांस्कृतिक-चेतना को जिस खूबी से पार लगाया है, उसका महत्व किसी न किसी दिन अवश्य ही प्रकाश में लाया जायेगा।

☐ भाषा का युग-पुरुष बीरबल :

भारतीय लोक-मानस अकबर और उसके दरबार के नौ रत्नों में से एक रत्न बीरबल[1] को समान वज़न की प्रतिभाओं के रूप में आँकता चला आ रहा है। बीरबल की तत्काल बुद्धि एवं प्रतिभा की विलक्षणता के कारण उन्हें सम्राट अकबर के अन्तरंग मित्र के रूप में ही याद करने की परम्परा अविकल रूप में विद्यमान है। इस परम्परा के मूल में अवश्य ही कुछ न कुछ विशेष बात होनी चाहिये। सैकड़ों की संख्या में नामी गिरामी मनसबदार मुगलों के दीर्घ शासन-काल में हो गये हैं, लेकिन उनमें से किसी के प्रति लोक-मानस में बीरबल जैसी आत्मीयता नहीं है। लोक ने बीरबल को उनकी विचक्षण बुद्धि के कारण ही अटूट आस्था के साथ याद रखा है। उस रूप में याद किया जानेवाला मुगल काल के इतिहास में कोई दूसरा नाम नहीं

---

१. बीरबल कालपी के ब्रह्मभट्ट थे। कालपी से पूर्व कानपुर जिले में घाटमपुर और भूषण के गाँव तिकवाँपुर के निकट एक छोटा सा गाँव 'बीरबल अकबरपुर' है। संभवत: यहीं बीरबल का जन्म हुआ होगा। फ़ारसी इतिहासों में यही लिखा है कि बीरबल कालपी जिले में पैदा हुए थे। ये भाषा के श्रेष्ठ कवि होने के साथ-साथ भाषा कवियों के महान संरक्षक तथा बहुत बड़े योद्धा भी थे। अकबर ने इनकी वीरता के कारण ही इन्हीं 'बीरवर' उपाधि प्रदान की थी। अकबर के दरबार में इनके प्रवेश संबंधी दो मत प्रचलित हैं। कुछ लोग कहते हैं कि बांधव बाढ़ (रींवा) के तत्कालीन बघेल राजा ने प्रयाग में उपस्थित कवि-योद्धा बीरबल की सेवाएँ अकबर को भेंट की थीं। इस मत को माननेवालों का कथन है कि बीरबल सतना (मध्य प्रदेश) के पास किसी गाँव के निवासी थे। मैंने वर्तमान सोहावल नरेश श्री पुरुषोत्तम सिंह जी से इस बात की पुष्टि करनेवाले प्रमाण ज्ञात करने का निवेदन किया था। उनके अनुसार यह मत ठीक नहीं है। दूसरी ओर कृष्ण कवि की मान्यता है कि वे कालपी के ही निवासी थे तथा आमेर नरेशों के माध्यम से अकबर के पास पहुँचे थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपलब्ध होता है। बीरबल की स्मृति अकबर के चरित्र के पूरक रूप में ही की जाती है। लोक-जीवन के बीच इन चरित्रों की गहरी मान्यता स्थापित करने में जो भी कारण सहायक हुए होगें, उन पर प्रकाश डालने से रीतिकालीन भाषा-साहित्य एवं भाषा-क्षेत्र के लोक-साहित्य के इतिहास का अनुशीलन करने में एक नई दिशा की प्राप्ति होती है। बीरबल के व्यक्तित्व की विविधता और प्रतिभा की चतुर्मुखता की चर्चा न करके प्रस्तुत प्रसंग में साहित्याधारों का अनुसरण करते हुए उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर विचार करने का किंचित प्रयत्न किया जा रहा है।

भाषा-कवियों को मुगल दरबार में उपस्थित होने की झिझक समाप्त करने में बीरबल ने भाषा काव्य के रचनाकारों को नेतृत्व प्रदान किया, यह तथ्य संदेह से परे है। अकबरी दरबार में नरहरि और बीरबल की स्थितियों का एक मूलभूत अंतर यह है कि बीरबल कवीश्वर मात्र न होकर अकबर के विश्वास प्राप्त सेनापति एवं राजनैतिक तथा धार्मिक विषयों में उसके अंतरंग मित्र और सलाहकार थे। अकबर को सूर्योपासक बनाने में बीरबल का विशेष योग दान है। भाषा कवियों ने अनेक स्थानों पर अकबर को 'अक्क' अर्थात् अर्क=सूर्य के समान कहा है। अतः उच्च प्रशासकीय पद पर होने के फलस्वरूप भाषा-कवियों को मुगल सम्राट के राजदरबार में प्रोत्साहन देने की दृष्टि से उनका स्थान महत्वपूर्ण था। इस प्रकार भाषा-साहित्य एवं उस युग के राजनैतिक इतिहास में नया अध्याय जोड़नेवालों में बीरबल का स्थान बहुत ऊँचा है। प्रतिवाद एवं संघर्ष-पथ का अनुसरण करके जो राजनैतिक लक्ष्य नहीं प्राप्त किया जा सकता था, उसे इन भाषा कवियों ने अनायास प्राप्त कर लिया था। अकबर की छत्रछाया में मुगलों के चढ़ते हुये प्रताप मार्तण्ड से टक्कर लेने की जगह नीति का आश्रय ग्रहण करने की सोच-समझ उत्पन्न करनेवाला बीरबल के रूप में भाषा कवियों को सुयोग्य नेता मिल गया था। निरंकुश मुगल सम्राट् के समक्ष अन्य उपाय से सफलता मिलना कठिन था। जिस बात को बड़े-बड़े सामन्त नहीं कह सकते थे, उसे कविता के छन्दों में लक्षणा और व्यंजना के माध्यम से सहज रूप में कह दिया जाता था। इस तरह जन-चेतना को अभिव्यक्ति का अवसर ही नहीं मिला, वरन् इस अभियान के लिए भाषा में उपयुक्त क्षमता उत्पन्न करने की प्रेरणा भी निरंतर प्रभावित होती रही। अकबर के शासनकाल को जनता के लिए कल्याणकारी तथा उदार बनाने में जो शक्तियाँ काम कर रही थीं, उनमें इन भाषा-कवियों का कृतित्व सर्व प्रमुख है। सुल्तानों के राज्य-काल में शताब्दियों से राजतंत्र और प्रजा के बीच जो तनाव चला आ रहा था, उसे कम करने की दिशा में समुचित वातावरण का निर्माण इन्हीं कवियों की रचनाओं का सुपरिणाम था।

महान् योद्धा, गूढ़ राजनीतिज्ञ एवं कवियों के कल्पवृक्ष के रूप में समादृत ब्रह्म-भट्ट बीरबल, 'ब्रह्म' उपनाम से स्वयं भी भाषा में काव्य-रचना करते थे। उनकी स्फुट रचनाएँ आज भी उपलब्ध हैं। होलराय, केशवदास और गंग जैसे अनेक भाषा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवियों को मुगल दरबार में उपस्थित करके फारसी के बढ़ते हुये प्रभाव को सीमित रखनेवाले कवियों के अग्रगण्य बीरबल के नाम को भाषा साहित्य के इतिहास में सदैव स्मरण रखा जाएगा। भाषा की शक्ति को वांक्षित रूप से विकसित करते हुए जनभाषा और राजभाषा के बीच उचित संतुलन बनाए रखने की दिशा दिखाने की दृष्टि से वे हमारे साहित्येतिहास की सबसे बड़ी व्यक्ति-संस्था हैं। ब्रिटिश राज्य की सुदृढ़ स्थापना होने के बाद जिस प्रकार राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द और राजा लक्ष्मण सिंह ने हिन्दी भाषा के निमित्त ब्रिटिश शासकोंकी सहानुभूति अर्जित की थी, उसी तरह उक्त व्यक्तियों से सौ गुनी प्रभावी ढंग से बीरबल ने भाषा काव्य को मुगल राजतंत्र की छत्रछाया उपलब्ध कराने का महत्वपूर्ण काम किया था। राजकीय संदर्भ में सितारे हिन्द एवं बीरबल के व्यक्तित्वों में आकाश पाताल का अंतर है। बीरबल के संरक्षण में होनेवाली भाषा कवियों की संगोष्ठियों और कवि-दरबारों में उपस्थित होनेवाले बुद्धि-जीवी रचनाकार सामयिक जन समस्याओं और सामयिक प्रश्नों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। देश-दुनिया के साथ राज-काज की अंतरंग जानकारी भाषा कवियों को बीरबल जैसे वरिष्ठ राजनेता से मिलती रहना अत्यंत स्वाभाविक था।

बीरबल के साहित्यिक दरबारों की बौद्धिक तथा राजनैतिक स्तर पर जो प्रतिष्ठा थी, उसका अनुमान करने के लिये केशवदास का एक दोहा प्रमाण रूप में उद्धृत किया जा रहा है। 'कविप्रिया' में अपनी चर्चा के प्रसंग में केशव दास ने दो ही व्यक्तियों के समक्ष मुँह खोल कर माँगने का उल्लेख किया है। पहला अवसर तब उपस्थित हुआ था, जब तीर्थराज में गंग-स्नान करते समय कई पीढ़ियों से कवि-वंश को संरक्षण प्रदान करनेवाले ओरछा के राजा (राजा के भाई-इन्द्रजीत सिंह) के आग्रह पर कवि ने बस इतना ही माँगा था कि मुझ पर आपका प्रेम सदैव इसी तरह एक रस बना रहे, यही मेरी प्रार्थना है और यही मेरी अभिलाषा है। कवि केशव दास द्वारा माँगने का दूसरा अवसर तब आया, जब बीरबल ने ओरछा नरेश के कवि के सामने इच्छानुसार कुछ भी माँग लेने का स्वयं ही प्रस्ताव रखा था—

इन्द्रजीत तासों कह्यो, माँगन माँझ प्रयाग।
माँग्यो सब दिन एक रस, कीजै कृपा सभाग॥

× × ×

योंही कह्यो जु बीरबर, माँगि जु मन में होइ।
माँग्यो तब दरबार में, मोहिं न टोकै कोइ॥

केशव की रचनाओं में उपलब्ध इन अन्तर्साक्ष्यों को इसलिए उद्धृत किया जा रहा है कि भाषा-साहित्य को संरक्षण प्रदान करनेवालों में बीरबल के व्यक्तित्व

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का महत्व प्रकट हो जाय। राजा इन्द्रजीत के साथ केशवदास के संबंध पीढ़ियों से चले आ रहे थे, अतः केशवदास के लिए अपने दाता के रूप में उनके नाम का उल्लेख करना स्वाभाविक था। किन्तु बीरवल का नाम शुद्ध रूप से साहित्यिक संरक्षण कर्ता के रूप में ही उपस्थित किया गया है। इसी से अनुमान लगता है कि केशव और बीरवल के संबंध साहित्यिक धरातल पर ही स्वीकृत हुए थे। इन तथ्यों से यह आशय स्पष्ट हो जाता है कि अपने युग के कवियों के बीच बीरबल एक महान साहित्य-संरक्षक होने की प्रतिष्ठा अर्जित कर चुके थे। बीरबल की प्रशस्ति में लिखी गई 'गंग' की जो रचनाएँ मिलती हैं, उनसे भी इस आशय की पुष्टि होती है। गंग ने अनेक समकालीन व्यक्तियों की प्रशस्तियाँ लिखी हैं, लेकिन बीरवल की प्रशस्ति में जिस भाव-तन्मयता एवं जिस उक्ति चमत्कार का आश्रय लिया गया है, उसे पढ़कर किसी भी काव्य रसिक का हृदय गद्‌गद् हो जाएगा—

आवत हुतों हौं सिव सैलते गिरीस जाँचे,
मिल्यो हुतो मोंहि जहाँ सागर सगर को।
कविन की रसना की पालकी पै चढ़्यौ जात,
संग सोहै रस से प्रताप तेज बर को।
कवि गंग पूछ्यो, तुम को हो, कित जै हो, उन,
कह्यो मोसो हँसिकै, संदेसो वाही थर को।
जस मेरो नाम, मोको दसो दिसि काम, मेरो,
कहियो प्रनाम, हौं गुलाम बीरबर को।

—छन्द सं० ३१६

उद्‌धृत छन्द में बीरवल की दानशीलता, लोक-प्रियता और कवि-दरबारों के माध्यम से सागर पर्यन्त पृथ्वी पर फैली उनकी कीर्ति का अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। इन्हीं गुणों के कारण लोक स्मृति में उसकी यश-गाथा शताब्दियों से अमर बनी हुई है।

□ रीति काव्य की चतुर्दिक व्याप्ति—रहीम की छत्र छाया :

मुग़ल साम्राज्य से सुसंबद्ध होने के फलस्वरूप उसी के साथ-साथ भाषा कवियों और भाषा कविता की चर्चा अन्य राजदरबारों में पहुँचने का रास्ता पा गई। १५८०-१६२६ ई० में बीजापुर के शाह इब्राहीम आदिल शाह द्‌वितीय ने संगीत शास्त्र का एक अनुपम ग्रन्थ 'किताव-ए-नवरस' की रचना ब्रज भाषा में की थी। ५६ गीतों और १७ दोहों की यह रचना उर्दू में न होकर वास्तव में ब्रज भाषा में ही

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रची गई[1] है। अमीर खुसरो के पिता सैफुद्दीन मुहम्मद चंगेज खाँ के आक्रमण से भयभीत होकर टर्की से भागकर भारत में बस गए थे। इस प्रकार खुसरो उत्तर भारत का ही निवासी था। अतः उसकी रचनाओं में भाषा-शब्दों का प्रवेश विशेष आश्चर्य का विषय नहीं है। इसकी तुलना में सुदूर दक्षिण के राज दरबारों में भाषा के विकास के लिये जो राजनैतिक अवसर विकसित हुये और इसप्रकार भाषा का जो स्वरूप उभरा उसे देखकर अवश्य ही नेत्र विस्फारित रह जाते हैं। मुगल साम्राज्य की राज-भाषा बने बिना केवल राजतंत्र के अधिकारियों और नियामकों के सानिध्य-लाभ के कारण ही अपने युग की समस्त उप-भाषाओं के ऊपर ब्रज भाषा का साहित्यिक महत्व कैसे स्थापित हो गया[2]? भाषा की सशक्त काव्य-परम्परा और उसके फलस्वरूप रचनाकारों के मध्य बढ़नेवाली लोक-प्रियता के कारण रहीम

---

१. 'किताबे नौ रस' की भूमिका रूप में फारसी भाषा के प्रसिद्ध कवि जुहूरी ने फारसी में ही तीन उत्कृष्ट प्रबन्ध लिखे हैं, जिन्हें 'सेह नस्र' के नाम से जाना जाता है। इस कारण कुछ लोगों को भ्रम हो जाता है कि यह फारसी ग्रन्थ है। उर्दू साहित्य के इतिहास में डॉ० एहते शाम हुसैन साहब ने इसे उर्दू रचना माना है, किन्तु 'इब्राहीम नामा' के संपादक डॉ० चह्वाण ने अपनी विद्वत्तापूर्ण भूमिका में स्पष्ट कर दिया है कि किताबे 'नौ रस' वास्तव में ब्रज भाषा का ही एक काव्य ग्रंथ है। ब्रजभाषा के लिए कितने गौरव की बात हुई है कि उसकी रचनाओं की भूमिका जुहूरी जैसा उत्कृष्ट कवि फारसी भाषा में लिखे! नौरस के रचनाकार की संगीत निपुणता का परिचय देते हुए जुहूरी लिखता है कि :

ब नब्ज गीरिए तारे तम्बूर
ब इलाजे अलील नह दाने दर मसीहाई ॥

संगीत की जिस अलौकिक शक्ति का संकेत किया गया है वह पूर्णतः भारतीय है।

२. फारसी भाषा निर्विवाद रूप से मुग़ल साम्राज्य की राज भाषा एवं मुख्य भाषा थी, किन्तु द्वितीय भाषा के रूप में ब्रजभाषा का व्यवहार मुगलों को मान्य रहा है। ईसवीं सन् १६३० के आस-पास दक्षिण विजय के लिये नियुक्त मुग़ल सूबेदार आसफ खाँ ने भंगी झंगी और भगवानदास नामक दो प्रमुख बंजारों को दक्षिण युद्ध-काल में रसद आदि की पूर्ति के उपलक्ष्य में एक सनद जारी की थी। यह सनद ब्रज भाषा काव्य में ही लिखी गई थी। राठौर और 'जादवा' उपजाति के ये बंजारे दक्षिण में ही बस गये थे। वहाँ इन लोगों को 'नायक' कहा जाने लगा। 'ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स आफ सैन्ट्रल प्राविंसेज़ आफ इंडिया' भाग २, पृष्ठ १६८-६९ के अनुसार यह सनद भंगी नायक के घराने में अब तक विद्यमान है। ताम्र पत्र पर स्वर्णाक्षरों में लिखी आसफ खाँ की सनद इस प्रकार है—

राजन का पानी, छप्पर की घास, दिन में तीन खून माफ।
और जहाँ आसफजाह के घोर, वहाँ भंगी झंगी के बैल ॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

खानखाना जैसे लब्ध प्रतिष्ठ राजपुरुष एवं फारसी भाषा के पारंगत विद्वान के हृदय में भी भाषा में काव्य-रचना की प्रेरणा उत्पन्न हुई थी। भाषा काव्य के संरक्षक रूप में बीरबल को जो प्रसिद्धि मिली थी, उससे अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त करने की सात्विक स्पर्द्धा भी रहीम के मन में अवश्य ही काम करती रही होगी। इस प्रकार साहित्य संरक्षकों की पंक्ति में उच्च से उच्चतर और उच्चतम स्थान बनाने की अभिलाषा के फलस्वरूप भाषा साहित्य के संरक्षण की मुग़ल दरबार में सुदृढ़ परम्परा बन गई। बीरबल और रहीम के इस ऋण को भाषा साहित्य के इतिहास में उचित महत्व प्रदान करने की आवश्यकता है। मुगल दरबार और मुगलों के हरम में भाषा-काव्य का प्रवेश करानेवाले रीतिकालीन कवियों तथा उनके काव्य के महत्व को नगण्य करने से इतिहास की आत्मा के साथ अन्याय हो गया है। औरंगजेब को छोड़कर शेष सभी मुगल बादशाहों के साथ भाषा काव्य का संबंध आत्मीयता पूर्ण रहा[1] है।

कविवर गंग ने खानेखानान अब्दुल रहीम की प्रशंसा में अनेक छन्द लिखे हैं,

---

(शेष पिछले पृष्ठ से)

इतना नहीं जब मिर्ज़ा राजा जयसिंह शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण में युद्ध कर रहे थे, तब स्वयं औरंगजेब ने ब्रजभाषा और देवनागरी लिपि में पत्र लिखकर मिर्जा राजा जयसिंह के पास भेजा था। राजस्थान के स्वर्गीय राज्यपाल डा० सम्पूर्णानन्द के भाई श्री परिपूर्णानन्द वर्मा ने यह पत्र जयपुर राजघराने के संग्राहालय में देखा था। सैयद बन्धुओं के समय में फारसी में लिखे एक राजकीय पत्र में सैयदों के नाम के पीछे जू सम्बोधन का व्यवहार किया गया है। इस पत्र की फोटो प्रति 'ऐतिहासिक प्रमाणावली छत्रसाल' ग्रन्थ में प्रकाशित की गई है। मुगलों के यहाँ भाषा की साहित्यिक मान्यता ही नहीं, राजनैतिक मान्यता भी थी। जहाँ तक हिन्दू राजाओं का संबंध है, उनका समस्त प्रशासनिक ढाँचा अपने ही क्षेत्र की भाषा पर आधारित था।

१. औरंगजेब के शासन-काल में भाषा और भाषा कवियों को मुगल साम्राज्य का विशेष रूप से कोप-भाजन बनना पड़ा था। दतिया के पुराने रईस खरे जी के संग्रह में श्री उदय शंकर दुबे को एक कवित्त मिली है, जिससे इस बात की पुष्टि होती है कि भाषा कवि मुग़ल हरम की शहजादियों को काव्य-शिक्षा देने के लिये नियुक्त किए जाते थे। ऐसे ही एक कवि ने अपने ऊपर शाही कोप का वर्णन इस प्रकार किया है—

हरम ते साहि निकारि दियौ जब दिल्ली में औरंगजेब—(अस्पष्ट)
जाइफिरौ जसवंत के देसनि, रानवली उतसेहि पटाये।
खान खमान उदैपुर हो फिर बूँदी के हाड़ा के ठौर न पाए।
तोमर धार मझाइ के, भाजकै सूध भदावर आये॥

पाठ त्रुटित है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस छन्द का विशेष महत्व होने के कारण इसे उद्धृत किया जा रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जिनमें से एक छप्पय ऐसा है, जिसमें कवि ने भाव के प्रस्तुतीकरण अर्थात् शैली पक्ष पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। ऊहात्मक शैली का अनुसरण करने के मूल में विद्यमान फारसी काव्य की प्रेरणा तथा उससे आगे बढ़ने की प्रतिस्पद्र्धा का अनुमान करने के लिये तत्कालीन साहित्यिक परिस्थितियों को ध्यान में रखने की आवश्यकता है। फारसी कवि अपनी चमत्कारपूर्ण शैली में रहीम की प्रशंसा करने में बहुत आगे थे। इस वस्तुस्थिति को ध्यान में रखते हुए गंग जी ने भारतीय साहित्य में प्रचलित काव्य-विम्बों एवं भारतीय साहित्य के स्वभावानुकूल ही फारसी कवियों जैसी चमत्कारपूर्ण रचना प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। निश्चय ही उनके प्रयासों से भाषा काव्य की प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई है। कवि गंग को एक ही छन्द पर खानखाना रहीम से इनाम की जो राशि मिली थी, वैसी बड़ी धन-राशि शायद ही किसी अन्य कवि को मिली हो। किसी एक कवि को उसके एक ही छन्द पर एक लाख मुद्राओं का पुरस्कार दिया जाना साधारण बात नहीं है। गंग के साथ-साथ इस 'ज्ञानपीठ पुरस्कार' से भाषा-काव्य की भी श्रीवृद्धि हुई। इसप्रकार गंग की प्रतिभा ने राजभाषा फारसी की तुलना में भाषा काव्य को सवाई मान्यता दिलादी। गंग की प्रशस्तियों में जो साहित्यिक विशेषता है, उसे लक्ष्य करने के लिये फ़ारसी कवियों द्वारा लिखी रचनाओं को परिप्रेक्ष्य में रखना आवश्यक होगा। ईरान के सफ़वी सुल्तान की सभा में रहनेवाले 'कौसरी' नामक कवि ने रहीम की प्रशंसा में लिखा था कि—

के दर ईरान कसी न आयद पदीदार,
के बाशद जिन्सेमानी रा ख़रीदार।
दर ईरान तल्ख गश्ता कामे जानम,
बे बायद शुद सूअे हिन्दुस्तानम।
चू कतरा जानबे अम्मान फरिश्तम्,
मताए खुद बे हिन्दुस्ताँ फरिश्तम्।
के ना बूद दर सुखन दानाने दौरां,
खरीदारे सुख़न जुज़ खाने खाँना।

—ए हिस्ट्री आफ़ पर्शियन एट मुग़ल कोर्ट, भाग ३, पृ० २२५

ईरान के कवि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि इस समय मेरे देश की धरती पर कोई नहीं है, जो कविता के शब्दों में छिपे अर्थों को पुरस्कृत करे।

That in Persia no one comes within Sight.
who is a customer of the commodity of meaning.
In Persia the Palate of my soul has become bitter.
Go I ought towards Hindustan like a drop towards the occean.
I may send my commodity to India for there is not among the learned of the age.
The customer of speech except the Khan-i-Khanaan.

—वही P. 224-225.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फारसी भाषा के इसी रचनाकार 'कौसरी' ने रहीम की प्रशंसा में यह लिखा है कि कवि नज़ीरी तुम्हारे टुकड़ों पर पलकर आज इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका है कि फारसी के श्रेष्ठ कवि उसकी प्रशंसा में कसीदे लिखने लगे हैं—

Through eating crumbs at the table.
Nazir, the poet.
Has attained a position that other poets, write each in praise of him qasida so beautiful.

—हिस्ट्री आफ़ पर्शियन एट मुग़ल कोर्ट भा० ३, P. 223-24.

फारसी भाषा और साहित्य में अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशस्तियाँ लिखने की परम्परा वहुत पुरानी[1] है। मुख्य रूप से फारसी भाषा एवं साहित्य का विकास राज दरवारों में घटित हुआ है। अतिरंजित उक्तियों में प्रस्फुटित होनेवाली दरवारी परम्परा के मूल में अरबों और मंगोलों द्वारा किये गये ईरान के सांस्कृतिक एवं भाषायी दमन-चक्रों का लम्बा इतिहास है। अरव विजेताओं द्वारा शताब्दियों पद दलित किए जाने के कुछ ही समय बाद ईरानियों के सिर पर मंगोल एवं तुर्की विजेताओं की तलवार टँग गई। इन परिस्थितियों में उन्हें अपने विजेताओं के साथ समझौता करके जीवित रहने के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं रह गया था।

फारसी साहित्यकारों की 'हाँ हुजूरी' से परिपूर्ण दरबारी प्रवृत्ति के समक्ष प्रतिस्पर्द्धा और प्रतियोगिता करने के लिये भाषा-कवियों को व्यावहारिक जीवन-दृष्टि से बहुत कुछ सीखना आवश्यक हो गया था। पानी में घर बसाने के लिए मगर के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाना आवश्यक होता है। यदि भाषा-कवियों ने अपनी रचना-क्षमता का यह लचीलापन न प्रदर्शित किया होता, तो उन्हें फारसी परम्परा के अभ्यस्त सभासदों के मन और मिजाज़ को वशीभूत करके उनके साथ सन्निकटता और आत्मीयता बढ़ाने के अवसर नहीं प्राप्त हो सकते थे। इसके बावजूद भाषा कवियों ने शाहे वक्त की बंदगी जैसी प्रथा को नहीं स्वीकार किया। उन्होंने अपने देश की परंपरा और प्रकृति के मेल में ही कुछ समझौते भर कर लिए थे। इसीलिये नरहरि एवं गंग प्रभृति कवियों का प्रशस्ति काव्य ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्व का है। साहित्य सामाजिक जीवन के यथार्थ से विमुख होने पर अपनी नैसर्गिक क्षमता से वंचित हो जाता है।

रहीम की प्रशस्ति में लिखी गई गंग की कविता में साहित्य-गुणों के उचित सन्निवेश का अवलोकन किया जा सकता है। कवि गंग अपने काव्य-नायक रहीम के

---

1. The tradition persisted well into the ninetheenth century when for instance one mulla firoz composed and printed (Bombay 1837) the George Nama an epic on the British conquest of India in three volumes and some 2000, pages. It has continued spordically even to the present day.

—Legacy of Persia P. 216-17.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गुणों को संलाप की सहज शैली में चाक्षुष विम्ब-विधानों के माध्यम से हृदय-ग्राही रूप में प्रस्तुत करने में पूर्ण रूप से सफल हुए हैं। नायक के साथ कवि की निश्छल आत्मीयता होने के कारण गंग की प्रशास्तियों में शब्द जाल और वाक् विलास मात्र न होकर कवि हृदय की भाव-प्रेरणा एवं कवि की व्यक्तित्व चेतना का भी साक्षात्कार होता है। भारतीय संस्कृति में स्वयं को निमज्जित करनेवाले रहीम जैसे महा मानव की प्रशस्ति में अगर वह कवि-युग मौन बना रह गया होता, तो भारतीयजन की अकृतज्ञता एवं तत्कालीन कवियों की संकीर्ण मनोवृत्ति पर आज के युग में गर्व करने के स्थान पर हमें मुँह छिपाने की लज्जा का ही अनुभव होता रहता।

खानखाना रहीम केवल यश-पत्र व्यवसायिकों के ही प्रशंसाभाजन नहीं थे। रहीम की गुण-ग्राहकता की चर्चा नगरों से चलकर गांवों में रहनेवाले सामान्य स्त्री-पुरुष के वार्तालाप का विषय बन गई थी। सैनिकों की पत्नियाँ खानखाना की उदारता, दानशीलता एवं उनकी गुण-ग्राहकता को अपनी सखियों में चर्चा का विषय बनाती थीं। शाही सेवा में रहनेवाले कर्मचारियों को आए दिन दूर-दूर के प्रदेशों में होनेवाले सैनिक अभियानों पर जाना पड़ता था। दीर्घ-काल तक चलनेवाले अभियान काल में सैनिकों को वर्षों घर से सैकड़ों कोस दूर रहना पड़ता था। सेना में भर्ती होकर 'लाम' पर जानेवाले लाखों ग्रामीण सैनिकों की पत्नियाँ उर्मिला की भाँति अपने ही घर में बनवास भोगती हुई वियोग की आग में सुलगती रह जाती थीं! सरिता के दो छोरों पर खड़े चकई-चकवा की तरह सम्पूर्ण यौवन को वियोगपूर्ण अँधेरी रात की भाँति व्यतीत करने के अतिरिक्त इन उर्मिलाओं के पास कोई अन्य विकल्प नहीं था। तत्कालीन लोक-जीवन की इस सामाजिक विवशता को रीतिकालीन कवि उपेक्षित नहीं कर सकता था। कविवर गंग ने चकई-चकवा के प्रतीक द्वारा मार्मिकता के साथ सामाजिक इतिहास के उपेक्षित अंश—'गैप' को लक्षित किया है। एक नायिका जिसका पति रहीम की सेना का सैनिक था, अपनी सखी को सम्बोधित करते हुये कहती है—

हमारे तो प्रान नाथ, साथ हैं नवाबजू के,
दच्छिन के ओर-छोर जीति छिति लीनी है।
बकसत सुनियत मोती-माल, माते गज,
हयनि की हैलै दीनी, विदा पै न दीनी है।
यहै सोधौ पाइ दुख, सुख कै गवाँयो दिन,
रैनिन कँपति रति, पतिरंग भीनी है।
चकेई के बैन सुनि, व्याकुल ह्वै बूझैं बाम,
तेरेहू पिया को खानखाना मया कीनी है।

—गंग कबित्त छन्द सं० ३१६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतिकालीन कवि अपने युग की इन असंख्य उर्मिलाओं की उपेक्षा नहीं कर सकता था। भाषा काव्य के इस पक्ष को समझने के लिए जिस सहानुभूति की आवश्यकता थी, वह वस्तु उसको नहीं मिल सकी है।

भारतीय और फारसी प्रशस्ति काव्यों में देश भेद एवं संस्कृति भेद के कारण एक मूलभूत अंतर देखा जा सकता है। इस काव्य युग ने दोनों के बीच की दूरी को कम करने का भी काम किया है। फारसी भाषा की अतिशयोक्ति प्रधान ऊहात्मक उक्तियाँ इस युग में भारतीय भाषाओं में संक्रमित तो प्रचुर मात्रा में हुई, किन्तु भाषा-कवियों ने 'कविर्मनीषी' रूप में स्थापित कवि की मर्यादा का सदैव ध्यान रखा है। काव्य शक्ति को भारतीय परम्परा में दैवी गुण माना गया है, जिसका त्याग कर सकना भाषा-कवियों के लिए कठिन था। इसके विपरीत फारसी-पद्धति में नायक को ऊँचा उठाने के लिए काव्य-कर्ताओं में अपनी दिखानेवाली कुछ अमर्यादित उक्तियाँ भी प्रचलित थीं। दोनों भाषाओं की परम्परा का यह अन्तर दोनों देशों के इतिहास और उनकी संस्कृतियों का ही अन्तर है। रीतिकालीन कविता के स्वरों में उसकी निजी परम्परा का ही प्रस्फुटन हुआ है। गुलामी की प्रथा भारत में कभी उस रूप में नहीं रही, जिस रूप में फारसी साहित्य के जन्म स्थान फारस में रही है। यही वजह है कि भारत का भाषा-कवि फारसी कवियों की अपेक्षा अधिक स्वाभिमान प्रदर्शित कर सका है। कवि द्वारा अवांछित कथन किए जाने पर स्वयं समाज कवि को दण्ड देने के लिए उठ खड़ा होता था।[1] लोक चेतना के प्रहरी होने की अवस्था में किसी कवि का यह कथन कि कवि अपने आश्रयदाता के टुकड़ों पर पला है, भारतीय परम्परा में किसी भी रूप में लोक-ग्राह्य एवं लोकमान्य नहीं हो सकता था। हीन-भावना से ग्रस्त काव्योक्तियों से कवि का ही नहीं उसके आश्रयदाता का भी अपमान होता है। भाषा-काव्य एवं फारसी काव्य की दरबारी परम्परा के विभाजक तत्वों में यह दृष्टिकोण अत्यन्त स्पष्ट है। भाषा कवि और उसके आश्रयदाता के संबंध बराबरी के स्तर पर प्रतिष्ठित रहे हैं। किसी राजा के आश्रय में रहनेवाला कवि अपने आश्रयदाता के मित्र, आचार्य और गुरु के रूप में पूजनीय मर्यादा का

---

१. आधुनिक हिन्दी का आदिकाल ग्रंथ के पृ० १४४ पर उद्धृत छन्द से इस आशय की पुष्टि होती है—

नरकी नर की कविता जो करै, तेहि काटहु जीभ सु लब्बर की ॥

तुलसीदास और होलराय के संवाद रूप में तुलसी की उक्ति में गहरे व्यंग्य द्वारा अकबर के प्रशंसक होलराय की मीठी चुटकी ली गई है—

होलराय—— लौटा तुलसी दास को, लाख टका को मोल।
तुलसीदास का उत्तर—मोल तोल कछुवै नहीं, लेहु राय कवि होल ॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकारी होता था। केशवदास की रचना से इस आशय का साक्ष्य उपस्थित करना उपयुक्त होगा—

गुरु करि मान्यो इन्द्रजित, तन मन कृपा बिचारि।
ग्राम दए इक बीस तब, तबके पाँय पखारि।
इन्द्रजीत के हेत तब, राजा राम सुजान।
मान्यो मंत्री मित्र कै केसबदास प्रमान॥ —कविप्रिया

□ कवियों का राजसम्मान :

राजपूत राजाओं के राजदरबार में कवियों को जो सम्मान प्राप्त था, उसे केशवदास ने यथार्थ रूप में ही प्रस्तुत किया है। यह कथन कवि-परम्परा में पूर्ण रूपेण अनुमोदित है। चन्दवरदायी को पृथ्वीराज का अभिन्न मित्र माना जाना इसी परम्परा द्वारा संपोषित हुआ है। महाराज छत्रसाल ने इसी परम्परा के अनुसार भूषण की पालकी उठाई थी। यही नहीं अनुश्रुतियों के आधार पर हम कह आए हैं कि स्वयं अकबर ने इस परम्परा का आदर करते हुए नरहरि की पालकी में कंधा लगाया था।

केशवदास के ही युग में (१५८३ ई०) बूंदी राज्य के राव सुर्जनसिंह हाड़ा ने ईश्वर नामक एक चारण कवि को बूंदी राज्य का पोलपात (राजकवि) नियुक्त किया था। इस चारण कवि ने मिश्रित भाषा की कविता रचने में असाधारण योग्यता प्रदर्शित की थी। अतः कवि के वंशजों को "मीसण" अथवा 'मिश्रण' उपाधि प्रदान की गई। इसी कविवंश में उत्पन्न सूर्यमल्ल मिश्रण ने 'वंश भास्कर' में लिखा है कि एक सुन्दर घोड़े सहित विशिष्ट रथ के अतिरिक्त कवि की निजी सवारी के लिये उसे एक सिविका (पालकी) भेंट करने के अनन्तर राजा ने मोतियों द्वारा कवि के चरणों की पूजा की थी। यही नहीं कुछ दूर तक उक्त हाड़ा राजा कवि की पालकी उठाकर चला भी था—

रुचिर खास इक तुरग रथ, सुभ सिविका इक दिन्न।
पुनि मुन्तिन पय पुज्जिकै, पौरिपात्र निज किन्न॥
दिय नृप सिविका दण्ड लै अंध्रि चार निज अंस।
ईश्वर (नाम) कवि डेरन अवधि, पहुँचाए सप्रसंस॥

रीति युग के राज-समाज द्वारा कवि समाज को जो प्रतिष्ठा मिली थी, उसे कैसे निभाना चाहिए, इसे भाषा कवियों से सीखा जा सकता है। कवि की महत्ता के इस प्रतिमान से स्खलित होकर कोई भी कवि सामान्य जन एवं कवि-समाज की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दृष्टि में हास्यास्पद हो जाता था, इसीलिए ये कवि समय-समय पर राज समाज के आलोचक रूप में भी समाने आए हैं।[1] सामान्यतः रीतिकाल के सभी कवियों में, कवि-प्रतिभा एवं कवि कर्म का स्वाभिमान विद्यमान रहा है। कवियों के लिये प्रचलित कवीसुर (कवीश्वर) शब्द का रीतिकाल में अर्थापकर्ष नहीं हुआ था। इसीलिए ये कवि चाटुकारिता एवं हीनता की भावना के फलस्वरूप किसी संरक्षक की प्रशंसा में समकालीन फारसी कवियों की तरह यह मुहावरा नहीं प्रयुक्त कर सकते थे कि अमुक कवि अमुक गुणग्राही का उच्छिष्टजीवी रहा है। गंग के व्यक्तित्व और उनकी काव्य-चेतना की स्वकीयता इन्हीं मानदण्डों से आँकी जा सकती है। रीतिकाल में इसी पथ का अनुसरण हुआ है।

☐ भाषा-साहित्य का प्रशस्ति काव्य :

रहीम की प्रशंसा करने में गंग किसी भी फारसी कवि से पीछे नहीं थे, अपितु कहना तो यह चाहिये कि रहीम की प्रशंसा करने में गंग ने सभी कवियों को मात दे दी थी। ऐसा करते हुए भी रहीम विषयक गंग के छन्दों में नायक की शालीनता और संकोच-शीलता का जिस रूप में उत्कर्ष हुआ है, उसके कारण श्रोता-पाठक के हृदय में रहीम के व्यक्तित्व की अमिट छाप अंकित हो जाती है। जल से भरे मेघ और फल से लदे वृक्ष की तरह रहीम की निरभिमानिता भरे व्यक्तित्व को महाकवि गंग ने अत्यंत सरल एवं स्वाभाविक रूप में उद्घाटित कर दिया है। एक दोहे में ही रहीम का ऐसा भाव-पूर्ण 'पोट्रेट' अंकित हो गया है कि उनकी गौरवास्पदता पूर्ण रूप से मुखर हो गई है—

सीखे कहाँ नबाब जू, ऐसी देनी देन।
ज्यों ज्यों कर ऊँचे करौ, त्यों त्यों नीचे नैन ॥

गंग की प्रशस्ति परक रचनाओं में कवि के गहरे जीवन-बोध की अभिव्यक्ति

---

१. भाषा कवि राजाओं की दुर्नीति की आलोचना में कभी पीछे नहीं रहा—

देखौ कलियुग की राजनीति को तमासो वह, वास कियो आप हर एक की अकल पै।
खानदानवारे पानदान लिये दौरत हैं, तान गानवारे बैठि जैंवत महल में ॥
—ग्वाल कवि

तथा

महाकवि भूषण ने औरंगजेब जैसे बादशाह की उसी के युग में जिस रूप में भर्त्सना की है, उसकी उपमा ढूँढ़ पाना अत्यन्त कठिन है। इसीतरह गुरु गोविन्दसिंह जी ने 'ज़फ़रनामा' (फ़ारसी छंदों में लिखा पत्र जो औरंगजेब को संबोधित किया गया था) में निर्भीकता के साथ बादशाह की कटु आलोचना की है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मिलती है। जिस छप्पय की रचना करने पर रहीम ने गंग कवि को असाधारण रूप से पुरस्कृत किया था, उसकी समीक्षा करने पर विदित होता है कि सम्पूर्ण पद में चामत्कारिक वाक्यार्थ के अतिरिक्त उसमें निहित व्यंग्यार्थ में ही छप्पय की आत्मा का निवास है। कवि ने रूपासक्ति तथा विषयाशक्ति को लक्षित करनेवाले बिम्बों के माध्यम से मूल रूप में यही कहा है कि क्षात्र-तेज (वीर रस) में जो आकर्षण है, उसकी समता संसार में नहीं मिल सकती। रीतिकालीन जीवन-मूल्यों के प्रकाश में यही दृष्टि स्वाभाविक एवं वस्तुनिष्ठ है। भँवरा रहीम के युद्धोत्साह तथा युद्ध-वेश को सामने पाकर इतन। मुग्ध हो गया है कि वह अपने हृदय में विद्यमान पद्म-पुष्पों के सहज आकर्षण को भी भूल बैठा है। साधारण रूप से यह कहा जाता है कि किसी एक भँवरे को प्रेम का बंदी बनाने के लिए एक ही कमल का फूल पर्याप्त होता है, किन्तु गंग कवि ने यह कहा कि रहीम के वीर-रूप एवं उनके युद्धोत्साह का साक्षात्कार होने पर एक भँवरे को रिझाने में कमल के सहस्रों फूल विफल हो रहे हैं। इसीतरह की उक्तियों की लड़ी पिरोकर निष्कर्ष रूप में कवि यह कहता है कि अनेक पद्मिनी नायिकाओं की उपस्थिति में भी पुरुषगण उन स्त्रियों की उपेक्षा करके रहीम के वीररूप का दर्शन करने में दत्तचित्त हो गए हैं। सम्पूर्ण छन्द के केन्द्रीय भाव के रूप में इसी अर्थ को ध्वनित करना गंग कवि का लक्ष्य प्रतीत होता है। इसप्रकार प्रस्तुत छप्पय कवि की इस मान्यता का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि वीर-रस के समक्ष शृंगार रस की छटा नहीं छिटक सकती। यह बात दूसरी है कि आज के समाज में वीरता-मूलक युद्ध-बिम्बों का विषय महज़ कल्पना की बात बन गए हैं, इसीलिए इस युग के आलोचक के लिए वास्तविक अनुभूति के आधार पर की गई भाव संवेदना का स्पर्श कर सकना कठिन हो गया है। क्रिकेट के खेल में किसी खिलाड़ी द्वारा चौका-छक्का लग जाने के अवसर पर ही उन्हें उत्साह का किंचित अनुभव हो जाता है। हमारे विचार में रीतिकालीन कविता के अन्तरंग में झाँकने के लिए गंग का छंद दिशा-सूचक यंत्र का काम करता है। शृंगार और वीर रस की इस युग में अद्भुत रूप से अन्विति हुई है। इसी दृष्टि को पुष्ट करनेवाले छन्द को उद्धृत किया जा रहा है—

State Museum Library Lucknow 7624

चकित भँवर रहि गयो, गमन नहिं करत कमल बन।
अहि फनि मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन घन॥
हंस मानसर तक्यो चक्क चक्की न मिले अति।
बहु सुंदरि पद्मिनी, पुरुष न चहैं, न करैं रति॥
खल भलित सेस कवि गंग भनि, अमित तेज रवि-रथ खस्यो।
खानखान बैरम सुवन, ज दिन कोप करि तंग कस्यो॥

—गंग कवित्त छंद २६८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसके पूर्व यह चर्चा हो चुकी है कि लोक-जीवन के प्राकृत-विषयों को काव्य-बद्ध करनेवाले चारण-भाट कवियों की परम्परा. मुख्यतः मौखिक रूप में ही प्रवाहित रही है। सारस्वत भाटों की आरंभिक रचनाएँ यद्यपि विस्मृति के गर्त में चली गई हैं, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि अदृश्य हो जाने के उपरांत भी परवर्ती भाषा-काव्य को विकसित करने में वे सहायक हुई हैं। नरहरि और गंग का रचनाओं की अन्तर्वर्तिनी शक्ति का स्रोत उनकी परंपरा में ही मिलेगा। यदि यह परम्परा न रही होती, तो उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाशन हमारे समक्ष इतने परिष्कृत एवं विकसित रूप में नहीं हो सकता था। रीतिकाल की परवर्ती रचनाओं को नरहरि और गंग आदि कवियों की अन्तश्चेतना अविकल रूप से अनुप्राणित करती रही है। काव्य के कथ्य रूप में राजनैतिक एवं ऐतिहासिक विषयों की स्वीकृति का निर्वाह करने के साथ-साथ शैली एवं छन्द विधान की दृष्टि से भी रीतिकाल में इन्हीं कवियों का आदर्श स्वीकृत हुआ था। नरहरि के आदर्श को सामने रखकर समकालीन राजनीति को समाज-धर्म तथा जीवन का स्थूल सत्य मानकर उसे कल्याणकारी दिशा में अग्रसर करने में इन्हीं कवियों ने भावी पीढ़ी का मार्ग दर्शन किया है। भूषण जैसे विद्रोही राष्ट्र कवि की रचनाओं के अन्तर्साक्ष्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि वे भी औरंगजेब के सम्मुख यह प्रस्ताव करते रहे हैं कि वह हिन्दुओं के तत्कालीन नायक शिवाजी के साथ संधि कर ले। इस युग की कविता की रचनात्मक भूमिका के अन्य उदाहरण भी विद्यमान हैं। कवीन्द्राचार्य सरस्वती और उनके नेतृत्व में अनेक भाषा कवियों ने नरहरि के ही अनुकरण पर शाहजहाँ के सम्मुख उपस्थित होकर काशी एवं प्रयाग का धार्मिक कर माफ कराया था। जन-हित के पक्ष में राजतंत्र को उत्प्रेरित करते रहने की भाषा-काव्य की परम्परा भारतेन्दु युग तक अविकल बनी रही है। पं० श्री नारायण चतुर्वेदी के 'आधुनिक हिन्दी का आदिकाल' ग्रन्थ में तत्कालीन ब्रजभाषा काव्य के इस पक्ष पर सम्यक प्रकाश डाला गया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास विवेचन में 'नरहरि' आदि कवियों की अस्वीकृति होने से इतिहास की अन्तर्धारा की उपेक्षा होना स्वाभाविक है।

☐ शृंगार-चेतना पर वीर रस का प्रभाव :

महाकवि गंग की शैली का जिन कवियों पर विशेष रूप से प्रभाव लक्षित किया जा सकता है, उनमें भूषण, मतिराम, लाल, छत्रसाल, गुरु गोविन्दसिंह, भगवंतराय खीची एवं पद्माकर का नामोल्लेख उचित होगा। महाकवि भूषण और गंग की रचनाओं में भाषा और बिम्बों की सन्निकटता आश्चर्यजनक है। काव्य-विषय एवं काव्य-चेतना के अतिरिक्त दोनों कवियों की काव्य-भाषा के संघटक तत्व लय, नाद तथा विविध प्रकार के चाक्षुष एवं ध्वनि बिंबो को आमने सामने रखकर दोनों के बीच शैलीगत सन्निकटता स्थापित की जा सकती है। गंग के उद्धृत

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छप्पय में वीर रस की सर्व श्रेष्ठता व्यंजित करनेवाले जिस अन्तर्साक्ष्य की ओर इंगित किया गया है, उसकी पुष्टि का प्रमाण उनके शृंगारी छंदों के अनुशीलन में मिल जाता है। शृंगार-मूलक अनेक छन्दों में गंग की भाषा और उनकी बिम्ब-योजना में वीर रस के अनुकूल ओजस्वी एवं परुष ध्वनिवाले शब्दों का ही संयोजन किया गया है। वीर रस के उपमानों के माध्यम से कविवर गंग ने अभिसारिका नायिका को इस कुशलता से अंकित किया है कि रति-संग्राम का उत्साह पूर्णरूप से मूर्तिमान हो जाता है। शृंगार को वीर रसान्वित करने की दिशा में भाटों के महत्व को नगण्य नहीं किया जा सकता। संभवतः भाट कवियों की मौखिक रूप से विद्यमान काव्य शैली से सूरदास जी भी अवश्य प्रभावित हुए होंगे—

रुंधे रति-संग्राम-खेत नीके,
एक ते एक रनवीर जोधा प्रबल,
मुरत नहिं नेक अति सबल जी के,
काय छूटनि कटाक्षनि निहारे।
भौंह कोदण्ड सरनैन जोधानि की॥

परवर्ती कृष्ण भक्त-कवियों (मंदिरों में रहनेवाले भक्तों से ही हमारा तात्पर्य है) में इस शैली को विशेष स्वीकृति नहीं मिली, किन्तु रीतिकाल के गार्हस्थ प्रेम के कवियों द्वारा इस धारा को विस्मृत नहीं होने दिया गया। गंग द्वारा चित्रित युवती, नायक रूपी प्रतिभट से 'जूझ' करने के लिए कितनी युद्धातुर है, इसे देखने के लिये कवि के ही शब्दों में झाँकना उचित होगा'—

माँग खग्ग लट साँग चक्र, केउ चंद हार गर।
गति तीछन सर पलक, धनुष भृकुटी मुख ऊपर॥
नयन चपल हय सत्व, चाल गज, ढाल धरित कुच।
चलिय लरन रति-जुद्ध, गात कसि प्रेम-कवच-रुच॥
झिल मिलत धुजा फरकत बसन, बजत नाद बिछिया पगन।
'गंग' कुंज निकसि जूझन-चली, भए स्याम देखत मगन॥

शृंगार-रस से परिपूर्ण काव्य-चित्रों को वीर रस के बिम्ब-विधानों के माध्यम से रीति युग के कवियों ने अनेक स्थलों पर उकेरा है। इस प्रकार के उदाहरण गंग के कवित्तों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। वीर-पूजक एवं वीर रस के उपासक भाटों के व्यक्तित्व में इस शैली का विकसित होना उनके सामाजिक परिवेश के अनुरूप था। सम्पूर्ण जीवन की एकनिष्ठ साधना द्वारा ही काव्य-रचना में सिद्धि मिला करती है। भाषा के उन्नायक भाट कवियों ने केवल एक जीवन ही नहीं, पुश्त दरपुश्त एक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निष्ठभाव से काव्य-कला की साधना करते हुए भाषा-साहित्य को समृद्ध किया था। गंग और भूषण में विद्यमान शैलीगत नैकट्य को पुष्ट करनेवाले प्रमाण के रूप में महाकवि भूषण की रचनाओं को उद्धृत करना समीचीन होगा--

नैन-जुग नैनन सों प्रथमै लड़े हैं धाय,
अधर कपोल तेऊ टरैं नहि टेरे हैं।
अड़ि-अड़ि पिलि-पिलि लड़े हैं उरोज बीर,
देखौ लगे सीसन पै घाव ये घनेरे हैं ॥
पिय को चखायो स्वाद कैसो रति-संगर कौ,
भए अंग अंगिनि ते कैते मुठ भेरे हैं।
पीछे परे बारन कौ बाँधि के है आलिन सों,
भूषन सुभट येई पीछै परे मेरे हैं

तथा

मेचक कवच साजि, बाहन-बयारि बाजि,
गाढ़े दल गाजि रहे दीरघ बदन के।

गंग और भूषण की इस विशिष्ट धारा की अनुवर्तिता का प्रमाण मतिराम, बिहारी, आलम, रसलीन तथा राजा भगवंतराय खीची आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है।

नारी-सौन्दर्य की वृद्धि करनेवाले उपादानों में केश राशि के महत्व को एक मत होकर सभी कवियों ने स्वीकार किया है। केश-राशि के विविध प्रसाधनों में वेणी-विन्यास की विशेषता ने पुरुषों को सदैव मंत्र-मुग्ध किया है। वेणी के सौंदर्यगत महत्व के चित्रण में गंग और भूषण ने अनेक वीरता मूलक बिम्वों का संयोजन किया हैं। उन्हीं के प्रकाश में भगवंत राय खीची का एक छन्द उद्धृत किया जा रहा है--

रैन की उनींदी राधे, सोवति सबारो भए,
झीनो पट तानि रहीं पायनते मुखते।
सीस तै उलटि बेनी, उर ह्वै कै गर ह्वै कै,
जानु ह्वै छबिन सों लागी सूधे रुखतें ॥
सुरति-समर रति जोवन के महाजोर,
जीति 'भगवंत' अरसाय रही सुखते।
हरि को हराय मानो मैन मधुकरन की,
धरी है उतारि जेह-कंपे के धनुखते ॥

(उद्धृत छन्द की व्याख्या के लिये देखें—"भगवंतराय खीची और उनके मंडल के कवि" पृ० ९३-९५) श्रृंगार रस की उपमान-योजना के अन्तर्गत वीर रस

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का सन्निवेष आकस्मिक रूप से ही नहीं हो गया है। इसके पीछे कवियों की वीर रस में रमण करनेवाली प्रकृति तथा श्रोता समाज की अभिरुचि के साथ-साथ उस युग में वीरत्व की सार्वेपरि प्रतिष्ठा को ही इस शैली का पोषक समझना उचित होगा। दुर्भाग्य यह है कि जिस युग के कवि और उसके संरक्षक दोनों ही पक्ष प्रमुख रूप से युद्ध-जीवी योद्धा थे, उस युग की साहित्य सृष्टि पर स्त्रैणता का आरोपण करने का संक्रामक रोग लग गया है। अँग्रेज साम्राज्यवाद की पोषक इतिहास दृष्टि का अंधानुकरण करने से ही भाषा-साहित्य के ऊर्जस्वित पक्ष को कलंकित करने का प्रचलन विद्वत्ता का प्रमाण बन गया है। रीतिकालीन कविता की आत्मा और उसके निजी व्यक्तित्व की पहिचान करने के लिये आलोचना की पूर्वाग्रही मान्यताओं से मुक्त होकर वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ दृष्टि से ही इस काव्य का अनुशीलन करने की आवश्यकता है।

□ समस्या पूर्तियों का अतीत और उसका महत्व :

कहा यह जाता है कि संस्कृत भाषा के लौकिक साहित्य में पादपूर्ति अथवा समस्या पूर्ति की परम्परा फारसी भाषा साहित्य के साथ निकट संपर्क स्थापित होने के पहले से विद्यमान थी। अतः यह निश्चय करना कि भाषा-कवियों ने समस्या-पूर्ति को संस्कृत साहित्य की परम्परा से ग्रहण किया अथवा फारसी से यह एक जटिल एवं विवादास्पद प्रश्न है। हमारे विषय क्षेत्र में यही प्रासांगिक है कि फारसी साहित्य, विशेष रूप से मुगलों के साथ घनिष्ठ संपर्क के कारण ही भाषा में समस्या पूर्तियों को बढ़ावा मिला है। फारसी साहित्य में 'शेर बाज़ी', बैत बाज़ी, सवालुज्जुवाब, इत्यादि को अत्यधिक लोक-प्रियता प्राप्त थी। रदीफ़ और क़ाफ़िया के रूप में छन्द के अंतिम चरण अथवा चरण के अंतिम अंश को अन्य कवियों को दे दिया जाता था और उसी के वज़न पर पूरा छन्द रचने के लिए कहा जाता था। कभी-कभी कविगण किसी नए कवि की परीक्षा लेने के लिए दो या तीन चरण देकर शेष चरणों की पूर्ति करने का निवेदन करते थे। परीक्षा देनेवाला कवि अंतिम 'मिसरा' (चरण) की पूर्ति द्वारा अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रमाण दिया करता था। फ़ारसी भाषा की परम्परा के अनुसार शाहनामा के रचयिता फिरदौसी को भी इसी तरह की परीक्षा देनी पड़ी थी। महमूद ग़ज़नवी के दरबार में फारसी के तीन श्रेष्ठ कवि पहले से विद्यमान थे। वे तीनों एक साथ बैठे हुए थे, तभी फिरदौसी भी उनके समक्ष पहुँच गया। व्यंग्य से मुस्कराते हुए इन कवियों ने क्रमशः एक-एक चरण पढ़कर फिरदौसी के समक्ष तीन चरण उपस्थित कर दिए। इसके उपरांत उन सबों ने आगंतुक से कहा कि अब आप चौथा चरण लिखकर छंद को पूरा कर दीजिए। फ़िरदौसी ने तत्काल पाद पूर्ति करके अनसूरी, असजदी और फ़ारुखी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैसे कवियों को अपने काव्य-कौशल और इतिहास ज्ञान से चकित कर दिया। यदि फारस का इतिहास फिरदौसी को हस्तामलक न रहा होता, तो वह चौथा चरण लिखने में समर्थ नहीं हो सकता था। तुक की दृष्टि से दरबारी कवियों ने इस विशेषता से चरण रचे थे कि फारसी शब्द कोश में उस वज़न का शब्द ही न मिले।

फ़ारसी साहित्य की उक्त समृद्ध परम्परा के साक्ष्य में कहा जा सकता है कि भाषा कवियों के समक्ष दरबारों का जो स्वरूप विद्यमान था, उसमें स्थान प्राप्त करने के लिए भाषा काव्य में समस्या-पूर्ति को विशेष रूप से समुन्नत करना आवश्यक था। सम्पूर्ण रीतिकाल में समस्या-पूर्ति को प्रत्येक क्षेत्र में लोक-प्रियता प्राप्त हुई थी। दरबारी वातावरण में समस्यापूर्ति करने की क्षमता के आधार पर ही कवि की शक्ति और प्रतिभा का मूल्यांकन किया जाता था। प्रतिभावान कवि की उस युग में अनेक दृष्टियों से आवश्यकता थी। तत्कालीन आवश्यकतानुसार रीतिकालीन कवियों का विविध विषयों में निष्णात होना आवश्यक था। काव्य के माध्यम से जीवनोपयोगी शिक्षा देते समय गुरु, मनोरंजन करते समय मित्र, राजनैतिक विषयों पर सलाह देते समय मंत्री तथा जनसमाज में नायक के व्यक्तित्व के सद्गुणों एवं सुयश के पुरोधा होने के कारण उन्हें 'कवीश्वर' कहा जाता था। व्यक्ति विशेष के वीरत्व आदि गुणों को चिरकाल तक यशरूप में जीवित बनाए रखने के लिये उस युग में एकमात्र काव्य की ही सार्थकता थी। जिस प्रकार आज के युग में किसी राज्य अथवा शासनतंत्र को अपनी रक्षा एवं समृद्धि के लिये विविध प्रकार के प्रचार-तन्त्रों की आवश्यकता रहती है, उसी तरह राजसत्ता के लिए उस युग में कवि की वाणी का महत्व था।

इस परिप्रेक्ष्य के अनुसार काव्य–कला के उत्कर्ष एवं कवि के सम्मान की दृष्टि से रीतिकाल को भाषा साहित्य का स्वर्ण युग कहा जा सकता है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने एक स्थान पर स्पष्ट लिखा है कि रीतिकाल में श्रेष्ठ प्रतिभा वाले कवियों की संख्या वहुत बड़ी है। यह संख्या अस्सी तक पहुँच जाती है, जबकि संत, सूफी एवं भक्ति काव्य धाराओं में उत्कृष्ट कवि प्रतिभाओं की विरलता है। आचार्य जी की दृष्टि को ग्रहण करने से रीतिकालीन साहित्य की वस्तुस्थित को समझने में पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

कविता की उपयोगिता एवं महत्ता के कारण अच्छे कवियों को अन्य राज दरबारों से बुलाकर राजा लोग उनकी प्रसिद्धि के माध्यम से अपने राज दरबार के ऐश्वर्य-विस्तार के लिए पंख पा जाते थे। सैनिक और योद्धाओं की महत्ता युद्ध आदि अवसरों पर ही प्रकट होती थी, किन्तु कवि की आवश्यकता, युद्ध और शान्ति दोनों ही अवसरों पर समान रूप से रहती थी। इसीलिये कवियों को मिलने वाली वृत्ति और पुरस्कार की राशि साधारण सैनिकों को मिलनेवाले वेतन और पुरस्कार की अपेक्षा कहीं ज्यादा होती थी। कवि को जो कुछ मिलता था, उसके पीछे

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आवंटन नहीं होता था, जबकि सैनिक का धन उसके घोड़ों, हाथियों और हथियारों के मूल्य एवं सैनिक-कर्मचारियों के वेतन रूप में अन्य लोगों की मुट्ठियों में पहुँच जाता था। कवि की इस महत्वपूर्ण भूमिका के कारण उस युग में कवि को जाँचने-परखने के लिये समस्या-पूर्ति को मानक परीक्षा-पद्धति के रूप में ग्रहण किया गया था। समस्यापूर्ति के माध्यम से कवि प्रतिभा और उसकी क्षमता को प्रामाणिकता के साथ थहा लिया जाता था। यह परीक्षा-पद्धति इतनी वैज्ञानिक थी कि त्रुटि और पक्षपात की लेश मात्र गुंजाइश नहीं थी। इस विधा का साहित्य सीधे सहृदय एवं सामाजिक को लक्ष्य करके रचा जाता था तथा समस्यारूपी परीक्षा-प्रविधि में वही सामाजिक खुले रूप से साहित्य की श्रेष्ठता का मूल्यांकन करता था। आज की स्थिति की तरह उस युग में बिचौलिए साहित्यिक दलालों को अपनी दाल गलाने के बहुत कम अवसर थे। व्यावहारिक दृष्टि से जीवन में सफल होने के लिए हर युग में तत्काल बुद्धि एवं सभाचातुरी का महत्व स्वीकार किया गया है। रीतिकालीन साहित्यजीवी कवि और सामाजिक दोनों इन गुणों से संपन्न थे। जिसप्रकार आज की प्रशासनिक प्रतियोगिताओं में हिन्दी साहित्य के विद्यार्थियों की स्थिति अन्य विषयों के विद्यार्थियों की तुलना में अधिक दयनीय सिद्ध होती है, वह स्थिति रीतिकाल मेंनहीं उत्पन्न हुई थी। राजकाज और प्रशासन का आधार तत्काल बुद्धि एवं सभाचातुरी पर ही निर्भर करता है। सभाचातुरी के लिए आज के जीवन संदर्भ में डिबेटर और पार्ल्यमिंटिरियन कहा जाता है। अतः शासन-तंत्र से संबंधित होने के लिए एवं अपनी प्रतिभा के आधार पर प्राप्त किए गए पद के समुचित निर्वाह के के लिए लोकोन्मुखी जीवन-दृष्टि के उन्नायक रीतिकालीन कवियों के लिए अपने भीतर तत्काल बुद्धि और सभाचातुरी का विकास अनिवार्य हो गया था। पुस्तकीय ज्ञान के आधार पर की गई आलोचनाओं में समस्यापूर्ति की उपेक्षा करने के दुराग्रह से रीति-काल के साहित्यिक माहौल की ही उपेक्षा होती आ रही है।

जिस तरह प्रश्न-पत्रों में निबंध लिखने के लिये परीक्षार्थियों को निश्चित विषय दे दिये जाते हैं, उसी प्रकार प्रश्न रूप में कवियों को किसी कवि दरबार या सामाजिक समारोह के अवसर के लिये उपयुक्त समस्यायें दे दी जाती थीं। इन समस्याओं की पूर्ति करनेवाले कवियों की रचनाओं को सहृदय सामाजिकों की उपस्थिति में सुनने के पश्चात् आम राय के आधार पर कवि की प्रतिभा एवं उसके रचना-नैपुण्य का मूल्यांकन किया जाता था। परीक्षा की इस प्रविधि में धाँधलेबाजी की गुंजाइश नहीं थी। किसी मनुष्य की प्रतिभा को परखने के लिये उचित पद्धति का आविष्कार करना आज के शिक्षा-शास्त्रियों का सिर दर्द बना हुआ है, किन्तु उस युग में की जानेवाली समस्या पूर्तियों ने काव्य के क्षेत्र में इस समस्या को उचित

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ढंग से हल कर लिया था। इस खुली परीक्षा-पद्धति में प्रतिभा के साथ अन्याय होने की तनिक भी गुंजाइश नहीं थी।

संभवत: काव्य को अन्य कलाओं से विशिष्ट कहकर उसे 'ब्रह्मानन्द-सहोदर' सिद्ध करने के अनावश्यक आग्रह के कारण ही समस्यापूर्ति का महत्व उपेक्षित कर दिया गया है। काव्य अन्य कलाओं से कुछ विशिष्ट तो हो सकता है, किन्तु इस विशिष्टता का ध्रुवीकरण करके उसे अन्य कलाओं से विलक्षण एवं आलौकिक अनुभूति का विषय सिद्ध करने का प्रयास एक प्रकार की हठधर्मिता ही है। साहित्यालोचन की भाषा में प्रचलित इन घिसे-पिटे शब्दों की आज के जीवन संदर्भ में विशेष उपयोगिता नहीं रह गई है। यदि हिन्दी के विशाल साहित्य को आज के संदर्भ में सार्थक बनाए रखना है, तो अलौकिकता की ओर ले जानेवाली शब्दावली के मोह जाल से निकलना ही पड़ेगा। आज के जीवन-संदर्भ में ये शब्द पुराने ही नहीं पड़ गए, वल्कि अनावश्यक तोता रटंत के कारण इनका अर्थापकर्ष भी हो गया है। जिस युग में संसार की गति को विज्ञान परिचालित कर रहा है, उस युग में अपनी साहित्यिक समीक्षा के लिए अलौकिकता की उपाधियों का मानदंड बनाना अंततः साहित्य और जीवन के बीच असंगतियों की खाई खोदने के समान है। इससे साहित्य को लाभ के स्थान पर निरंतर क्षति हो रही है। साहित्यालोचन को युग की प्रकृति के अनुकूल ढालने की आवश्यकता से हमें आँख नहीं मूँदना चाहिए।

यदि रीतिकाल का इतिहास लिखने में समस्यापूर्तियों को उचित महत्व मिला होता, तो हम उस युग की सामाजिक एवं दरबारी प्रवृत्तियों का अधिक प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त कर सकते थे। किसी विख्यात कवि के भाव एवं उक्ति विशेष को स्पद्र्धात्मक भावना से अपनी भाषा-शैली की विशिष्टता के साथ चित्रित करने की स्पृहा ने इस युग की कविता को माँजने निखारने एवं चित्ताकर्षक बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। यह प्रवृत्ति संपूर्ण रीतिकालीन साहित्य में व्याप्त है। नए कवि को प्रतिष्ठित रचनाकारों की पंक्ति में स्थान दिलाने में समस्यापूर्तियों की जो भूमिका रही है, उसे कवि-समाज पीढ़ी दर पीढ़ी कंठस्थ रखता था।

किसी कवि-दरवार जिसमें आलम कवि भी उपस्थित थे, एक अवसर पर यह समस्या दी गई कि **"कंचन की सी कामिनी काहे को कटि छीन"**। उचित पूर्ति के लिये उक्त कविजी ने समस्या को लिखकर अपने साफे के एक खूँट में बाँध लिया। कवियों की खुली प्रतिस्पर्द्धा में अपने नाम को प्रतिष्ठित करने के इस अवसर से वे चूकना नहीं चाहते थे, अत: श्रेष्ठ स्तर की पूर्ति करने की उधेड़बुन में ही कुछ इस तरह डूब गए कि उन्हें समस्या की याद भी नहीं रहीं। बहुधा ऐसा हो जाता है कि जिस बात पर जितना ही ज्यादा ध्यान दिया जाता है, वह बात उतने ही सहज ढंग से दिमाग से उतर जाती है। आलम के साथ भी ऐसा ही हुआ। कवि के चित्त से बात कुछ उतर गई और उन्होंने अपनी पगड़ी को शेख़ नामक किसी रँगरेज़ स्त्री को रँगने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के लिये दे दिया। 'शेख़' ने पगड़ी में रंगों के बोर देने से पहले कवि जी की पगड़ी का खूँट खोलकर उस पुर्जी को पढ़ लिया। समस्या लिखी हुई कागज़ की पुर्जी अलग रख कर उस गुणी स्त्री ने पगड़ी को रंगों में बोर देने के उपरान्त समस्या के नीचे दूसरी पंक्ति लिखकर समस्या को दोहा छन्द में परिवर्तित कर दिया। जब कवि के पास खूँट में गाँठ बँधी हुई पगड़ी पहुँची, तब पगड़ी देखते ही कवि को अपनी पुर्जी की भी याद आई। घबराहट में आलम ने पगड़ी का खूँट खोल कर देखा तो पूरा छन्द इस प्रकार लिखा मिला—

कंचन की सी कामिनी, काहे को कटि छीन।
कटि को कंचन काटि के, कुचन-मध्य धरिदीन॥

रँगरेजिन 'शेख़' के वाक् कौशल एवं उक्ति वैचित्र्य की मौलिक उद्भावना से आलम कवि इतना अधिक अभिभूत हो गये कि अपना धरम करम छोड़ कर पंडित जी उस रँगरेजिन के साथ जीवन व्यतीत करने के लिये मुसलमान बन गए। जिस शैली के काव्य में भावों का उद्वेलन करने की इतनी अधिक क्षमता थी, उस प्रवीणता भरी काव्य-शैली को शब्द व्यायाम के रूप में उपेक्षित करके मात्र संस्कृत के अनूदित अंशों को आधार बनाकर रीतिकालीन साहित्य-धारा की भर्त्सना करने से हिन्दी का समस्त इतिहास लेखन सामजिक संदर्भों से प्रतिमुख होकर द्राविड़ प्राणायाम का प्रतिरूप बना हुआ है। रीतिकाल में कविता तत्कालीन सामाजिक युग-धर्म के रूप में समादृत रही है। इस युग में स्त्री-पुरुष, दोनों ही वर्ग निज प्रतिभानुसार काव्य-रचना में प्रवृत्त रहते थे। जो लोग सर्जन नहीं कर सकते थे, वे काव्य के रसास्वादन में ही मन-मस्तिष्क से डूबे रहते थे। शाही हरम से लेकर रँगरेजी के व्यवसाय में संलग्न स्त्रियाँ तथा राजदरबारों में रहनेवाली खवासिने तथा विविध प्रकार की गुणवन्ती स्त्रियों में ही नहीं, गांव में खेती बारी और कृषि-मज़दूरी करनेवाली महिलायें भी अपने काव्योछ्वासों से इस युग के क्षुब्ध वातावरण को सरसता प्रदान करने में दत्तचित्त रही हैं। केशवदास की 'कविप्रिया' के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उन्होंने उक्त रचना किसी कलावन्त स्त्री 'प्रवीणराय' (?) को काव्य-शिक्षा देने के लिये की थी।

काव्य-कला से युक्त स्त्रियाँ उस युग के पुरुषों को विशेष रूप से आकर्षित करती थीं। रहीम को अपने सैनिक के हाथों मिले बरवै छन्द[1] में काव्य लिखने

---

१. हम लिख आये हैं कि यह छन्द उदयचन्द कवि के 'बरवै नायिका भेद' ग्रन्थ में संकलित है। प्रस्तुत प्रसंग में लोकमत के आधार पर ही इसका उल्लेख किया जा रहा है। यह भी हो सकता है कि उदयचन्द मात्र संग्रह कर्त्ता एवं संपादक ही रहे हों।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की जो प्रेरणा मिली थी, उसका उल्लेख हम कर आए हैं। यदि एक ओर घाघ और भड्डरी जैसे सुखी दंपति काव्य-सृजन करते थे, तो शाही हरम के भीतर जहाँगीर और नूरजहाँ का काव्य-संलाप फारसी भाषा के काव्य-रसिकों की जिह्वा पर दौड़ता था। मुग़ल शहजादियाँ जहानआरा बेगम, रोशन आरा बेगम, और जैबुन्निसाकी रचनाएँ भी कम प्रसिद्ध नहीं हैं। इसी तरह के कुछ नाम 'मध्य कालीन हिन्दी कवयित्रियाँ' नामक ग्रंथ में देखे जा सकते हैं। ओरछा दरबार की प्रवीणराय के साथ केशव दास ने कुछ अन्य नाम भी गिनाए हैं। अतः वे भी इस कला में दक्ष रही होंगी। तुलना की दृष्टि से ही प्रवीणराय की काव्य प्रतिभा ने राजा इन्द्रजीत के हृदय में स्थायी प्रेम उत्पन्न किया था। केशव को काव्य-शिक्षा का ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा देकर इस स्त्री के काव्य-प्रेम ने रीतिकाल में काव्य-शिक्षा के व्यापक प्रचार और प्रसार की दिशा दिखाने में सचमुच एक काव्य युग के प्रवर्तन की प्रेरणा दी है। केशव का ग्रन्थ रीतिकाल में काव्य कला के प्राइमर रूप में हर शिक्षार्थी का कंठहार रहा है। इस प्रतिभाशाली सुन्दरी के रूपगुण की प्रसिद्धि जब अकबर के कानों में पहुँची, तब उसका मन इस रमणी के सान्निध्य लाभ की इच्छा से चंचल हो गया। आगरा बुलाए जाने पर पूरे आत्मविश्वास के साथ अकबर के समक्ष उपस्थित होकर इस सुन्दरी ने दो स्वरचित छंदों के माध्यम से अपने प्रतिवेदन को इस रूप में प्रस्तुत किया कि अकबर ने इसके नारीत्व की मर्यादा भंग करने का इरादा त्याग दिया। नरहरि कवि के समान प्रवीण की कविता भी बादशाह का हृदय जीतने में अचूक सिद्ध हुई--

बिनती राय प्रवीन की, सुनिए साह सुजान।
जूठी पातर भखत हैं, बारी बायस स्वान॥

तथा

अंग अनंग तहीं कुच संभु, सु केहरि लंक गयंदहिं घेरे।
भौहैं कमान तहीं मृग-लोचन, खंजन क्यों न चुगै तिल नेरे॥
जहाँ उगै इंदु तहाँ बस राहु, सुकीर के बिंबन चोंचन मेरे।
काहू न काहू से रोस करैं, सु डरैं डर साह अकब्बर तेरे॥

प्रवीणराय ने इस सवैया के माध्यम से यही व्यक्त किया है कि हे अकबर तुम्हारे साम्राज्य में शेर और बकरी एक घाट पर पानी पीते हैं। तुम्हारे साम्राज्य में चारों ओर तुम्हारी न्याय व्यवस्था का सुयश फैल रहा है, फिर मेरे ही साथ क्यों अन्याय किया जा रहा है? छंद में निहित प्रसंग-व्यंजना यह है कि अकबर जैसा न्याय प्रिय बादशाह अपनी सिंह प्रकृति त्याग कर क्यों उच्छिष्टजीवी बनने जा रहा है। तुलसीदास के व्यक्तित्व का उद्बोधन यदि उनकी पत्नी ने किया था, तो उस युग की एक साधारण कवयित्री ने सम्राट अकबर को अकबर महान के रूप में उद्बुद्ध

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया। कृषि मजदूरी करनेवाली स्त्रियाँ जाँत पीसनेवाली गृहिणियाँ, सभी गीत-जीवी थीं और उनमें से अनेक आशु कवयित्रियाँ भी थीं। घाघ एवं उसकी पत्नी के काव्य संवादों का एक उदाहरण देना उपयुक्त होगा। यह उदाहरण रीतिकालीन काव्य की ग्राम्य चेतना को स्पष्ट करने में सहायक होगा। घाघ ने ग्राम्य जीवन की प्रकृति का निरीक्षण करने के उपरान्त जो कुछ देखा समझा, उसे इस प्रकार की उक्तियों में प्रस्तुत किया--

"पउला पहिरे जे हर जोतैं, सुथनी पहिर-निरावैं।
घाघ कहै ऐ तीनी भकुवा, बोझ लैहे जे गावैं॥"

घाघ की स्त्री ने तत्काल घाघ के लोक-निरीक्षण में संशोधन करते हुए कहा कि—

अहिरा होय तो कस ना जोतै, तुरकिन होय निरावै।
छयला होय तो कसना गावै, हलुक बोझ जो पावै॥

उद्धृत-लोकोक्ति के आधार पर कहा जा सकता है कि सामान्य रूप से उस युग में नारी को उचित महत्व प्राप्त था एवं साहित्य एवं लोक साहित्य में उसकी प्रतिभा का प्रस्फुटन भी हुआ। लोक ने यही माना है कि घाघ की पत्नी द्वारा किया गया लोक का आलोचनात्मक अध्ययन उसके पति के लोकानुशीलन की अपेक्षा श्रेष्ठ था। अतः यह मान लेना कि स्त्री को उस युग में उपेक्षित स्थान मिला था, उचित नहीं कहा जा सकता।

काव्य-कला के क्षेत्र में पादपूर्ति एवं समस्या पूर्ति ने उस युग की काव्य-भाषा को निखारने और वाणी को संयत करने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। एलिज़ाबेथ युग के निबंधकार लार्ड बेकन ने लिखा है कि यदि बुद्धि में एकाग्रता का अभाव है, तो उसे गणित का अभ्यास करना चाहिए। **'इफ एनी बडी हैज़ बांडरिंग विट, लैट हिम स्टडी मैथेमेटिक्स।'** किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि बेकन के ही युग में पूर्वी दुनिया में समस्या पूर्तियाँ कवि की बुद्धि को लक्ष्य से रंच मात्र हटने का अवसर नहीं देती थी। उपयोगिता के आधार पर ही इस युग की कविता को लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। कवियों के लिये समस्या पूर्ति, काव्य-दंगलों का काम करने के साथ आम लोगों के लिये काव्य-शिक्षा के खुले हुये विश्वविद्यालयों की भूमिका निभाया करती थी। काव्य-रचना की परीक्षा में उत्तीर्ण होकर काव्य-जगत के इसी लोक-मंच से नए रचनाकारों को ख्याति अर्जित करने के अवसर भी प्राप्त होते थे।

पाद पूर्ति अथवा समस्यापूर्ति आदि काव्य-शैलियों की उपयोगिता और उनके महत्व को समझने के लिए अकबर के समय की साहित्यिक और राजनैतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखना आवश्यक होगा। राजनैतिक सोच-विचार को लोक

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हृदय तक संप्रेषित करने के लिये अकबर ने समस्यापूर्तियों को अपना साधन बनाया था। इस दूर-दृष्टि ने मुगल सम्राट को जनसामान्य का नायक और प्रेम-भजनो बनाने में महत्व पूर्ण भूमिका अदा की है।

अकबर के समकालीन ईरान के शाह अब्बास ने अनेक बहुमूल्य उपहार प्रेषित किए। इन्हें लेकर जब ईरान का राजदूत दरबार में उपस्थित हुआ, तो उसने भरे दरबार में शाह अब्बास की भेजी चिट्ठी भी पेश कर दी। इस चिट्ठी में शाह के मलिकुश्शुअरा 'मुल्ला वाहिद' की लिखी हुई एक कविता भी थी, जिसे उद्धृत किया जा रहा है—

जंगी बे सिपाहो ख़ैलो लश्कर नाज़द।
रूमी बे सिनानो तेग़ो खंज़र नाज़द॥
अकबर बे ख़ज़ीना पुर अज़ ज़र नाज़द।
अब्बास बे जुल्फ़कारे हैदर नाज़द॥

Zangi Prides upon his army horse and foot.
Rumi Boasts of his spear, swords and dagger,
Akbar is proud of his treasure full of gold.
The pride of Abbas is the Sword of Ali".

मुल्ला 'वाहिद' की इस कविता को सुनकर अकबर की सभा स्तंभित हो गई। कवि ने सूक्ष्म व्यंग्य-ध्वनि के सहारे हिन्दुस्तान के शहंनशाह जलालुद्दीन अकबर को मुस्लिम देशों के बादशाहों की तुलना में हेठा सिद्ध कर दिया था। अकबर की विशेषता केवल धन दौलत के आधार पर आँकी गई थी, जबकि अन्य बादशाहों की प्रशंसा बहादुरी और उनकी सैन्य शक्ति के आधार पर इंगित की गई थी। इस अवसर पर अबुल फज़ल के बड़े भाई 'फ़ैजी' ने अपनी तत्काल बुद्धि एवं वाक्पटुता की विशेषता से नौ रत्नों से मंडित अकबर की समस्त राजसभा को अपमान जनक स्थिति से किस प्रकार उबार लिया था, इसका प्रमाण प्रस्तुत किया जा रहा है—

फिरदौस बे सल सबीलौ कौसर नाज़द,
दरिया बे गुहर फलक़ बे अख्तर नाज़द।
अब्बास बे जुल्फ़कारे हैदर नाज़द,
कोनैन बे जाते पाके अकबर नाज़द।

Paradise Prides on its Streams Salsabil and Kausar.
The sea boasts of its pearls, the sky of its stars.
Abbas takes pride in the sword of Ali.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

The object of pride to both the worlds is the pure self of Akbar.
—History of Persian Language and Lit. Ghani. Part III P. 65.

'फ़ैज़ी' की उक्ति की विशेषता यह है कि, शाह अब्बाह के कवीश्वर द्वारा अपने संरक्षक के सम्बन्ध में कही गई उक्ति का अक्षरशः अनुमोदन तो किया, किन्तु अकबर को इस रूप में ऊपर उठा दिया कि 'वाहिद' के उक्ति-चमत्कार पर पानी फिर गया। जिस युग में बादशाहों, राजाओं और अमीरों के कवीश्वरों के बीच प्रतिस्पर्द्धात्मक प्रतियोगिताएँ नित्य की घटनाएँ थीं[1] उस युग में समस्यापूर्ति के अभ्यास से उत्पन्न वाक्पटुता कवि-कर्म के लिये मेरुदण्ड का काम करती थी। इस साहित्य विधा की उपेक्षा करना अनुचित है।

महाकवि तुलसीदास और रहीम खानखाना के बीच होनेवाले काव्य-बद्ध पत्रव्यवहार एवं काव्य-बद्ध संलाप श्रुति परम्परा में सुरक्षित हैं। अनुश्रुतियों में विद्यमान दोनों युग-पुरुषों के संबंधों को 'तबक़ात-इ-अकबरी' का लेखक पुष्ट करता है। अब्दुल ग़नी साहब ने इस प्रमाण का अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है। इतिहास ग्रन्थों एवं लोक स्मृति में प्राप्त प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में यही मानना ठीक होगा कि इन कवियों ने 'तरहा मिसरा' (पाद पूर्ति ?) के रूप में अनेक दोहे रचे, जो दोनों कवियों की संयुक्त रचनाएँ मानी जाती हैं—

"धूर धरत अहि सीस पै, कहु रहीम केहि काज ?
उत्तर— जेहि रज मुनि पत्नी तरी, सोइ ढूँढ़त गजराज ॥"

भाटों की परम्परा में पाद पूर्ति एवं समस्यापूर्ति का इतिहास संकलित करने वाले कृष्ण कवि के अनुसार बनारस का निवासी दीन दयाल नामक ब्राह्मण एक दिन दरिद्रता की व्यथा लेकर तुलसी के सम्मुख उपस्थित हुआ। गरीब ब्राह्मण की प्रार्थना से पसीज कर संत कवि तुलसीदास ने एक पुर्जी पर दोहे का आधा चरण लिखकर उक्त फ़रियादी को दे दिया एवं उससे कहा कि इस पुर्जी को लेकर वह रहीम की सेवा में चला जाय। दोहे की अर्धाली इस प्रकार थी—

सुरतिय नरतिय नागतिय, सब चाहत अस होय।

---

१. औरंगजेब के अधिकारी दानिशमन्द खाँ के साथ बर्नियर भी शाही लश्कर के साथ कश्मीर गया था। कश्मीर में बादशाह के पहुँचने पर कवि दरबार लगा, जिसमें मुगल और कश्मीरी कवियों की प्रतियोगिता हुई। इसका वर्णन उसके ग्रन्थ पृष्ठ ४०१ में है। मेरा अनुमान है कि इसी दानिशमन्द खाँ को फाज़िल अली भी कहा जाता था। कंपिला के कविराज सुखदेव (सुखदेव मिश्र से भिन्न) ने इन्हीं की आज्ञा से 'फाज़िल अली प्रकाश' ग्रंथ का निर्माण किया था। बर्नियर के वर्णनों और कवीन्द्र कल्पलता में संकलित कुछ छंदों में अद्भुत भाव साम्य है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दूसरी अर्धाली स्वयं न लिखकर तुलसीदास ने रहीम की प्रशंसा के भाव को गर्भित कर दिया था। तुलसीदास ने निस्वार्थ भाव से रहीम के व्यक्तित्व की वस्तु-स्थिति का संकेत करके स्वयं को "बिन काज दाहिने बाएँ" रहनेवाले रूढ़िवादियों की आलोचना से बचने का रास्ता निकाला था। तुलसीदास की चिट्ठी मिलने पर रहीम ने ब्राह्मण को पर्याप्त धन देने के उपरांत पहले चरण के नीचे दूसरा चरण लिख कर तुलसी की उक्ति को ऐसा मोड़ दे दिया कि वह तुलसी की ही प्रशस्ति में घटित हो गई। रहीम की विनयशीलता एवं निरभिमानिता का इससे बढ़कर अन्य प्रमाण भला क्या हो सकता है ?

सुरतिय नरतिय नागतिय, सब चाहत अस होय।
गर्भ ('गोद' नहीं) लिये हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥

रहीम के व्यक्तित्व की इसी सहृदयता और इसी उदारता ने अपने युग के लोगों को सम्मोहित कर लिया था। अतः निर्भ्रान्त रूप से कहा जा सकता है कि समस्या पूर्ति एवं पाद् पूर्ति के रूप में लिखे गये काव्य में भाव चैतन्य, सभा-चातुरी और अपने युग-परिवेश को लक्षित करने की उचित सामर्थ्य है।

प्रारंभिक खड़ीबोली काव्य में भी समस्या पूर्ति का अधिग्रहण हुआ है। भारतेन्दु युग के कवियों में इस का खूब प्रचार था। पं० श्री नारायण चतुर्वेदी के अनुसार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' पत्रिका के माध्यम से समस्या-पूर्ति को नया रूप प्रदान किया था। कवियों के पास प्रकाशित होनेवाले चित्र भेज कर वे उन चित्रों के ऊपर कविता लिखाते थे। भाटों की साहित्यिक काव्य परम्परा के निष्णात कवि मणि कृष्ण कवि की स्पष्ट मान्यता है कि भाषा काव्य में समस्या-पूर्ति का प्रचलन अकबरकालीन देन है। इस शैली को राजनैतिक उद्देश्यों से प्रेरित होकर ही प्रोत्साहित किया गया था। अकबर के युग में कवियों को प्रायः ऐसी समस्याएँ दी जाती थीं कि कविगण बादशाह की प्रशंसा करने के लिए बाध्य हो जाएँ। इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए अकबर ने रहीम से कहा कि तुम तुलसीदास के मित्र हो, अतः उन्हें ऐसी समस्या भेजो कि उसकी पूर्ति करने के लिए अन्य कवियों के समान तुलसीदास भी मेरी प्रशंसा करनेवालों की पंक्ति में शामिल हो जाएँ। रहीम ने शाही आदेश का पालन किया और तुलसीदास के सान्निध्य में जो समस्या लिखी वह इस प्रकार थी—

"करें नित आस अकब्बर की"[1]

---

१. पं० श्री नारायण चतुर्वेदी ने अपने ग्रंथ 'आधुनिक हिन्दी का आदिकाल' के पृ० १५४ में इसी से मिलती जुलती एक समस्या का उल्लेख किया है, जिसकी पूर्ति किसी श्रीधर नामक कवि ने

शेष अगले पृष्ठ पर

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तुलसीदास के सम्मुख धर्म-संकट उपस्थित हो गया कि इस विषम परिस्थिति में वे क्या करें ? राम की भक्ति के लिए चातक की निष्ठा का आदर्श व्रत करने वाले संत कवि के सम्मुख रहीम जैसे महामानव के प्रेम और मैत्री का महत्व भी कम न था। अतः ईश्वर निष्ठा एवं मानवता पर आधारित भाई चारा इन दोनों का एक साथ निर्वाह करनेवाली एक ऐसी पूर्ति तुलसी ने रहीम के पास लिख कर भेज दी, जिसे पढ़ कर बादशाह को अपनी चतुराई भरी युक्ति पर लज्जित होना पड़ा। छंद का अंतिम चरण इस प्रकार है—

"जिनके प्रभु की परतीत नहीं,
ते करैं नित आस अकब्बर केरी।"

किसी कवि के बौद्धिक प्राखर्य एवं उसकी कवि सहज-प्रतिभा की परीक्षा लेने की दृष्टि से बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में भी ब्रजभाषा काव्य प्रेमियों के बीच समस्यापूर्तियों का प्रचलन रहा है। एतद्विषयक सैकड़ों सुन्दर छन्द प्रस्तुत किए जा सकते हैं। इस रूप में लिखे गए छंदों में से अनेक ऐसे होते थे, जो अपने साहित्य गुणों के कारण रसिकों की जिह्वा पर नाचते रहे हैं। ब्रज भाषा काव्य के इस लोकप्रिय पक्ष को खड़ीबोली के समीक्षक एवं इतिहासकारों ने जान बूझ कर उपेक्षित किया था। 'लोकप्रियता ही साहित्य की कसौटी नहीं है', जैसी उक्तियों द्वारा इस उपेक्षा-भाव का औचित्य भी प्रकट किया गया है। श्री आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी इस पक्ष के प्रमुखों में हैं।

इतिहास की धारा में जब-जब नए मोड़ उपस्थित होते हैं एवं जब-जब नई विधा और नई व्यवस्था का आगमन होता है, तब-तब आगन्तुक युग अपनी पूर्ववर्ती एवं समवर्ती शक्तियों के प्रति इसीप्रकार की लड़ाई लड़कर उसी के ध्वंस पर अपना

(शेष पिछले पृष्ठ से)

की थी। उस युग में किसी एक समस्या पर सैकड़ों कवि छन्द रचना करते थे। अतः कृष्ण कवि के छंद में पाठान्तर होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत प्रसंग में हम चतुर्वेदी जी के ग्रंथ से पूरा छंद उद्धृत कर रहे हैं :—

अबके सुलतान भए फुहियान, जो बाँधिहिं पाग अटब्बर की।
नर की नर की कविता जो करै, तेहि काटहु जीभ सु लब्बर की॥
इक श्रीधर आस है श्रीधर की, नाहि त्रास है कैसेहु जब्बर की।
जिन्हें काहू की आस न है जग में, सो करौ मिलि आस अकब्बर की॥—पृ० १५४

नोट :—कृष्ण कवि के पास तुलसीदास का पूरा छंद है, ऐसा उन्होंने कहा था। कई कारणों से उन्होंने उक्त छंद मुझे नहीं प्रदान किया। जीवन भर के परिश्रम से जो वस्तु प्राप्त की जाती है, उसके प्रति मोह होना स्वाभाविक है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महल खड़ा करता है। खड़ीबोली ने भी ब्रजभाषा-काव्य के साथ ऐसा ही मत्स्य न्याय किया है। इतिहास की यह प्रकृत धारा सनातन काल से इसीप्रकार चलती आ रही है एवं इसीप्रकार चलती भी रहेगी।

अकबर के शासन काल में फारसी की जोड़-तोड़ में भाषा-काव्य को विकास के अप्रतिम अवसर प्राप्त हुए। मुहावरेदानी के साँचे में ढली सँवरी फारसी भाषा की परिष्कृत शैली के रचनाकारों के समक्ष उन्नत ग्रीवा से बैठने का अवसर भाषा कवियों को निजी विशेषताओं के आधार पर ही सुलभ हुआ था। समस्यापूर्तियों के माध्यम से ही भाषा कवि अपनी रचना-क्षमता का प्रमाण दे सके थे। इस तरह परिस्थिति-वश भाषा-काव्य की प्रयोजन-मूलकता में नयी क्षमता का विकास होने लगा। उस युग में बात का बतंगड़ बनाने की अपेक्षा बतंगड़ों को मुहावरों में ही ढाल देने की आवश्यकता पर बल दिया गया। भावना एवं बुद्धि पर आश्रित उक्तियों का उद्देश्यपूर्ण निबंधन ही इस शैली की कविता का मुख्य स्वर था। यदि उपरोक्त तत्वों के ग्रहण से किसी मनुष्य की असहृदयता सिद्ध होती है एवं जीवन-क्षेत्र में इनकी कोई आवश्यकता नहीं है, तो उक्त धारा की कविता को भी साहित्य में उपेक्षित किया जा सकता है।

समस्यापूर्ति में विषय-सीमा और उद्देश्य की प्रभावान्विति का परिसीमन इस रूप में रहता था कि कवि को विषयान्तर में जाने का अवकाश ही नहीं मिलता था। आज की साहित्य-शिक्षा में विषयगत एकाग्रता का कितना अभाव है, इसे बताने की आवश्यकता नहीं, किंतु उस युग की स्थिति आज से भिन्न एवं उत्साह जनक थी। समस्या पूर्ति के रूप में लिखे जानेवाले छन्दों को हम लघु काव्य निबन्धों के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। किसी केन्द्रीय भाव की परिधि में कल्पना के बिखरावों को समेटने के साथ उक्ति की विशिष्टता द्वारा श्रोता-पाठक को मंत्र-मुग्ध करने वाली काव्य-कला को इस विधा द्वारा यथेष्ट रूप में माँजा-निखारा गया था। इस आधार पर कहा जा सकता है कि भाषा-साहित्य के इस पक्ष की उपेक्षा करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के विशाल भंडार अर्थात उसके 'डाटाबेस' को ही नकार दिया गया है। इतिहास लेखन के क्षेत्र में इस संकुचित दृष्टि कोण का प्रवेश और प्रचलन कैसे हुआ एवं यह दृष्टि किन कारणों से रूढ़ हो गई, यह भी अपने आप में इतिहास-विश्लेषण का एक रोचक पक्ष बन सकता है।

कहा जा चुका है कि भाषा-साहित्य समाज के सम्मुख विद्यमान नई परिस्थितियों के लिए उपयुक्त जीवन-मूल्यों की खोज करनेवाले भविष्यद्रष्टा विचारकों की वाणियों द्वारा संवर्धित हुआ था। अतः नई युग चेतना से विकसित साहित्य के लिए उसीके अनुरूप विकसित जीवन-मूल्यों की खोज करनेवाली आलोचना दृष्टि से ही भाषा-साहित्य का अनुशीलन वैज्ञानिक एवं तर्क संगत हो सकता है। अँग्रेजी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संस्कारों से ग्रस्त और त्रस्त्र विश्वविद्यालयी आलोचनाओं ने इस साहित्य के साथ कितना न्याय-अन्याय किया है, इस तरफ उचित ध्यान दिया जाना आवश्यक हो गया है। उदाहरण के लिए भाषा साहित्य के संगीत पक्ष की ओर इंगित करना उचित होगा। भारतीय संगीत-शास्त्र के गहरे ज्ञान के बिना हम इस साहित्य का औचित्य पूर्वक रसास्वादन नहीं कर सकते। संतो और भक्तों का समस्त पद साहित्य राग-रागनियों में ही बँधा हुआ है और इसी के सहारे वह जनता का हृदय हार बन सका है। किन्तु उस मूल दृष्टि से उसका रसास्वादन आज दुर्लभ हो गया है। भाषा कवित्तों ने इस संगीत-तत्व को किस रूप में आत्मसात किया, यह सब जाननेवालों की बाजार अब उदस रही है। इस उपेक्षा वृत्ति ने हमें अपनी विरासत से रहित कर दिया है। इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पर एक कथा याद आ रही है।

किसी जार के सहवास जन्य पाप का प्रच्छालन करने के लिए कोई महिला त्रिवेनी स्नान करने आई। गंगा में डुबकी लगाते समय वही जार स्त्री के सामने खड़ा मिला। संस्कृत से स्वतंत्र अस्तित्व के लिए 'भाषा' ने अपना नया गाँव बसा तो लिया, किन्तु पंडिताऊ आलोचना ने तीर्थ में भी भाषा का पिंड नहीं छोड़ा और उसके घर में घुस कर उसे अपनी रखेल बनाए रही। किताबी आलोचना ने कभी भाषा-साहित्य को उसका दाय नहीं मिलने दिया। कभी संस्कृत के श्लोक, कभी अँग्रेजी भाषा की गिट पिट और कभी मार्क्स के सूत्र उसके आड़े आ जाते हैं।

☐ जातीय स्वाभिमान का संवर्धन :

अकबर के दरबार में आने जानेवाले भाषा-कवि 'यश-पत्र-व्यवसायी मात्र' न होकर राजनैतिक वास्तविकता के ज्ञाता एवं मर्मज्ञ भी थे। इनके अन्त: करण में स्वधर्म, स्वभाषा एवं स्वदेश प्रेम की गर्वानुभूति पूर्णत: विद्यमान थी। इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि अकबर के आश्रय में रहनेवाले भाषा कवि उसके प्रतिद्वन्द्वी राणा प्रताप के प्रति आन्तरिक सहानुभूति रखते थे। मुगल सेनाओं द्वारा दक्षिण के 'बहमनी' राज्यों की विजय पर गंग ने अपनी प्रसन्नता प्रकट की है, किन्तु राणा प्रताप के साथ होनेवाले संघर्षों में कवि की सहानुभूति मेवाड़ के राणा के प्रति व्यक्त हुई है। कवि गंग के अनुसार राणा प्रताप और अकबर के साथ होनेवाले संघर्षों में किसी क्षण मेवाड़ का राणा डूबता (हारता) हुआ दृष्टिगोचर होता है, तो दूसरे ही क्षण वह युद्ध-समुद्र में उबरता (जीतता) हुआ दिखाई देता है। अकबर के प्रताप वर्णन में ही कवि ने गूढ़ रूप से (पकड़ में न आनेवाली व्यंजना) कहा है कि इस समय संसार में अकबर के चढ़ते हुए प्रताप मार्तण्ड के सम्मुख एक ही व्यक्ति दृष्टि गोचर हो रहा है, जो उसकी जोड़-तोड़ में खड़ा रह सका है और वह व्यक्ति महाराणा प्रताप है। छप्पय के अंतिम चरण में राणा का नामोल्लेख साभिप्राय है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस तरह कवि ने राणा के प्रति अपने हृदय का सम्मान प्रकट करने में सांकेतिक शैली को साधन बना लिया है—

गुज्जर बै गंभीर नीर निझ्झर निझ्झरिया।
अति अथाह दाउद्द साह बुंद्दन उब्बरिया॥
धाम घुट्टि हृदराम जाम जोहत हरि लीन्हों।
हिन्दू तुरक तड़ाग सबै कर्दम बिन कीन्हों॥
भनि गंग अकब्बर अक्क सम, नृप नृपानि इमिकर करैं।
राना प्रताप नर नाअर्राहि छिन डुब्बै छिन उच्छरै॥

—छन्द सं० २६८

गंग कवि की रचनाओं में हिन्दुत्व की नव चेतना का बीजांकुर असंदिग्ध रूप में देखा जा सकता है। राजा मानसिंह कछवाहा की प्रशस्ति में इस चेतना का दिग्दर्शन करानेवाले छन्द का प्रश्न वाचक अंतिम चरण इस प्रकार है—

हद्द कोद कियें आयो, धायो बगमेलमान,
कब कब खुरासन हिंदवान भई ती?

हिन्दू अस्मिता का यह बीजाकुंर परवर्ती भाषा काव्य में भारतेन्दु युग तक निरंतर विकसित और पल्लवित होता रहा है। भाषा साहित्य की यही अन्तर्वर्ती शक्ति अन्य भारतीय भाषाओं से उसकी वरिष्ठता प्रमाणित करती है।

☐ संतों द्वारा राजनैतिक चेतना का बीजारोपण :

भारत के इतिहास-गगन में अकबर का सितारा इस तेजस्विता के साथ उदित हुआ था कि उससे विरोध मोल लेना दीवाल से सर टकराने के समान था। प्रतिकूल परिस्थितियों में लड़कर जूझ मरने की अपेक्षा नीति से काम लेने में ही बुद्धि की परीक्षा होती है। इसी राजनैतिक वास्तविकता को दृष्टिपथ में रखकर तुलसीदास ने उत्साहातिरेक में बह जानेवाले विद्रोहियों को समय के अनुसार संयम और समझदारी से काम लेने की सलाह दी थी। साहित्य एवं इतिहास के संदर्भ-ज्ञान से रहित व्यक्ति यदि इस दोहे का यह अर्थ खोजने लगें कि तुलसीदास विद्रोहियों को हतोत्साहित करनेवाले 'सरकारी साधू' थे, तो उन्हें कौन रोक सकता है?

"गहि न जाति रसना काहू की कहो जाहि जो सूझै।"

इस संबंध में हमारा विनम्र निवेदन है कि तुलसीदास-कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों एवं उनके संपूर्ण काव्य की संगति में ही अधोलिखित दोहे में तुलसी के अभिप्रेत को समझने का प्रयत्न उचित होगा—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भरुहाए नटभाट के, चपरि चढ़े संग्राम।
कै वे भाजै आइ हैं, कै बाँधे परिनाम॥

—दोहावली ४४२

तुलसीदास ने विद्रोह और उपद्रव में भेद न कर पानेवाले अविवेकी जनों को व्यर्थ में जान गँवाने से रोका था। विद्रोहियों को चुप बैठने की सलाह देने के अनेक कारण थे। सामान्यता मुगल सेना के तोपखाने की बराबरी करनेवाली वस्तु भारतीय विद्रोहियों के पास नहीं थी एवं जनता का विश्वास जीतनेवाला चारित्र्य बल भी राजाओं में नहीं दिख रहा था। इसी तरह राजनैतिक सूझ-समझ को भी पाला सा मार गया था। इन त्रुटियों को दूर करना आवश्यक था।

अकबर के प्रशासन की अच्छाइयों में हतप्रभ न होकर भारतीय राजा अपनी अस्मिता जाग्रत रखें, इसी उद्देश्य से उन्होंने भारतीय राजाओं को जनोपयोगी नीतियों द्वारा जन-समर्थन प्राप्त करने के लिए समुचित सलाह भी दी थी। तुलसी साहित्य के इस पक्ष पर सम्यक रूप से ध्यान देने की आवश्यकता का उल्लेख मात्र किया जा रहा है—

काल तोपची तुपक महि, दारू अनय अकाल।
पाप पलीता कठिन गुरु, गाला पुहुमीपाल॥ —दोहा ५१५
भूमि रुचिर रावन सभा, अंगद पद महिपाल।
धरम राम, नय सीलबल, अचल होत सुभकाल॥ —दोहा ५१६
करके कर मन के मर्नाहि, बचन बचन गुन जानि।
भूपहिं भूलि न परिहरै, विजय विभूति सयानि॥

—दोहा ६१७ आदि

तुलसीदास के ही युग में ओरछा के बुंदेला राजा वीरसिंह देव के आश्रय में रहनेवाले 'मित्र मिश्र' नामक संस्कृत के पंडित कवि ने ; 'वीर मित्रोदय' नामक एक विशाल ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ में राज-धर्म की बृहत् रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि संत गण विद्वत् समाज और कवि समुदाय समान रूप से शासन-तंत्र को शुद्ध करने के लिये चिंतित ही नहीं यत्नशील भी थे। महाराज छत्रसाल की कविताएँ तथा उनका प्रशासन इस चेतना के विकास का प्रमाण निबद्ध करता है। तुलसीदास के 'रामचरित मानस' की तत्कालीन इतिहास के साथ यही प्रासांगिकता है कि राम-कथा के माध्यम से परोक्ष रूप में भारतीय राजाओं को बहु पत्नीत्व-प्रथा के कारण उत्पन्न होनेवाली राजनैतिक जटिलताओं से सावधान किया जाय। उत्तराधिकार के लिए भाइयों की सर कटौवल को स्नेह-प्रेम में रूपान्तरित करके भारतीय राजकुलों में संगठन के आदर्श का बीजारोपण करके तुलसीदास तत्कालीन राजनैतिक रुग्णता को साहित्य-महौषधि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चटाकर स्वस्थ करने के लिए ही घर से विरक्त हुए थे। वशिष्ठ, निषाद्[1] एवं वानरों को आमने सामने रखकर तुलसीदास ने ऊँच नीच, छोटे-बड़े की सामाजिक दूरियों को पाटने का मार्ग-दर्शन भी किया है। इसी तरह उत्तरकाण्ड में सामाजिक क्रान्ति-चेतना की आड़ में अवर्णों और सवर्णों के टकरावों से उत्पन्न घृणा एवं विद्वेष को रचनात्मक एवं सौहार्द्रपूर्ण रूप देने का प्रयत्न भी उनकी रचनाओं में कथित हुआ है। इस द्वेष-दूरी को 'कैपिटल' बनाकर राजनीति का उल्लू सीधा करनेवाली दृष्टि की तुलना में तुलसी की जीवन-दृष्टि स्वस्थ एवं रचनात्मक थी। रावण की सुसज्जित सेना और सुवर्ण की दीवालों से बनी लंका जैसी यातुधान-नगरी पर बनचरों की सहायता से राम की विजय दिखाकर तुलसीदास ने निहत्थी और निर्धन जनता में आशा और विश्वास का संचार किया था।

'हिन्दी साहित्य का अतीत' ग्रन्थ में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने तुलसीदास की रचनाओं एवं उनके द्वारा स्थापित रामनगर की राम लीला तथा हनुमान की आराधना के आधार पर स्पष्ट कर दिया है कि अकबर के युग में तुलसीदास ने प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूपों से अपने कृतित्व से तत्कालीन समाज को जाग्रत एवं संगठित करने का श्रीगणेश कर दिया था। इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि कबीर आदि संतों द्वारा चलाए गए आध्यात्म और सामाजिक कुरीतियों का संशोधन प्रवाह सोलहवीं शताब्दी के अन्तर्गत राजनैतिक संशोधन की ओर उन्मुख हो गया था। यही वजह है कि सत्रहवीं शताब्दी के राजनैतिक एवं सैनिक इतिहास में संतों का ही वर्चस्व है।

☐ सिक्ख गुरुओं की दूरदर्शिता :

भाषा साहित्य में प्राप्त भक्ति आन्दोलन संबधी रचनाओं के सम्यक अनुशीलन के लिए पंजाब के सिक्ख गुरुओं के इतिहास का विशेष महत्व है। गुरु नानक देव बाबर के आक्रमण के प्रत्यक्ष दर्शी थे। इस आक्रमण के दौरान उन्होंने अनीति और दमन-चक्र का जो रूप चलते देखा, उससे उनको मर्मान्तिक पीड़ा हुई थी। "श्री गुरु ग्रन्थ साहब" में उपलब्ध 'बाबरवाणियों' में संत की वेदना का साक्षात्कार किया जा सकता है।[2] भारतवासियों के सिर पर टूटे हुए जुलम के पहाड़ पर उन्होंने परमात्मा से भी यह प्रश्न पूछा था कि "एती मार पई कुरलाड़े, तो कूं दर्द न आया"

---

१. प्रेम सहित केवट कहि नामू, कीन्ह दूरते दण्ड प्रनामू।
राम-सखा रिषि बरबस भेंटा, जनु महि लुटत सनेह समेटा।।

तथा

राम अपने गुरु वशिष्ठ के साथ वानरों को समानता के स्तर पर परिचित कराते हैं।

२. पाप की जंज लै काबलहु धाइया, जोरी माँगे दानु वे लालो।
सरमु धरमु दुइ छप खलोए, कूड़ फिरै परधानु वे लालो।।
—श्री गुरु ग्रंथ साहब पृ० ७२२-२३ तथा पृ० ३६० एवं ४१७।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात् निरीह एवं अबोध जनता के ऊपर असह्य अत्याचार किए गए, फिर भी तू स्वर्ग में ही बैठा दुखी जनता का कुहराम देखता रह गया। जब मत्युलोक की रक्षा करने के लिए पृथ्वी पर भगवान के आने की आशा नहीं रह गई, तब लोगों में अपनी रक्षा का भाव उत्पन्न हुआ और लोकोन्मुख चिंतन तथा लोकोन्मुख कर्म-विधान की स्वीकृति द्वारा संत आन्दोलन ने एक नए आयाम में प्रवेश किया।

पाँचवें सिक्ख गुरु श्री अर्जुनदेव ने अकबर के शासन काल के उत्तरार्द्ध में उत्तर भारत के समस्त संत ठिकानों में बिखरी हुई गुरुवाणी का संग्रह करने का नेतृत्व किया। इसी के साथ-साथ भाषा में अपनी वाणियाँ प्रकट करनेवाले अन्य भारतीय संतों के वचनों का संग्रह भी किया गया। संत वाणियों का यह संग्रह गुरु नानक देव का शब्द शरीर अथवा उनके आध्यात्म विग्रह का प्रतिनिधित्व करने वाला 'गुरु ग्रन्थ साहब' नाम से विख्यात हुआ। उत्तर भारत के विभिन्न भाषा-भाषी संतों में एक सूत्रता की खोज के माध्यम से प्रान्तों एवं बोलियों की एक रूपता का भाव भी इस वाणी संपादन की प्रक्रिया में उभर कर ऊपर आ गया। बदली हुई ऐतिहासिक एवं समाजिक स्थिति के अनुकूल हिन्दू-मुस्लिम धर्मों के बीच फैले विद्वेष और घृणा-भाव को प्रेम में रूपांतरित करने का लक्ष्य भी गुरु अर्जुनदेव की दृष्टि में अत्यन्त स्पष्ट था। इस प्रकार सह अस्तित्व का भाव जाग्रत करने की दृष्टि से भी इस ग्रंथ का व्यापक महत्व है। अपने युग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुसार ढाली गई इस प्रगतिशील धर्म दृष्टि ने हिन्दू-धर्म की चेतना को बासी होने से बचा लिया। इस ताजगी और युगानुरूपता का समावेश किए बिना उत्तर-पश्चिम भारत में इस्लाम के उन्मद और आक्रामक प्रवाह की चपेट से हिन्दू धर्म की रक्षा कर पाना अत्यंत कठिन था।

गुरु ग्रन्थ साहब की संपादन-प्रक्रिया और उसकी मूलभूत प्रेरणा निश्चित रूप से भारतवर्ष के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। इस ग्रन्थ में सिक्ख गुरुओं की वाणियों के अतिरिक्त कबीर, फरीद, सूरदास, नामदेव, जयदेव, पीपा, रविदास, सैन एवं सदन कसाई की वाणियों का संकलन करके उत्तर भारत के सभी धर्मों, वर्गों एवं प्रान्तों के लोगों को भावात्मक स्तर पर एक साथ खड़ा करने एवं जोड़ने का प्रयत्न किया गया है। संतों के अतिरिक्त नल, माधों, हरजस आदि भाटों के पदों को भी इस ग्रंथ में शामिल किया गया है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि 'गुरु ग्रन्थ साहब' ने नवयुग चिंतन के सभी स्रोतों एवं प्रचार माध्यमों को एकत्र करने का काम किया है। यही वजह है कि अगली शताब्दी (१७ वीं) के राजनैतिक इतिहास में संतों का ही वर्चस्व प्रकट हुआ है।

'गुरु ग्रन्थ साहब' के माध्यम से भाषा में एक ऐसा धर्म-ग्रन्थ सुलभ हो गया, जिसमें धर्म-भाषा के रूप में संस्कृत की सनातन प्रतिष्ठा की पूर्ण रूप से उपेक्षा की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गई है। सबसे ज्यादा उल्लेखनीय बात यह है कि इसी ग्रन्थ के पीछे-पीछे सिक्ख गुरुओं ने प्रत्यक्ष रूप से संगठित होकर अन्याय का विरोध करने के लिए समकालीन राजनीति में प्रवेश किया। जहाँगीर के शासन-काल के प्रारम्भ (सन् १६०७ ई०) में ही लाहौर में इतने महान युग-चिंतक गुरु अर्जन देव की निर्मम शहीदी हुई। भारतीय संत समाज में इस महापुरुष की हत्या के कारण गहरी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था। इसी घटना के उपरांत[1] राजनीति सिक्खों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न बन गई। गुरु अर्जुन देव के उत्तराधिकारी एवं उनके सुयोग्य पुत्र षष्ठ गुरु हरगोविन्द जी ने नानक देव की गद्दी में स्थापित 'पीरी' के साथ-साथ 'मीरी' (सरदारी) को भी अपना आदर्श बनाने का निश्चय कर लिया। इस प्रकार देश में क्षात्र-तेज को सजग करने के लिए संत-चिंतकों ने जनता को परलोक चिंता के साथ-साथ लोक-रक्षा का बाना बाँधने का नया आदर्श उपस्थित कर दिया।

यूरोप में जर्मनी के मार्टिन लूथर के विचारों ने इसी युग (१६वीं शताब्दी ई०) में नई क्रान्ति-चेतना को अग्रसर किया था। इसी चेतना के ग्रहण से यूरोप में आधुनिक काल का प्रादुर्भाव हुआ है। रोम के पोप की धर्म-सत्ता को इन प्रोटेस्टैंट विचारकों ने यूरोप से उखाड़ फेंका है। इन्हीं धार्मिक विचारों की छत्र-छाया में क्षेत्रीय विशिष्टता का भाव जाग्रत हुआ, जिसने यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना को जन्म देकर उसे पल्लवित किया। धार्मिक नव चेतना के संसर्ग से ही दर्शन एवं साहित्य आदि क्षेत्रों में भी नए विचारों का संप्रवेश हुआ। इसी युग-करवट के फलस्वरूप व्यापारियों का मध्य वर्ग संगठित रूप में इसप्रकार उभरा कि वह समस्त संसार पर हावी हो गया। यूरोप की भौतिक क्रांति को जिसतरह के यथार्थवादी धर्म-चिंतन ने प्रभावित किया है, भारत के सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी के इतिहास में उसका अभाव नहीं है। दोनों के बीच गुणात्मक अंतर है, भारतवर्ष के संत विचारकों के मार्ग में राजनैतिक वातावरण की प्रतिकूलता सबसे बड़ी बाधा थी। इसी कारण यूरोप तथा भारत की इतिहास धारा के परिणामों में गहरा अंतर आ गया है।

---

१. अकबर के शासन काल में 'वीरबल' ने सिक्खों से धन वसूल करना चाहा था। इस प्रयत्न में वीरबल सफल मनोरथ नहीं हो सका था। उसे किसी मुहिम पर काबुल की ओर जाना पड़ा। वहाँ वह सेना सहित वर्फ में गल गया। देव कवि ने एक होहे में वीरबल की सेना के गल जाने का उल्लेख किया है। लगता है इस घटना के बाद सिक्खों के साथ धन वसूल करने के लिए बहुत दिनों तक छेड़छाड़ नहीं की गई। (श्री गु० प्र० सू० ग्रं० भाग १, १७८-१८०) जहाँगीर के शासनकाल के प्रारम्भ में ही बादशाह के अहदी ने दो लाख रुपये का कर माँगा था। इसी धन को न देने पर चंदू नामक अधिकारी ने गुरु श्री अर्जुन देव की लाहौर में तरह तरह की यातनाएँ देकर हत्या करा दी थी। गुरुजी की कैद होने पर तत्कालीन संत समाज क्षुब्ध हुआ था, इसका उल्लेख भी श्री गु० प्र० सू० ग्रंथ में है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यूरोपीय धर्म सुधारकों को राजतंत्र के साथ अनवरत रूप से खून की होली नहीं खेलनी पड़ी थी, किन्तु भारत में यही परिस्थिति हावी रही है।

☐ यूरोपीय धर्मान्दोलन से भारतीय संतों के धर्मान्दोलन की विशिष्टता :

भारतीय संत-चिंतन पारलौकिकता के साथ-साथ भौतिक एवं राजनैतिक प्रश्नों की ओर जन लोक को उन्मुख करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इंगलैंड में हेनरी अष्टम की सहायता से प्रोटैस्टेंट चर्च का काम आगे बढ़ा, किन्तु भारतीय संत आंदोलन सामाजिक रूढ़िवादिता एवं साम्राज्यवाद दोनों का एक साथ विरोध कर रहा था। अतः इन संतों के लिए दो शक्तिशाली मोर्चों पर लड़ने के कारण विजयी होना कठिन हो गया। फिर भी इस आन्दोलन ने राष्ट्रीय संकल्प जाग्रत करने में जो सफलता प्राप्त की है, उसे किसी भी रूप में उपेक्षित नहीं किया जा सकता। पंचम गुरु अर्जुनदेव ने लाहौर के लिए प्रस्थान करते समय बूढ़े जाट पुरोहित के समक्ष हरगोविन्द जी को यही उपदेश दिया था कि इस संकट काल में राष्ट्रीय संस्कृति की रक्षा के लिए सर्वस्व होम करने की भावना से ही गुरु गद्दी के उत्तराधिकारियों को देश-जाति का नेतृत्व करना होगा। उस-युग परिप्रेक्ष्य एवं उस युग की आकांक्षाओं को स्पष्ट करनेवाले शब्दों को उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

छत्रिन कुलते युद्ध हट्यौ है, राज तेज को सकल घट्यो है।
भए मलेछ शस्त्र बड़धारी, करहिं राज बड़ अवनी सारी॥
× × × ×
देत रहे शांती उपदेश, जिह सुनि काटे सकल कलेश।
अव सायुध गुरु होवहिं आप, सिख सायुध करि बधहिं प्रताप॥
अपर कौन समरथ इस काल, सभि छित तुरकन राज विसाल।[१]
रावर ते होवै विध सारी, हिन्दु धरम को लेहु उबारी॥

—श्री गुरु प्र० सू० ग्रं० भाग २, राशि ४, अंशु ३०, पृ० ४७०

---

१. दशम गुरु गोविन्दसिंह जी की वाणी द्वारा इसकी पुष्टि होती है। उन्होंने विचित्र नाटक में स्वयं लिखा है कि—

याही काज धरा हम जन्मं, समझि लेहु साधू सभ मनमं।
धर्म चलावन संत उबारन, दुष्ट सभन को मूल उपारन॥

ओरछा के राजा सुजानसिंह ने इसी भावना को प्रतिफलित करने के लिए छत्रसाल को आशीर्वाद दिया था। एक ही युग के दो महापुरुषों के विचारों में प्राप्त यह भाव साम्य आकस्मिक नहीं हो सकता—

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

□ श्री हरगोविन्द जी का राजनैतिक संकल्प और नेतृत्व :

गुरु हरगोविन्द जी के जीवन की घटनाओं से पुष्ट होता है कि गुरु श्री अर्जुनदेव एवं गुरु श्री हरगोविन्द जी के सदुपदेशों को उन्होंने अपने जीवन के उद्देश्य रूप में धारण कर लिया था। मुग़ल बादशाहों के ऐश्वर्य से गुरुओं के ऐश्वर्य को सवाया सिद्ध करने के लिए इसी समय से नानक देव की 'गुरु गद्दी' को तख्त ही नहीं बल्कि **'अकाल तख्त'** कहा जाने लगा। मुगल बादशाह अपने को अकबर (सबसे बड़ा) एवं जहाँगीर (संसार का बादशाह) कहते थे, तो गुरुओं के अनुयायी उनको **'सच्चा बादशाह'** कहने लगे। 'सच्चा बादशाह' शब्द की जो अर्थ-व्यंजना है, वह मुगल बादशाहों की मान्यता पर सीधा प्रहार करती थी।[1] इस नाम से यह व्यंजना भी होती थी कि मुगल बादशाह दुनिया का बादशाह कहलाने का जो प्रचार करते हैं, वह एक झूठ है। इस तरह गुरुओं की वेश-भूषा एवं सैनिक ठाट-बाट द्वारा गुरु-दरबार दिल्ली और लाहौर के मुगल दरबारों का प्रतिरूप बनने में यत्नशील हो गया। इस नए परिवर्तन के फलस्वरूप गुरु दरबारों में शांतरस के स्थान पर वीररस का वर्चस्व स्थापित होने लगा। चंदूमल नामक एक खत्री दीवान ने जहाँगीर बादशाह के समक्ष गुरु हरगोविन्द जी पर जो आरोप लगाये थे, उनके अवलोकन से हरगोविन्द जी द्वारा प्रचलित उन नयी रीतियों का परिचय मिल जाता है, जिनके कारण मुगल साम्राज्यवाद के संपोषकों का आशंकित होना स्वाभाविक हो गया था—

तखत नाम गदी को राख्यौ, आयुध विद्यामँहि अभिलाख्यौ।
तज्यो फकीरन को बेस, समता चाहत शाहु विशेष॥
संग चमू हित जंग करन के, राखत दिन प्रति सुभ्नट बरन के।
कहिवावनि लाग्यौ पतिशाह, करहि अखेट ब्रित्ति बन माँह॥

(शेष पिछले पृष्ठ से)

"हिन्दु धरम जग जाइ चलावौ, वौरि दिली दल हलनि हलावौ।"
—छत्रप्रकास पृष्ठ ९६

इसीप्रकार भूषण ने शिवाजी के विषय में कहा है—

"हिन्दू बचाए इही अमरेस (शिवाजी)
चँदावत (राजपूतों की एक शाखा) लौं कोउ टूटै सो टूटे।"

१. राजा ह्वै कै डॉडिए पटेल सम पातसाह, कोटि पतिसही या रजाई पर वार नै।
तथा
अब लगि जानत हे बड़े होत पातसाह, सिवराज प्रगटे ते राजा बड़े होत हैं। इत्यादि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूरब साके ब्रिद पवाड़े, जिनहुं, कीन बहु जंग अखाड़े ।
तिनकौ सुनहि ढाढ़िअनि पास, पुन अपनी वल कहैं प्रकास ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में गु० प्र० ग्रं० भाग २ राशि ४ अंशु ४८, पृ० ५६० तथा इसी राशि का अंशु ५३ पृ० ५८० भी देखने योग्य हैं ।

सिक्ख सम्प्रदाय द्वारा मुगल सम्राट की राजनैतिक सत्ता के समानान्तर धार्मिक संस्था की स्थापना का प्रमाण निबद्ध करने के साथ उद्धृत चौपाइयों की अंतिम चौपाई चारण भाटों की मौखिक काव्य परम्परा की विशेषताओं को भी लक्षित करती है । पूर्वकालीन वीरों के पुरुषार्थ और बलिदानों को जीवित रखने के साथ चारण शैली का काव्य नई पीढ़ी में सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा के लिए प्रेरणा एवं आस्था भी जाग्रत करता था । सिक्खों को 'सायुध' करने के साथ-साथ, संतों को खाँड़ा-व्रती बनाने के लिए 'ढ़ाढ़ियों' से बड़े-बड़े युद्धों के 'साके और पवाड़े'[१] सुनने के साथ गुरु के योद्धा रूप की प्रशस्ति सुनना (पुन अपनो बल कहै प्रकाश) अकाल तख्त के दरबारों का धर्म बन गया ।

गुरू अर्जुन देव ने गुरुवाणी के संग्रह-संपादन के लिए महाराष्ट्र से लेकर बंगाल तक के प्रबुद्ध सन्तों से सम्पर्क स्थापित करके उन सब में एकता और सन्निकटता का भाव उत्पन्न किया था, तो षष्ठ गुरु हरगोविन्द जी ने देश के प्रतिष्ठित और राजनैतिक व्यक्तियों के साथ दीर्घकालीन विचार विमर्ष के उपरांत राजनैतिक जागृति का बीड़ा उठानेवाली शक्तियों को उत्साहित और एक जुट किया । यह संयोग तब घटित हुआ जब जहाँगीर ने गुरु हरगोविन्द जी को ग्वालियर के किले में बन्दी बना दिया था ।

---

१. हिन्दी-साहित्य कोश भा० १ पृ० ४४५ में पवाड़ों को मराठी भाषा की देन बताया गया है । वस्तुत: इस शब्द का व्यवहार समस्त हिन्दी-भाषी क्षेत्रों की लोक भाषाओं में सुलभ है । प्राणनाथ जी के ग्रन्थ कुलजम स्वरूप में इस शब्द का प्रयोग झगड़े के ही अर्थ में हुआ है । 'पवाड़े के बिना हिसावैं' पृ० ४३४ 'हरियानवी' में भी इसका मूल अर्थ छूटकर इसका लाक्षणिक अर्थ 'झगड़ा' युद्ध और कलह इत्यादि के रूप में प्रचलित है । 'शकारि' का घिसा हुआ रूप 'साका' और पवाड़ा दोनों शब्द हरियानवी में पर्यायवाची हैं । इसी संदर्भ में 'प्रवाद' शब्द से की गई व्युत्पत्ति पर पुर्नविचार करने की आवश्यकता प्रतीत होती है । हमारे विचार में 'पावाड़ा' शब्द मालवा के परमार राजाओं की प्रशस्ति के लिए व्यवहृत होता था । मालवा से खिसक कर पँवार राजपूत अनेक स्थानों में फैल गए । महाराष्ट्र में भी गए और सभी जगह अपने साथ अपने पूर्व पुरुषों के गीत भी लेते गए । कालान्तर में 'पँवार' शब्द का अर्थ विकास होकर किसी भी 'परिवार' के वीरता भरे इतिहास के लिए रूढ़ हो गया । परिवार या 'पाँवर' का वीरतामय इतिहास—जो गाये जाने योग्य हो, वह सब पवाड़ा कहा जाने लगा । इसी अर्थ में इसका प्रयोग सर्वत्र प्रचलित हुआ है । बुंदेलखंड में मुहावरा है—पंवारा न बता ठिहारी बात कह" भाट और चारण कवियों की परंपरा इसी काव्य-धारा का संपोषण करती रही है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस किले में गुरु जी के पहुँचने के पहले ही ५२ राजे आजीवन कारावास का दण्ड भोग रहे थे। इस तरह दुर्भाग्य ने राजनैतिक समागमों का सुअवसर प्रदान कर दिया। गुरु जी के जीवन-काल के प्राप्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि ग्वालियर दुर्ग के कारावास काल को श्री गुरु हर गोविन्द जी ने अपने पिता और वृद्ध जाट (बुड्ढ़ा बाबा) के उपदेशों को फलीभूत करनेवाले सुअवसर के रूप में बदल दिया था। साम्म्राज्य की दुर्नीतियों एवं गणमान्य हिन्दू राजाओं को संगठित करने के लिए कारावास-काल को उन्होंने विद्रोही प्रकृति के लोगों की राष्ट्रीय संघर्ष परिषद बना दिया। पिता की निर्मम हत्या का बदला लेने की जो आग बहुत दिनों से उनके हृदय में सुलग रही थी, उसे प्रज्वलित करने के लिए निश्चित रूप से राजाओं के साथ मिले सहवास के अवसर ने घी डालने का काम किया। कैद में पड़े बावन राजाओं और गुरु जी की वेदना में अनुरूपता थी। इन सभी का शत्रु एक ही व्यक्ति था और वह था—दिल्ली का मुगल सम्राट। इसलिए इस दुख की घड़ी ने सभी को एकत्र होने की प्रेरणा प्रदान की। अनेक कारणों से जब गुरु हरगोविन्द जी को जहाँगीर की कैद से मुक्त करने का आदेश दिया गया, उस समय तक राजाओं के साथ उनकी ऐसी अभिन्नता स्थापित हो चुकी थी कि गुरु जी ने कारागृह के अन्य साथियों को छोड़कर अकेले कैद से बाहर जाने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। हज़रत मियाँ मीर के आग्रह पर जब बादशाह ने गुरु जी को कैद से मुक्त करने का आदेश दिया, तब गुरु जी ने यह शर्त रखी कि वे अकेले जेल से बाहर नहीं जाएँगे, अपितु सभी राजाओं के साथ ही बाहर निकलेंगे। अन्ततः सभी राजाओं को मुक्त करना पड़ा और उन्हे साथ लेकर हरगोविन्द जी ग्वालियर के किले से बाहर आए। ग्वालियर का शाही किलेदार हरिदास गुरुजी के व्यक्तित्व से इतना प्रभावित हो गया कि वह भी शाही नौकरी छोड़कर श्रद्धावश गुरु जी का शिष्य बन गया।[1]

गुरु हरगोविन्द जी ने जिन ५२ राजाओं के साथ "हमां याराँ जन्नत, हमां यारा दोज़ख" का आदर्श निभाया था, उन राजाओं के समर्थकों और परिवार के लोगों ने गुरु गद्दी के राजनैतिक संदेशों के बीजों को कम से कम देश के विभिन्न ५२ ठिकानों में अवश्य ही छींट दिया गया होगा। जहाँगीर का जीवन-दीप बुझते ही अनुकूल परिस्थियाँ प्राप्त कर भारत के अनेक भागों में लगभग एक ही समय में क्रांति के ये बीज मुगल साम्राज्य के लिए छाती के पीपल बन गए।[2]

---

१. श्री गु० प्र० सू० ग्रन्थ चतुर्थ राशि अंशु ५६-६६ (हिन्दी खंड २ पृ० ६०४-३८).

२. "शाहजहाँकालीन इतिहासकारों को जुझारसिंह बुंदेला और उसके मरने के उपरांत चंपराय द्वारा संचालित विद्रोह को नए रूप में समझने की आवश्यकता है। इसी तरह गढ़वाल राज्य

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्वालियर दुर्ग से मुक्त होने के पश्चात् षष्ठ गुरु हरगोविन्द जी ने सक्रिय रूप से मुगलों के विरुद्ध सैनिक संघर्ष छेड़ दिया था। गुरदासपुर के सन्निकट 'करतारपुर' में मुगल सेनाओं के साथ उन्होंने तीन बड़े युद्ध किए। इन युद्धों में 'गीदी और गँवार' विशेषण से संबोधित किए जानेवाले हिन्दुओं की वीरता और सैनिक योग्यता की धाक जमाने में गुरु जी को पर्याप्त सफलता मिली। मुगलों के साथ करतारपुर के युद्ध आकस्मिक रूप से नहीं लड़े गए थे। इन युद्धों के पीछे दीर्घ कालीन सैनिक तैयारी एवं सुस्पष्ट योजना थी। देश-विदेश से उत्तम श्रेणी के अस्त्र-शस्त्र एवं अच्छी जाति के घोड़ों को एक लंबे समय से सिक्खों के लिए एकत्र किया जा रहा था। सिक्खों की भूमि चारों ओर मुगल साम्राज्य से घिरी हुई थी। अतः बड़ी तोपों को ढलवाना अथवा आयातित कर सकना असंभव था, इसी कारण एक दरखान (बढ़ई, लकड़ी का कारीगर) ने लकड़ी के कुंदे में छेद बनाकर गुरु जी के लश्कर के लिए लकड़ी की ही एक तोप बनायी थी। यह तोप करतारपुर के पहले युद्ध में सफलता पूर्वक प्रयोग में लायी गई थी। लकड़ी की तोप बनाना आधुनिक इतिहासकारों के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य भारतीय व्यक्ति भी १७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में टेक्नोक्रैफ्ट की प्रतिभा एवं क्षमता-सम्पन्न संस्कारों से परिपूर्ण था। इस बात से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मुगलों की साम्राज्यवादी नीतियों के कारण ही भारतीयों को इस दौड़ में यूरोपियों के समक्ष पिछड़ जाना पड़ा और उनकी प्रकृत-प्रतिभा का विकास नहीं हुआ।

युद्ध की समस्त तैयारी कर लेने के पश्चात् शाही बाज पकड़कर[1] गुरु हरगोविन्द जी ने मुगलों के साथ युद्ध छेड़ने की पहल स्वयं की थी। सिक्ख वालेंटियरों और मुगलों की सैन्य शक्ति के बीच विद्यमान असमानता से भी वे पूर्ण रूप से अवगत थे। इस असमानता के बावजूद जानबूझ कर मुगलों से छेड़-छाड़ करके युद्ध मोल लेने का क्या अभिप्राय हो सकता था? निश्चित रूप से इस प्रसंग में इतिहास का गूढ़ रहस्य छिपा हुआ है! ऐतिहासिक तथ्यों से उभरनेवाला विवेक यह प्रकट करता है कि मुगलों की अजेयता का आतंक जनता पर इस रूप में हावी हो गया था कि भय की संकुलता से समस्त

(शेष पिछले पृष्ठ से)

की रानी कर्णावती परमार का नाम भी मुगल साम्राज्य शाही को चुनौती देनेवालों की पंक्ति में उपलब्ध है।

—श्री गु० प्र० सू० ग्रन्थ चतुर्थराशि अंशु ५९-६६ देखें (हिन्दी खंड ११ प्र० ६०४-३८) पृ० ६३७ अंशु ६६।

१. मुगल विजेता स्वयं को बाज मानते थे और हिन्दुओं को चिड़िया। इसी के जबाब के लिए गुरुजी ने शाहजहाँ का बाज पकड़ा था। भूषण आदि कवियों की उक्तियों से इस तथ्य पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राष्ट्र कायर बन गया था। लोक मानस से इस भय को दूर करके हिन्दुओं में उत्साह और आत्म-विश्वास पैदा करने की दृष्टि से ही इन युद्धों में बहाए गए रक्त की सार्थकता थी। जिन दिनों सिक्खों और मुगलों की बीच संघर्ष हो रहे थे, लगभग उन्हीं दिनों उत्तर भारत के गढ़वाल राज्य में रानी में कर्णवती की सेना के समक्ष मुगल सेना को पराजित होना पड़ा था। इन्हीं दिनों ग्वालियर के आसपास के प्रदेश बुंदेलखंड में छत्रसाल के पिता चंपतराय के नेतृत्व में ऐसा विद्रोह भड़का, जिसने मुग़ल राज्य के ध्वंस में अपनी विजय-पताका गाड़ने का सबसे पहला स्थान प्राप्त किया। वास्तव में बुंदेलखंड में वीर बुंदेलों तथा पंजाब में सिक्खों एवं जाटों के विद्रोहों ने मुगल-सत्ता को उखाड़ कर ही दम लिया था। छत्रसाल इस संघर्ष में आरंभ में ही सफलता का झंडा गाड़ने में सफल हो गऐ थे। उन्होंने औरंगजेब के साम्राज्य के तीन सूबों से एक बहुत बड़े भू-भाग को स्वतंत्र कराकर एक स्वतंत्रत राज सत्ता की स्थापना की थी। गुरु गोविन्द सिंह जी ने जफ़रनामा अथवा फतेहनामा में स्पष्ट लिखा है कि 'ऐ औरंगजेब तू जीतकर भी हार गया है और मैं हार कर भी जीत गया हूँ।'

शाहजहाँ की प्रकृति में जो उग्रता और धर्मान्धता उसके शासन काल के प्रारम्भिक वर्षों में थी, परवर्ती-काल में उसका परिष्कार करके उसने स्थिति को संभाल लिया था। शाहजहाँ ने एक कुशल राजनेता की तरह सुलह-समझौते के द्वार बन्द नहीं किए थे।

☐ शाहजहाँ की नीतियों में संशोधन :

तीसरे युद्ध के पश्चात् जब सिक्ख गुरु करतारपुर से उखड़कर शिवालिक पर्वत की तराइयों में स्थित कीरतपुर चले गये, तो शाहजहाँ ने सामर्थ्य होते हुए भी सिक्खों के साथ छेड़छाड़ नहीं की। गढ़वाल राज्य के झगड़े को भी भुला दिया गया तथा बुंदेलखंड में पहाड़ सिंह को ओरछा का उत्तराधिकारी बनाकर चम्पतराय के नेतृत्व में विद्रोह-रत बुंदेलों के साथ समझौता कर लिया गया। काशी और प्रयाग के तीर्थों पर हिन्दू तीर्थ यात्रियों पर लगाए गए धार्मिक करों को माफ करके शाहजहाँ ने सामान्य हिन्दू के साथ भी धार्मिक सौमनस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया।[1] दारा एवं जहाँनारा (बेगम साहिबा) के प्रभाव का प्रादुर्भाव होने से शाहजहाँ के उत्तरकालीन शासन काल में हिन्दू सामन्तों की शक्ति में आशातीत वृद्धि हो गई। जसवंतसिंह राठौर, मिर्जा राजा जयसिंह, छत्रसाल हाड़ा, रामसिंह हाड़ा एवं कन्नौज कालपी क्षेत्र के गौड़ राजपूतों की निर्णायक शक्तियों का अभ्युदय इसका प्रमाण है।

---

१. कवीन्द्राचार्य सरस्वती के नेतृत्व में भाषा एवं संस्कृत कवियों तथा बुद्धिजीवी संन्यासियों का एक दल दाराशुकोह, बेगम साहिबा जहाँनारा एवं शाहजहाँ से मिला था। कवीन्द्र कल्पलता तथा कवीन्द्र चन्द्रोदय नामक दो ग्रन्थ इस अवसर पर शाहजहाँ को भेंट किए गए थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इतिहास के इन लक्षणों से सिद्ध होता है कि शाहजहां के शासन-काल में हिन्दुओं में राजनैतिक जागरूकता के लक्षण स्पष्ट हो गए थे। मुगलों की सत्ता के विकल्प रूप में हिन्दुओं की सत्ता स्थापित करने के स्वप्न के कारण ही नागौर के अमरसिंह राठौर द्वारा आगरा के किले में सलावत खाँ वख्शी का वध करने के प्रसंग को लेकर भाषा कवियों ने राव अमरसिंह राठौर के पुरुषार्थ की प्रशंसा में अनेक रचनाएँ की,[1] जिनमें से कुछ अव तक विद्यमान हैं।

मुगल साम्राज्य के विरुद्ध हिन्दू राष्ट्रीयता का स्वर शाहजहाँ के शासन-काल में व्यापक रूप से लोक-मान्यता प्राप्त कर चुका था। शाहजहाँ और दारा शुकोह की नीतियों ने इस विरोधी पक्ष का विश्वास जीतने का प्रयत्न किया और इसमें उन्हें सफलता मिली। फलतः शाहजहाँ के शासन काल के उत्तरार्द्ध में हिन्दू-मुस्लिम एकता के आधार पर एक राष्ट्रीय समाज की रचना का काम गतिशील होने लगा था। औरंगजेब की शनि दृष्टि ने जो शाहजहाँ के सिंहासन पर घात लगाए हुए थी, इस स्थिति से असंतुष्ट स्वार्थी एवं प्रतिक्रियावादी शक्तियों के साथ गूढ़ षडयंत्र करके इस युग के स्वप्न-महल को सदियों के लिए धराशायी कर दिया। भारत की भावी राजनीति को सांप्रदायिक विशाक्तता से रँगने का काम इसी युग का बीजा-रोपण है। ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ करने के लिए हमेशा इस विष से लाभ उठाने का काम किया है।

□ रीतिकालीन साहित्य में उपलब्ध ऐतिहासिक साक्ष्य और उनका महत्व :

अन्ततः इसी सांप्रदायिकता के आधार पर भारत को दो खंडों में बाँटकर अँग्रेज अपने देश को वापस चले गए। मूलतः औरंगजेब की धार्मिक दुर्नीतियों ने ही यूरोप की तुलना में नव जागरण को दो शताब्दियों पीछे फेंकने का काम किया है। इसी सत्य की लीपापोती करने के लिए कुछ भारतीय इतिहासकार तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत करने के काम में संलग्न हैं।

दंभिन निज मत कल्प करि लुप्त कीन्ह सदग्रंथ।

भाषा-साहित्य में इतिहास की जो आधारभूत सामग्री विद्यमान है, उसकी उपेक्षा करने के कारण ही इस काल के इतिहास-विवेचन में तथ्य-भ्रष्टता के साथ

---

१. पावसेर लोहे ते हलाइ डारी पातसाही,
होती समसेर तौ छुड़ाइ लेतो आगरा। —लोकोक्ति

× × ×

'उत 'ग' कार मुखते कढ़ी, इतै कढ़ी जमधार' इत्यादि। सूर्यमल मिश्रण ने वं० भा० पृष्ठ २१११-२११५ में विस्तार के साथ इस घटना का वर्णन किया है। राजस्थानी भाषा में इस घटना को लेकर अनेक काव्यों की रचना हुई थी। एक छोटा सा मुद्रित ग्रन्थ लेखक ने देखा भी है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऐतिहासिक अन्तर्दृष्टि का प्रस्फुटन नहीं हुआ है। बूंदी के चारण इतिहासकार सूर्यमल मिश्रण के ग्रंथ 'वंश भास्कर' में चर्चित संक्राति-काल के इतिहास को अत्यल्प शब्दों में प्रतिविंवित कर दिया गया है। लाक्षणिक काव्य-भाषा के माध्यम से तथ्यों को जिस वस्तुनिष्ठता के साथ प्रस्तुत किया गया है, वह आश्चर्यजनक है। सूर्यमल मिश्रण की भाषा उनके इतिहास-ज्ञान का अकाट्य प्रमाण है। संपूर्ण उल्लिखत तथ्यों की वैचारिक संगति होने पर ही सूर्यमल के इतिहास-बोध की सराहना की जा सकती है—

हिन्दुन की पुहुमी प्रिया, भोगी तुरकन आय।
जहाँगीर जारहिं मरत, रति-रस अब न अघाय।
कछु अवरंगहु तरुनपन भोगी सकति निहारि।
अब यह जरठ जईफ भो, नित्य नई यह नारि।। —पृ० २६३७

'लक्ष्मी और राज्य श्री' स्वभाव से चंचल और अस्थिर होते हैं। इन्हीं लक्षणों के आधार पर राज्यश्री की उपमा अक्षय यौवना अस्थिर युवती के अस्थिर मन से दी जाती है। भारत-भूमि रूपी स्त्री के मूल पति हिन्दू थे। यहाँ का सामान्य-जन इसे नहीं भूल सका था। पुंश्चली स्वभाव के कारण निज पति को त्याग कर धरती रूपी स्त्री 'जार' विजेताओं के साथ सहवास करने में असंयमित हो गई। स्वैरिणी पृथ्वी का अपने 'जार' प्रेमियों के साथ प्रगाढ़ आलिंगन जहाँगीर के समय तक अविकल रूप से निभता रहा, किन्तु उसके मरणोपरान्त भारत वसुन्धरा रूपी स्त्री पुनः अपने पूर्व पति की ओर आकृष्ट होने लगी। जार के प्रति व्यक्त होनेवाला अनुराग दिन प्रति दिन कम होने लगा। शाहजहाँ के जीवन-काल में जोर जबरदस्ती एवं नीति पूर्वक उसे संयत रखने में सफलता मिली और मुगल हरम की मर्यादा भी निभ गई। जवानी के दिनों में 'अपने' उरुओं के ओज से औरंगजेब ने भी इस पुंश्चली स्त्री को कुछ समय तक संतुष्ट रखा, किन्तु बादशाह के शरीर में वृद्धावस्था के प्रवेश के साथ-साथ स्वैरिणी राज्यश्री अपने जार पति की उपेक्षा करते हुए मनमाने ढंग से अन्यान्य पुरुषों के साथ गलबाँही डालने लगी।

मुगलकालीन इतिहास की जो व्याख्या सूर्यमल ने प्रस्तुत की है, वह भाषा में प्राप्त अन्य प्रमाणों से पूर्णतया अनुमोदित है। गुरु गोविन्द सिंह के संघर्षों ने मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकारी औरंगजेब के साम्राज्य की जड़ों को भीतर ही भीतर इस तरह नष्ट कर दिया था कि मुगल साम्राज्य का वृक्ष आन्तरिक रूप से निर्जीव हो गया—

अधिपति अधिक नुरंगा भयो, सभि देशनि को राजा थयो।
द्वै विंशत लछ सैना संग, दस हजार तोपैं गढ़ भंग।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

× × × ×

अपर सैन जो राजन केरी, गनै कौन संग चलहि घनेरी।

× × × ×

अस तुरकन की जराँ उखारी, कौन राज बहु पुशतनि भारी।
दीरघ दुरग मवास बड़ेरे, होइ छार सो परहिं न हेरे।

—गु० प्र० सू० ग्रं० भा० १, पृष्ठ ३२-३४

औरंगजेब के समकालीन संत श्री प्राणनाथ (१६१८-१६९४) ने अपनी वाणी 'कुलज़म स्वरूप' में कहा है कि उन्होंने छत्रसाल को आगे करके औरंगजेब की प्रभुसत्ता को उलट-पुलट दिया है। औरंगजेब को उसी के साम्राज्य रूपी जाल में इस प्रकार उलझा दिया गया है कि उसकी समस्या कभी सुलझ नहीं सकेगी। अपने भक्त अनुयायियों 'सुन्दरसाथ' को संबोधित करते हुए प्राणनाथ जी ने कहा था कि हे साथियो तुम सब विचार करो कि ऐसा है या नहीं ? यदि ऐसा है तो यह क्यों और कैसे संभव हुआ है—

तखत बैठ साह कहावते, देखो क्यों डारे उलटाय।

तथा

भरत खंड सुलतान कहावते, सो दिए सब फँदाए।
इन बिध उरझे आप में, सो किनहुँ न निकस्यो जाए।

—कुलज़म स्वरूप, पृष्ठ १३९९

भाषा में प्राप्त संतों की वाणी में जो कथन मिलते हैं, उनके प्रकाश में ही इतिहास की तत्कालीन वस्तुस्थिति के प्रमाण-रूप में भूषण के शब्दों पर विचार करने का निवेदन किया जा रहा है—

साहि के सपूत सिवराज समसेर तेरी,
दिल्ली दल दाबि के दिवाल राखी दुनी में।

—भूषण, छन्द सं० ४२५

तथा

बूड़ति है दिल्ली सो संभारौ क्यों न दिल्ली पति,
धक्का आनि लाग्यौ सिवराज महाकाल को।

—भूषण छन्द सं० ४३८

लाल कवि का भी यही कथन है कि महाराज छत्रसाल का प्रताप-मार्तण्ड मुग़लशाही की घटाओं को चीरकर चारों दिशाओं में आशा और उत्साह वर्धक प्रकाश विकीर्ण कर रहा है—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लीन्हे प्रतिपच्छिन के दुरग उतंग चढ़ि,
जीते अवरंग साह जंग रंग जाल की।
बिरच्यो महेवा बीर रेवा-लौं दवाय देश,
चहूँ चकचौंधि धाक चंड्यो करवाल की।
लालकवि कहैं चढ़ि चल्यौ दिनेस लौं प्रताप,
ह्वै रह्यौ अमल राह चंपत के लाल कौ।
बादर की छाँह लौं उसेल पातसाही सर्व,
फैलि रह्यौ घाम सो प्रताप छत्रसाल कौ॥—छत्रविलास[1]

मुगल सत्ता का प्रतिरोध करने के लिए नानक पंथी संत समाज द्वारा उपस्थित आदर्श का अनुसरण करते हुए उत्तर भारत के अन्य संत सम्प्रदायों ने भी सक्रिय रूप से राजनीति में प्रवेश किया था। ऐसे संत जो स्वयं शस्त्र नहीं चलाते थे, वे भी अन्यों को शस्त्र ग्रहण के लिए प्रगट रूप से उत्साहित करते थे। बुंदेलखंड के संघर्ष के पीछे तत्कालीन संत-समाज की बहुत बड़ी प्रेरणा विद्यमान रही है। छत्रसाल के यशस्वी पिता चंपतराय को मुगलों के विरुद्ध प्रतिपच्छ की राजनीति-संचालन का मार्ग दिखानेवाले वृन्दावन के ब्रह्मलीन स्वामी नरहरि देव जी थे। जिस प्रकार महर्षि दयानन्द और विवेकानन्द के पीछे उनके गुरुओं का महान व्यक्तित्व था, उसी तरह नरहरि देव का आशीर्वाद प्राप्त करके चंपतराय ने अपना मार्ग निश्चित किया था। नरहरि देव के युग में वृन्दावन में न जाने कितने विचारक विद्यमान थे। स्वामी प्राणनाथ के गुरु श्री देवचन्द जी का भी लगभग यही समय था। अतः इस युग में देश का मार्ग-दर्शन करनेवाले अनेक महापुरुष जनता के बीच विद्यमान थे।

वृन्दावन के गोस्वामियों के यहाँ प्राप्त प्रमाणों के आधार पर छत्रसालकालीन इतिहास के विशेषज्ञ कविमणि कृष्ण कवि की यह मान्यता है कि इन्हीं के आश्रम में चंपतराय और शिवाजी की भेंट हुई थी। शिवाजी अपनी माता के साथ १६ वर्ष की अवस्था में तीर्थाटन करने के लिए वृन्दावन पहुँचे थे। उन दिनों चंपतराय भी वृन्दावन में ही विराज रहे थे। चंपतराय की अवस्था उस समय ४६ वर्ष की थी। स्वामी नरहरि देव ने चंपतराय से कहा था कि तुम्हारे न रहने पर यही व्यक्ति तुम्हारे पुत्र का मार्गदर्शन करेगा। अतः अपने पुत्र के समर्थ होने पर यह कहना कि बड़ा होने पर वह शिवाजी से सम्पर्क स्थापित करे,[2] उन्हीं से अपना मार्ग-दर्शन ले।

---

१. बुंदेलखण्ड का इतिहास-कृष्ण कवि, पृ० २५७।
२. कुछ समय के लिए (१५ दिन) कृष्ण कवि को महाराज चरखारी के व्यक्तिगत संग्रहालय में छत्रसाल के आश्रय में रहनेवाले ८२ कवियों के ग्रन्थों का अवलोकन करने का अवसर मिला था।
(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसी तरह कहा जाता है कि करतारपुर के युद्धों के पश्चात् षष्ठ गुरु हरगोविन्द जी बद्रीनाथ की यात्रा पर गए थे। गढ़वाल राज्य—श्रीनगर की रानी कर्णावती के यहाँ उन्हीं दिनों मराठा संत समर्थगुरु रामदास भी ठहरे हुए थे। यहीं तीनों की भेंट हुई थी।[1] सत्य चाहे जो हो, लेकिन इतिहास की वस्तुस्थिति के अनुसार इस संभावना को आसानी से झुठलाया नहीं जा सकता। श्री गुरु प्रताप सूरज ग्रन्थ के (षष्ठ राशि अंशु १) में करतारपुर युद्ध के पूर्व नारद नामधारी किसी संत का गुरु हरगोविन्द जी से आकर मिलना और दोनों का गुप्त रूप से मंत्रणा करने का प्रसंग आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराण शैली में गुरु चरित्र को उपस्थापित करने के प्रयास के कारण इस संत का वास्तविक नाम न लिखकर लाक्षणिक नाम 'नारद' लिखा गया है। यह नारद जी भी ठीक उसी प्रकार गुरु जी की स्तुति करते हैं, जिस प्रकार लंका पर आक्रमण करने के पूर्व नारद जी ने भगवान राम की स्तुति की थी। जिस तरह भगवान राम ने संतों को रावण वध के लिए आश्वस्त किया था, उसी प्रकार गुरु जी ने भी 'नारद' को आश्वस्त किया है। लगता है देश का परिभ्रमण करते हुए उल्लिखित संत 'नारद' क्रान्तिकारी विचारों का ही प्रसार कर रहे थे। महाराष्ट्र के संत समर्थगुरु रामदास के संबंध में लगभग इसी प्रकार की मान्यता है। तुलसीदास जी ने संतों को 'जंगम तीर्थराज' कहा है। अतः उस युग में प्रचार की दृष्टि से संतों का आश्रय लेने से राजनैतिक जागरूकता का प्रसार होने के साथ वह ठेठ जनता के हृदय में उतर सकी। इसीप्रकार की राजनैतिक-जागृति का संदेश कुछ दिनों तक महामति प्राणनाथ जी ने भी देश के विभिन्न राज-ठिकानों में पहुँचाने का प्रयास किया था। दिल्ली में औरंगजेब को रास्ते पर ले आने के प्रयत्न में विफल होने पर वे हरिद्वार में कुंभ स्नान करने चले गए। कुंभ स्नान के लिए आनेवाले अनेक साधु-संप्रदायों के साथ उनका शास्त्रार्थ एवं विचार-विमर्ष हुआ। इसी समागम के पश्चात् प्राणनाथ जी ने मुगल सम्राट के विरुद्ध राजाओं को जाग्रत करने का क्रांति कारी निर्णय किया था। उन्होंने आमेर, जोधपुर, उदयपुर और बूँदी आदि ठिकानों के राजओं के यहाँ अपना संदेश भेजा। किसी राजा के यहाँ दूत, किसी के यहाँ पत्र और कहीं पर स्वयं पहुँचे। अन्ततः उनकी इच्छा पूरी हुई। औरंगज़ेब के विरुद्ध

(शेष पिछले पृष्ठ से)

इसी संग्रहालय में 'छत्रसाल के खरड़ा' नाम से बहियों के आकार में ८—१० जिल्दों में छत्रसाल का इतिहास भी था। इन्हीं खरड़ों से उन्होंने कुछ अंश नकल कर लिए थे। बाद में राजा साहब ने उन्हें दी गई आज्ञा रद्द कर दी। इन्हीं खरडों में शिवाजी और चंपतराय के मिलने का वृत्तान्त था।

१. सिक्ख स्रोतों से इस घटना की पुष्टि हम नहीं कर सके, किन्तु कैप्टेन शूरबीरसिंह के अनुसार समर्थ के ही वंशज हनुमंत स्वामी द्वारा लिखी गई समर्थ की जीवनी में इसका उल्लेख है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्भीक भाव से युद्ध करनेवाले छत्रसाल बुंदेला से उनकी भेंट हो गई। इस साहसी व्यक्ति की तेजस्विता से वे अप्रतिम रूप से प्रभावित हुए। प्राणनाथ जी ने छत्रसाल से हुई पहली ही भेंट में बुंदेला सरदार की कमर में तलवार बाँधकर उसका राजतिलक करके उन्हें विद्रोही के स्थान पर महाराजा बना दिया।[1] पंजाब में नानक पंथी संत लोग स्वयं हथियार उठाकर युद्ध कर रहे थे, तो बुंदेलखंड के विद्रोह को भी संतों ने पृष्ठ भूमि में रहकर संचालित किया था। इसके अतिरिक्त दोनों क्षेत्रों के विद्रोहों की प्रेरणा और उसके स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं है।

श्री प्राणनाथ द्वारा राजतिलक किए जाने के कुछ समय पश्चात् 'मऊ' में छत्रसाल का विधिवत् राजतिलक करने के लिए देश के समस्त संत एकत्र हो गए। इस समारोह की अगुवई संत प्राणनाथ जी ही कर रहे थे। वैष्णव तथा नागा साधुओं ने उनके साथ पूर्ण रूप से सहयोग किया था।[2] संतों द्वारा किया गया छत्रसाल का राजतिलक अपने युग की समस्त प्रचलित औपचारिकताओं के विपरीत एक ऐसा क्रान्तिकारी कदम है, जिसकी मिसाल यूरोप के नव जागरण के इतिहास में नहीं मिल सकती। अपने ऊपरी भेद भावों को भुलाकर संत राष्ट्र प्रेम की भावना से भरकर एक ही झंडे के नीचे खड़े हो गए थे। हमारे विचार से प्राणनाथ जी ने छत्रसाल के राजतिलक के अवसर पर उपस्थित प्रबुद्ध वर्ग के समक्ष जो गीत गाया होगा, वह 'कुलज़म स्वरूप' के पृष्ठ में ६१० में विद्यमान है। इस पूरे गीत को अगले पृष्ठों में यथावसर उद्धृत किया जाएगा।

इन्हीं तथ्यों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि छत्रसाल का राजतिलक तत्कालीन भारतीय इतिहास की अन्तर्धारा का विश्लेषण करने की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण आधार-स्तंभ है। इस युग में राज सत्ता के लिए पिता पुत्रों और पति-पत्नियों के बीच[3] रक्त-रंजित खून की होली एक आम बात थी, किन्तु उस युग में

---

१. छत्रसाल के राजतिलक पर सेंहुड़ा में रहनेवाले संत अक्षर अनन्य ने इस राजतिलक पर गहरा व्यंग्य किया था। अक्षर जी ओरछा राज्य के प्रति सहानुभूति रखते थे और उनकी मान्यता थी कि जब तक दिल्ली का बादशाह औपचारिक रूप से तिलक की स्वीकृति नहीं देता, तब तक कोई व्यक्ति राजा नहीं हो सकता! इसी संदर्भ में उन्होंने एक दोहा लिखा था—

'ओरछा के राजा और दतिया के राई (राव)।
अपने मुँह छत्रसाल बने बना बाई।

२. कुलज़म स्वरूप, लालदास की बीतक तथा कृष्ण कविकृत बुंदेलखंड का इतिहास भी देखें।

३. मुगल परिवार में सिंहासन के लिए जो रक्तपात हुआ है, वह सर्वविदित है। राजपूत राजाओं के बीच होनेवाले सत्ता-संघर्ष भी इसमें भिन्न नहीं थे। शिवाजी की मृत्यु के लिए उनकी पत्नी सूर्याबाई को दोषी ठहराया जाता है। जयपुर के सवाई जयसिंह पर पुत्र वध का आरोप लगता

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी छत्रसाल के परिवार में तीन पुश्त पर्यन्त आपसी झगड़ों के कारण कभी रक्तपात का अवसर नहीं आया। इस ऐतिहासिक तथ्य से सिद्ध होता है कि संतों ने तत्कालीन राजनीति को नैतिक एवं सौहार्द्रपूर्ण बनाने में समुचित सफलता भी प्राप्त की थी। उत्तर भारत के संत-संप्रदायों में शस्त्रधारी होने की प्रवृत्ति का विकास तत्कालीन ऐतिहासिक परिस्थितियों की ही देन है। ऐतिहासिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में इस युग-चेतना का विश्लेषण करने की दिशा में समुचित ध्यान देने की आवश्यकता है।

सोलहवीं शताब्दी में संतों के राजनीति में पदार्पण करने के कुछ स्पष्ट कारण रहे हैं। उस युग में केवल राजनैतिक एवं आर्थिक परतंत्रता ही न होकर वैचारिक स्तर पर भी कड़े प्रतिबंध लगे हुए थे। कबीरदास की वाणी में कहीं भी प्रकट रूप से राज-सत्ता की आलोचना नहीं की गई है, फिर भी लोक-परम्परा के अनुसार उन्हें दिल्ली के सुल्तान सिकंदर लोदी ने दंडित करने का प्रयत्न किया था। 'गंग लहर मोरि छूटी जंजीर, मृग छाला पर बैठे कबीर" जैसे दोहे उसी शाही कोप का स्मरण कराते हैं। सत्य चाहें जो हो, किन्तु इस अनुश्रुति के प्रचलन के मूल में कुछ न कुछ बात अवश्य स्वीकार करनी होगी। सिक्खों की परम्परा भी पुष्ट करती है कि संतों के विचार राजनैतिक हस्तक्षेप से मुक्त नहीं थे। नानक देव आदि संतों की वाणियों के ग्रन्थ रूप में अवतरित किए जाने के पश्चात् अकबर के समक्ष इन वाणियों के आपत्ति-जनक होने की शिकायत की गई थी। कहा जाता है कि दूसरों की बात पर विश्वास न करके उस गुण-ग्राही बादशाह ने स्वयं करतारपुर जाकर ग्रंथ की परीक्षा की थी। संयोग से उसके समक्ष जो पद निकले वे आपत्तिजनक नहीं पाए गए। अतः अकबर संतुष्ट होकर वापस चला गया। तुलसीदास के संबंध में भी ऐसी ही अनुश्रुति है कि उन्हें जहाँगीर ने कैद कर लिया था। यदि इस घटना में सत्यांश नहीं है, तो भी जहाँगीर द्वारा गंग को हाथी से कुचलवाना तथा 'रसरतन' के रचनाकार पुहकर कवि को कैद करना यह सिद्ध करता है कि आलोच्य-युग में राजा या उनके निरंकुश राजतंत्र की आलोचना की कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ती थी। मुग़ल तानाशाही की इन प्रतिकूल परिस्थितियों में भी सूरदास, संगीतज्ञ स्वामी हरिदास एवं तुलसी दास आदि ने यथावसर गूढ़ सांकेतिक शब्दावली में समकालीन राजनीति की ओर इशारा करते हुए उसकी आलोचना का स्वर दबने और मरने नहीं दिया था।

(शेष पिछले पृष्ठ से)

है। इसी प्रकार जोधपुर के अभयसिंह पर अपने पिता अजीतसिंह को मरवाने का प्रमाण मिलता है। यथा—

पत जयपुर जोधाण पत, दोनहि थाप उथाप।
कूरम मार्‌यो डीकरो, कमधज मार्‌यो बाप॥

—राजस्थान का इतिहास, भाग ३, पृ० १०६ ओझा

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रस्तुत प्रसंग में सूरदास एवं तुलसीदास की रचनाओं को उद्धृत किया जा रहा है—

ऊधौ धनि तुम्हरौ ब्यौहार।
चोर को छाँड़ साह को पकरत, चुगलन की चटसार।[1]
आम को काटि बबूर लगावत, चंदन झोंकत भार।
धनि वै ठाकुर, धनि वै सेवक, धनि तुम बरतनहार।[2]
सूर स्याम कैसे निबहैगो, अधाधुंध सरकार॥

इसीप्रकार तुलसी दास की दोहावली एवं रामचरित मानस के अतिरिक्त विनय पत्रिका में भी ऐसे पद हैं, जो सांकेतिक रूप से बहुत कुछ कहते हैं। दुर्भाग्य से राजनीतिक संदर्भ-ज्ञान से वंचित थीसिस लेखकों की पकड़ में ऐसे पदों का वास्तविक अभिप्राय नहीं स्पष्ट होता, जबकि परम्परा के साथ जुड़े लोगों में ऐसे पदों की सही भावना को आसानी से समझ लिया जाता है।[3]

दीन दयाल दुरति दारिद दुख, दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव दुआर पुकारत आरत, सब की सब सुख हानि भई है॥
× × ×
राज समाज कुसाज कोटि कटु कल्पत कलुष कुचाल नई है।
नीति प्रतीति प्रीति परमिति पति हेतुवाद हठि हेरि हई है॥
× × ×
सरुष बरजि तरजिए तरजनी, कुम्हिलैहैं कुम्हड़े की जई है।
दीजै दादि देखि नातो बलि, मही-मोद मंगल रितई है॥
भरे भाग अनुराग लोग कहैं, राम अवध चितवन चितई है।
विनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुना बारि भूमि भिजई है।
राम राज भयो काज सगुन सुभ, राजा राम जगत विजई हैं।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहिब सुकृत-सेन हारत जितई है।
सुजन सुभाव सराहत आदर, अनायास सांसति बितई हैं॥
उथपे थपन, उजार बसावन, गई बहोर विरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत आरति हर, उभय बाँह केहि केहि न दई है॥

---

१. यह पंक्ति भ्रमर गीत आदि संग्रहों में नहीं है, किन्तु मौखिक परंपरा में इस पंक्ति को याद रखा गया है। उक्त पंक्ति भी हमें कृष्ण कवि से प्राप्त हुई है।
२. अर्थ है—एग्जीक्यूटिव्स अर्थात् अफ़सरशाही।
३. कृष्णकवि के सान्निध्य लाभ ने ही मुझे इस दिशा में सोचने की प्रेरणा दी है। अत: श्रेय उन्हें एवं उनकी परम्परा को ही है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महात्मा तुलसीदास ने तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक परिवेश को परिष्कृत करने के लिए इतना अधिक कहा और इतना कुछ किया है कि उस सबका विवेचन करने से एक विशाल ग्रन्थ बन सकता है। संप्रति प्रसंगानुसार दोहावली से कुछ दोहों को उद्धृत करके तुलसी साहित्य में निहित राजनैतिक-चेतना का उल्लेख मात्र किया जा रहा है—

गोंड़ गँवार नृपाल महि, यवन महा महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल।। ५५६
सारदूल को स्वाँग करि, कूकर की कूकरतूति।
तुलसी तापर चाहिए, कीरति विजय विभूति।। ४१२

इस युग के सभी संत 'कूकर' शब्द का प्रयोग राजनैतिक संदर्भ और लाक्षणिक रूप में ही कर रहे थे। गुरु नानक, अर्जुनदेव, तुलसीदास एवं समर्थगुरु रामदास की वाणियों में इसका साक्ष्य विद्यमान है। इसी 'कूकर' संबोधन का प्रतिशोध लेने के लिए दीवान चंदू ने गुरु अर्जुन देव का वध कराया था। श्री० गु० प्र० सू० ग्रंथ में इस तथ्य का उल्लेख किया गया है।

यदि शुद्ध वैदिक मत का प्रचार करनेवाले संत खुले रूप से राजनैतिक प्रश्नों को लेकर प्रारम्भ में ही साम्राज्य की आलोचना करने लग जाते, तो यह आन्दोलन आगे नहीं बढ़ सकता था। इसी ऐतिहासिक संदर्भ को ध्यान में न रखने के कारण डॉ० प्रभा दीक्षित ने राष्ट्रीयता के विकास में विवेकानन्द के योगदान पर प्रश्न चिह्न लगाए हैं। (देखिए, दिनमान साप्ताहिक, सितंबर १२-१८ सन् १९७६)। अपने युग की वस्तुस्थिति और अपने साधनों को ध्यान में रखे बिना, राजनीति के क्षेत्र में सफलता नहीं मिला करती। संत आन्दोलन के कर्णधार भावुक नहीं, दूरदर्शी महान विचारक भी थे। जो संत अपने युग के राजाओं को राजनीति के गूढ़ रहस्य-मंत्रों का पाठ पढ़ा रहे थे, उनकी राजनैतिक चेतना को समझने के लिए आवेश के स्थान पर सावधानी से विचार करने की आवश्यकता है—

"जोग जुगुति तप मंत्र प्रभाऊ, फलै तबै जब करिय दुराऊ। —मानस

तथा

करके कर, मनके मनहिं, बचन बचन गुन जानि।
भूपहिं भूलि न परिहरैं, विजय विभूति सयानि।।[1] —दोहावली

---

१. पेट न फूलै बिनु कहे, कहत ना लागै ढेर।
सुमति बिचारे बोलिए, समुझि कुफेर सुफेर।। —दोहावली ४३७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

☐ संतों में शस्त्र-धारण की देश-व्यापी प्रवृत्ति :

राजनीति का रहस्य प्रकशित करनेवाला संत-समाज किस न्याय से राजनैतिक दूरदर्शिता से वंचित रह सकता था ? अधिकांश संत समस्त राजनैतिक चिंतन को एकान्त साधना के रूप में ग्रहण करते हुए, खामोशी के साथ उसे पल्लवित करते रहे हैं—"कहब थोर समुझब बहुत, गाड़े बढ़त अनाज" का आदर्श पालन उनका मूल मंत्र था। वाणी के इसी संयम एवं तप के कारण उनके चिंतन के बिरवों में फल लग सके हैं। यदि भविष्य-द्रष्टा संतों ने उचित समय पर हिन्दुत्व की रक्षा के लिए भूमिका न बनाई होती, तो औरंगजेब जैसे धर्मान्ध बादशाह के निर्मम प्रहारों से हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की रक्षा कर पाना कठिन हो गया होता। मंदिरों को भ्रष्ट करके उन्हें ढहाने के साथ जब हिन्दू संस्कृति के शिक्षा केन्द्रों को भी नष्ट-भ्रष्ट किया जाने लगा, (देखिए म० आसिरे आलमगीरी अँग्रे० पृष्ठ ५१, ५२, ५५, ५८, ६० आदि) तब राजनीति में कूद पड़ने के अतिरिक्त संतों के समक्ष अन्य कोई रास्ता ही नहीं रह गया था। परिणामस्वरूप शासन की दुर्नीतियों का प्रतिकार करने के लिए साधु संन्यासियों ने शस्त्र-ग्रहण करके धर्म युद्ध को अपना प्रमुख कर्तव्य मान लिया—

'अवर वासना नाहि किछु, धर्म युद्ध की चाह'। —कृष्णावतार

दक्षिण हरियाना एवं उत्तर राजस्थान के अलवर और मेवात-क्षेत्र में पाँच हजार सतनामी साधुओं ने टिड्डी दल की तरह उमड़ कर नारनौल के फौजदार को मार्च १६७२ में पराजित करके उसे भगा दिया था। सतनामी साधुओं को बोल-चाल में 'साध' कहा जाता है। हरियाना और दिल्ली प्रान्त के गाँवों में आज भी कुछ जाट परिवार 'साध' कहे जाते हैं। फरुखाबाद में छपाई का काम करनेवाले लोग भी 'साध' हैं। अतः इनका सामाजिक अध्ययन विशेष रोचक हो सकता है। इन साधुओं की शक्ति से मुग़ल सेना इतनी भयभीत हो गई थी कि स्वयं औरंगजेब ने शाही सेना के सुरक्षित घुड़सवार, तोपों एवं जम्बुरकों से लैस एक विशाल मुग़ल वाहिनी भेज कर इस आन्दोलन का क्रूरता पूर्वक दमन किया था। इसी घटना के कुछ ही समय बाद गुरु गोविन्दसिंह जी ने खालसा पंथ की स्थापना करके समस्त नानक पंथी गृहस्थी साधुओं को अनिवार्य रूप से शस्त्र व्रत धारी एक सैनिक जाति के रूप में बदल दिया।[1] कुछ ही समय बाद नाथ-पंथी साधु बन्दा वैरागी ने सतनामियों

---

१. सिक्खों में प्रचलित अनुश्रुति के अनुसार औरंगजेब की कारावास से गुरु तेग बहादुर जी ने अपने पुत्र के पास एक दोहा लिखकर भेजा था—

बल छुटक्यो बंधन परे, कछू न होत उपाय।
कहु नानक अब ओट हरि, गज ज्यों होह सहाय॥

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की सामूहिक हत्या एवं गुरु गोविन्द जी के साथी सिक्खों एवं उनके पुत्रों के बलिदानों का प्रतिशोध लेने की भावना से पंजाब प्रान्त में मुगलों के विरुद्ध कड़े संघर्षों का नेतृत्व किया था। उत्तर मुग़ल काल में जयपुर के निकट नरैना गद्दी के दादू पंथी नागा तथा बुंदेलखंड के वैरागी (गोसाईं) साधु प्रमुख सैनिक शक्तियों के रूप में सामने आए। दशनामी साधुओं के सैनिक जीवी हो जाने पर इनकी रोक थाम के लिए ही 'गलता' गद्दी के वैष्णव साधु भी शस्त्र जीवी हो गए। ईसा की संपूर्ण अट्ठारहवीं शताब्दी एवं उन्नीसवीं का पूर्वाद्ध शस्त्रधारी साधु संगठनों की राजनैतिक एवं सैनिक हलचलों से भरपूर है। मराठों के पराजित होने के उपरान्त मध्य प्रदेश, मालवा एवं पश्चिम राजस्थान में रुहेला पठान, पदच्युत मराठा सैनिक एवं सैनिक साधु संगठनों की मिली-जुली टुकड़ियों ने पिंडारियों का रूप ले लिया था। ठग और पिंडारियों में एक मूलभूत अंतर था। पिंडारी अँग्रेजों के राजनीतिक शत्रु रहे हैं, अतः अँग्रेज इतिहासकार उनके प्रति वस्तुनिष्ठ नहीं रहे। किसी आदर्श विचार एवं उसके क्रियान्वयन में सदैव एक दूरी आ जाती है। जिसप्रकार गौतम बुद्ध के बौद्ध धर्म संघों का कालान्तर में पतन हुआ, उसी प्रकार शस्त्रधारी संतों का आन्दोलन भी विकृत हो गया।

□ महामति प्राणनाथ की राजनैतिक प्रेरणा :

आलोच्य युग का सामाजिक और राजनैतिक दर्शन कितना प्रगतिशील था, इसका भी अनुमान किया जा सकता है। संतजन भाषा में ही अपनी वाणी प्रकट करते थे। वे कहा करते थे कि अपने व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठो, अपने पारिवारिक स्वार्थों से ऊपर उठो तथा समाज की सत्ता में ही अपनी व्यक्तिगत सत्ता को लीन कर दो। 'उदर (व्यक्ति) कुटुम (परिवार) कारने (के लिए) उत्तमाई देखावैं अंग' में प्राणनाथ जी ने[1] यही लक्षित किया है। इन विचारों का जब तक मन से त्याग नहीं होगा, तब तक सामाजिक असमानता से मुक्ति नहीं मिल सकती। श्री प्राणनाथ के शब्द प्रमाण हैं कि उस युग में भी सामाजिक परिवर्तनों के लिए राजसत्ता के महत्व को भली प्रकार समझ लिया गया था।

(शेष पिछले पृष्ठ से)

इसके उत्तर में गुरु गोविन्द सिंह जी ने जो दोहा लिखा था, उसके अनुसार मनुष्य को स्वयं ही अपनी रक्षा करने की सलाह दी गई है—

बल होआ बंधन छुटे, सभ किछु होत उपाय।
नानक सभ किछु तुमरे हाथ महिं, तुमही होउ सहाय॥

१. उदर कुटुम कारनै उतमाई देखावैं अंग। —कुलजमस्वरूप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आलोच्य युग के संत विचारकों ने राजशक्ति एवं जन-शक्ति दोनों के महत्व को समुचित रूप से स्वीकार किया था। गुरु गोविन्दसिंह ने 'जन' की श्रेष्ठता प्रकट करने के लिए उसके मत को 'गुरमता' नाम दिया था। श्री के० एस० थापर ने पटियाला से प्रकाशित 'पंजाब पास्ट एण्ड प्रजेण्ट (अक्टू० ७५) में एक लेख लिखकर स्पष्ट किया है कि गुरुजी ने व्यक्तिगत रूप से असहमत होते हुए भी दो अवसरों पर बहुमत को शिरोधार्य किया था। महामति प्राणनाण के विचारों में भी बहुमत की श्रेष्ठता की पुष्टि होती है। छत्रसाल के इतिहास में भी इस तथ्य के प्रमाण हैं कि वे बहुमत और 'जनमत' की राय से ही महत्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय लिया करते थे—

छान करौ गुनमान सबै मिलि, मान बिहाय करौ चतुराई।
भूप छता कहे लेहु मताकरि, जो लिखि साह हमैं पहुँचाई॥
कारन कौन कहौ सु विचारि, गहौ नहिं मौन जु होउ सहाई।
चोर उजागर साहु भए, कब चोरनै साहु को चोरि लगाई॥

ब्रजभूषण कवि की वृत्तान्त मुक्तावली में राज-शक्ति की तुलना में जनशक्ति की श्रेष्ठता का प्रमाण विद्यमान है। प्रमाण स्वरूप उक्त ग्रंथ से दो दोहे उद्धृत किये जा रहे हैं, जिन्हें राजनीति और इतिहास के ज्ञाताओं को ध्यान से पढ़ना चाहिए—

यह कुरान को अर्थ जो, असर करत है आन।
गहि कै नौरंग साहि को, कहिए मूल प्रमान॥

तथा

साहि सदन ठहराइ जब, होई प्रगट सब ठौर।
ना माने नर नाह जब, मारौ यवननि दौर॥—पृष्ठ २३६

उद्धृत चौपाइयों में 'यवन्' शब्द इस्लाम के सभी अनुयायियों के लिए प्रयुक्त न होकर, कट्टर एवं असहिष्णु धर्मान्धों के लिए ही व्यवहृत हुआ है। इसी ग्रंथ के अन्तर्साक्ष्य से उक्त अर्थ का समर्थन भी होता है। प्राणनाथ के गुरु श्री देवचन्द्र जी के व्यक्तित्व प्रकरण में ब्रजभूषण कवि ने कहा है कि—

चार वरन अरु दुहू दीन के, झगरे जिन निरवारे।
एक बुद्धि एक धर्म है, भजन एक को होइ।
छूटि जाइ नानात्व मति, वेद पक्ष लें दोइ।

तथा

बुद्धि आसुरी सुरन में, यवन असुर के रूप।
दोऊ मेटि प्रगट करी, जग में बुद्धि अनूप॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इन विचार-सूत्रों के माध्यम से तत्कालीन संतों के क्रांतिकारी युग-चिंतन का अनुमान किया जा सकता है।

इस परिप्रेक्ष्य में सन्तों एवं भक्तों के आन्दोलन की व्याप्ति तथा उसको मिलने वाले जन समर्थन के कारणों को समझने में समुचित सहायता मिल सकती है। इस आन्दोलन को ऐतिहासिक अन्तर्धारा की ऊर्जा ही उत्प्रेरित कर रही थी। यदि इसके मूल में इतिहास का पथ-निरूपण करनेवाली व्यापक चेतना का संचार न रहा होता, तो विभिन्न क्षेत्रों की अलग-अलग भाषाओं में लिखी जानेवाली संत वाणियों में तात्विक एकता का साक्षात्कार कर सकना कठिन होता।

कहा जा चुका है कि गुरु अर्जुन देव की कल्पना ने अपनी ओर से नानक-पंथ को राष्ट्रीय धर्म का रूप देने का हर सम्भव प्रयत्न किया था, किन्तु मानव स्वभाव की रुचि और प्रवृत्ति की विविधता को अधिकाधिक स्वीकृति प्रदान करनेवाले हिन्दू समाज की प्रवृत्ति को रमाने के लिये राष्ट्रीयता की मूल दृष्टि को अनेक प्रकार से प्रस्तुत करने का महत्व किसी भी रूप में कम नहीं हुआ था। सहअस्तित्वपूर्ण यही धर्म-दृष्टि हिन्दुत्व की सनातन विशेषता रही है, जो उसके व्यक्तित्व की विशिष्टता की रक्षा करने में पूर्ण रूप से सफल सिद्ध हुई है। सोलहवीं शताब्दी की इसी आवश्यकता को नानक, चैतन्य, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, नरसी मेहता, नामदेव एवं दादू आदि संतों ने अपने व्यक्तित्वों एवं कृतित्वों द्वारा पूरा किया था। वैविध्य में ही एकत्व की शोध इन संतों की सबसे बड़ी देन हैं।

इस वैचारिक क्रान्ति को संवर्धित करने में परोक्ष रूप से तत्कालीन क्षुब्ध राजनैतिक वातावरण भी बहुत अंशों में सहायक हुआ था। आसन्न चुनौतियों के समक्ष यदि उसी स्तर की प्रतिरोधक शक्ति का प्रस्फुटन नहीं हुआ होता, तो अस्तित्व-रक्षा करना कठिन हो जाता। भूषण ने शाही नीति के चैलेंज को हिन्दुओं के लिए वरदान माना था— **भूषण कहत सब हिन्दुन के भाग फिरे**·······।

☐ हिन्दू-चेतना की देश-व्यापी जागृति :

१६ वीं शताब्दी में उत्तर भारत के हिन्दुओं को अपेक्षाकृत प्रशासकीय दृष्टि से उदार एवं धार्मिक दृष्टि से सहिष्णु मुस्लिम बादशाह प्राप्त हुये थे। अकबर को अपनी धार्मिक सहिष्णुता के फलस्वरूप हिन्दू प्रजा का मन मोहित करने में ऐसी सफलता मिली कि सम्पूर्ण मुसलमान बादशाहों की परंपरा में उसे 'न भूतो न भविष्यति' कहा जा सकता है। इस कथन को पुष्ट करनेवाला प्रमाण यह है कि भारतीय लोक में अकबर के जीवन-काल की अनेक आख्यायिकाओं ने लोक-कथा और लोकोक्तियों की पंक्ति में अपना स्थान बना लिया है। नरहरि, गंग, बीरबल जैसे भाषा-कवियों तथा तानसेन जैसे कलावन्तों ने बिना किसी हिचक के बादशाह की प्रशस्तियाँ लिखकर भावी बादशाहों का स्तवन करने की दिशा में भाषा कविता

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को उन्मुख कर दिया था। सांस्कृतिक संकरता की यह प्रक्रिया यदि अबाध गति से विकसित होती रहती, तो इससे हिन्दू संस्कृति के मिटने की आशंका थी। समन्वय बराबरी के स्तर से ही संभव होता है। जेता की संस्कृति के समक्ष विजित जाति की संस्कृति का टिका रह सकना प्रायः कठिन हो जाता है। उदार बादशाह एवं उसके पीछे सूफी सन्तों की प्रेम-पूर्ण वाणी द्वारा हिन्दू संस्कृति के भविष्य पर नये प्रकार का ग्रहण लगने की आशंका से संत समाज का सावधान रहना स्वाभाविक था[१]। हिन्दू जनता द्वारा सूफी संतों एवं मुस्लिम फकीरों की पूजा और मान्यता की प्रवृति में ऐसी वृद्धि होने लगी थी कि घर-संसार से विरक्त तुलसी जैसे संत को आगे आकर प्रकट रूप में मुस्लिम मज़ारों की अंध भक्ति करनेवाले हिन्दुओं से यह कहना पड़ा कि—

लही आँख कब आँधरे, बाँझ पूत कब ल्याय।
कब कोढ़ी काया लही, जग बहराइच जाय॥

निश्चित रूप से तुलसीदास एक कट्टर हिन्दू थे। दृढ़ता और कट्टरता के साथ उन्होंने हिन्दुओं को गाज़ियों तथा पीरों की मजारों में जाने से रोका था। यद्यपि तुलसीदास ने अलख की चर्चा करनेवालों को फटकारा था, किन्तु इस्लाम और हिन्दू धर्म की तात्विक एकता से उनका रंचमात्र विरोध नहीं था। तुलसीदास का सभी धर्मों की मूलभूल एकता पर उतना ही विश्वास था, जितना विभिन्न सूफ़ी संत कबीर एवं नानक आदि करते थे—

जथा भूमि सब बीज में, नखत निवास अकास।
राम नाम सब धरम में, जानत तुलसीदास॥

ईश्वर के सभी नामों की तात्विक एकता स्वीकर करने के साथ वे सह अस्तित्वपूर्ण भावना की दृष्टि से यही चाहते थे कि प्रत्येक मनुष्य को उसकी इच्छानुसार अपने-अपने धार्मिक विश्वासों पर आचारण करने की पूर्ण स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। 'निज जिन धरम निरत श्रुति नीती' में व्यक्त धर्म निरपेक्षता का भाव ही तुलसी के 'राम राज' का आदर्श था।

---

१. १६०० ई० के आसपास रावर्ट डी नोविले (Robert de Nobili) ने ईसाई धर्म का प्रचार करने की नई शैली का ग्रहण किया। उसने एक हिन्दू संन्यासी की तरह भगवावस्त्र धारण करना प्रारंभ कर दिया। टूटी फूटी संस्कृत बोल कर वह हिन्दुओं का विश्वास पात्र बन गया। जनता को चमत्कृत करने के लिए हफ्तों अन्तर्धान रहने के बाद सहसा प्रकट हो जाता और कहता कि बाइबिल के रूप में समुद्र में लुप्त पंचम वेद का उद्धार करके वह उसे भारत ले आया है। इस तरह उसने एक लाख ईसाई बनाने में सफलता प्राप्त की थी। —A History of the Church of England, Eyre, 1924, London, Page 97—99.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ईश्वर को प्राप्त करने के अनेक मार्ग तथा अनेक उपासना पद्धतियाँ हैं। हिन्दू संस्कारों की यह विशिष्टता सनातन काल से अपनी जगह पर स्थिर रही है। इसी भावना की स्वीकृति के कारण बाह्य रूप से वह अनेक संप्रदायों एवं उपसंप्रदायों में निरन्तर विभाजित होता रहा है। बाह्य विविधताओं के बावजूद आन्तरिक दृष्टि से वह इतना सूत्र-बद्ध रहा है कि सैकड़ों सालों तक अपरिमित रक्त बहाते रहने के उपरान्त भी इस्लाम की तलवार हिन्दू धर्म को उच्छिन्न करने के प्रयास में सफल नहीं हो सकी। एक सामान्य हिन्दू के लिये धन-धरती एवं राज-पाट की कभी वह कीमत नहीं थी, जो धर्म और धर्म के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ी हुई संस्कृति के लिये बनी रही है। महाभारत में अजगर बनकर कुएं में पड़े हुए शापग्रस्त नहुष को युधिष्ठर ने धर्म की जिस परिभाषा से सन्तुष्ट किया था, वह परिभाषा तात्विक दृष्टि से आधुनिक शब्दावली में 'संस्कृति' का ही आशय प्रकट करती है—

वेदा : विभिन्ना : स्मृतयोर्विभिन्ना, नैको ऋषिर्यस्यमतम् न भिन्नम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम, महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

इसीलिए स्थूल वस्तुओं को गवाँकर भी हिन्दू समुदाय ने मूल वस्तु को कभी नहीं छोड़ा। इस तथ्य एवं उसको उच्छलित करनेवाले कारणों का निदान करने के लिये हिन्दू समाज की अन्तश्चेतना का सूक्ष्म रीति से अवलोकन करने की आवश्यकता है।

विश्व के अन्य धर्मों की तुलना में हिन्दू-धर्म की अनेक ऐसी निजी विशेषतायें है, जो केवल उसी की है। हिन्दू चिंतकों ने धर्म, दर्शन शास्त्र एवं सामाजिक जीवन-पद्धति को पद-पद पर एकात्म रखने की व्यवस्था की है। इस व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति की इकाई को एक बड़ी व्यवस्था के अंग-रूप में उसके साथ शाश्वत संबंध रखनेवाले अन्तर्वर्ती सूत्रों का निर्माण करने के अतिरिक्त व्यक्ति रूप में प्रत्येक हिन्दू को इष्ट एवं साधना विषयक[1] स्वतंत्रता उपलब्ध कराई गई है। भगवान मनु ने 'मनुस्मृति' में धर्म के दश लक्षणों में **'आत्मनस्तुष्टिरेव च'** लिखकर व्यक्ति विशेष की रुचि को समुचित रूप से स्वीकृति प्रदान की है। व्यक्तियों और उनके परिवारों की इकाई की स्वतन्त्रता की मान्यता से धार्मिक कठोरता का विकेन्द्रीकरण हुआ, जिसके फलस्वरूप धर्म-संस्था को अन्तर्वर्ती शक्ति प्राप्त हुई। यही कारण है कि कड़ी विशेष या एक साथ अनेक कड़ियों पर जब किसी विजातीय विजेता की तलवार का प्रहार होता था, तो केवल सीमित कड़ियाँ ही टूटतीं या चकनाचूर होती थीं। समाज की शेष कड़ियाँ अपने स्थान पर ज्यों की त्यों बनी रह जाती थीं। चर्चित हिन्दू

---

१. आकाशत्पतितंतोयं यथा गच्छति सागरे ।
सर्व देव नमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ॥ —विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जीवन-पद्धति को आधुनिक अर्थ-बोध में 'हिन्दू संस्कृति' का नाम देना समीचीन होगा। हिन्दू धर्म की अन्तर्वर्ती शक्ति भी यही थी। इसकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि धर्म-परिवर्तन के पश्चात् भी भारतीय 'जन' शताब्दियों तक अविकल रूप से इस संस्कृति के अंग बने रहे हैं। यही कारण है कि भारतीय मूल के मुसलमानों और ईसाइयों में भारतीय संस्कृति की अन्तर्धारा कभी नहीं खंडित हुई। अनेक रानैतिक कारणों से उसका लोप होना अब शुरू हुआ है।

हिन्दू जीवन-पद्धति सहस्त्रों वर्ष की इतिहास-धारा में परीक्षा की हर भँवर में खरी उतरी है। संकट का हर झंझावात उसकी नौका डुबोने के प्रयास में सदैव विफल हुआ है। उसके पुराणकारों ने अनेकानेक प्रकार से इस मूल बात को प्रकट किया है। उसका इतिहास भी सिद्ध करता है कि हिन्दू समाज को जब जैसी आवश्यकता हुई है, तब उसके भीतर से समयानुकूल वैसी ही शक्ति का प्रस्फुटन हुआ[1] है। हिन्दू धर्म, हिन्दू संस्कृति एवं हिन्दू राष्ट्र की यही सजीवता उसकी गौरव शालिनी लोकाभिमुख परम्परा में मानव को ईश्वरत्व का पद प्रदान करती रही है। इसी प्रतीति ने अवतारवाद को उसके संस्कारों में बद्ध मूल कर दिया है। इसी स्वभाव के कारण हिन्दू समाज बाहर से बिखरा हुआ दिखाई पड़ने पर भी यथावसर अपनी परम्परा की रक्षा करने में सामूहिक रूप से आस्थावान बना रहा है। यहाँ **"सामुहिक"** और **सुसंगठित** शब्दों के अंतर का स्मरण करा देना उचित होगा। शिवपुराण में उपमन्यु ऋषि ने श्री कृष्ण के समक्ष इसी सर्वव्यापी तात्विक एकता को प्रकट किया था। अतः कह सकते हैं कि हिन्दू संस्कृति बाह्य अनेकताओं में एकता स्थापित करने की साधना में अबाधरूप से संलग्न रही है। प्रस्तुत प्रसंग में उपमन्यु का कथन उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

चत्वारश्च तथा बेदाः सेतिहास पुराणका :
धर्मशास्त्राणि विद्याभिर्वैदिकीभिः समन्विताः।
परस्पराविरुद्धार्थाः शिवप्रकृतिपादकाः॥

संश्लेषण प्रधान जीवन-दृष्टि होने के फलस्वरूप ही हिन्दू धर्म एवं हिन्दू संस्कृति को किसी भी न्याय से एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। दोनों की स्थिति एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान रही है। यही कारण है कि जब कभी कोई व्यक्ति हिन्दू धर्म की रक्षा करने के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग करने के लिए आगे आता था, तो अन्ततोगत्वा उसका उद्देश्य, हिन्दू जीवन-पद्धति अर्थात् हिन्दू संस्कृति की रक्षा करने का ही हुआ करता था। इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद एवं

1. "The vitality of a nation is best presented not merely by its capacity for self-defence, but also by its power in each succeeding generation to raise up men fitted in every way to carry out the work with greater vigour and more assured success". —Rise of Maratha Power, M. G. Ranade.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस्लामी उपासना-पद्धति से शायद हिन्दुत्व का उतना विरोध नहीं था, जितना इस्लाम धर्म में आस्था को अतिशय मर्यादित-रेजिमेण्टेड-करने से हो सकता था। इसीलिये ईरान और अफगानिस्तान आदि देशों की तरह हिन्दुस्तान में पूर्ण रूप से उसकी स्वीकृति नहीं हो सकी। सोलहवीं शताब्दी विशेषकर अकबर के शासनकाल में जब इस्लाम को लचीला बनाने में शासकों का भी सहयोग मिलने लग गया, तब हिन्दूसमाज में अपनी संस्कृति की रक्षा करने के लिये वांछित क्षमता का प्रकाशन करना आवश्यक हो गया। धार्मिक आस्था की धुरी बदलने की बात न होकर यदि मात्र कर्म-काण्डों को समाप्त करने की ही बात रही होती, तो इस मार्ग में विशेष कठिनाई नहीं उपस्थित हुई होती। ऐसा कहने का आधार यह है कि हिन्दी का भक्ति एवं संत-काल का साहित्य एक स्वर से कर्मकांड की निरर्थकता को पहले से ही प्रतिपादित करता आ रहा था।

वस्तुस्थिति में समस्या अत्यधिक गम्भीर थी। मान लीजिये अकबर एवं दारा शुकोह द्वारा मान्यता प्राप्त इस्लाम-धर्म भारतीय हिन्दू प्रजा द्वारा ग्रहण कर लिया जाता, तो निगम, आगम, उपनिषद्, पुराण तथा विविधता युक्त प्राचीन भारतीय साहित्य का भविष्य भारत में क्या हुआ होता? इस साहित्य को समझने, तथा उसके मर्मोद्घाटन के संस्कार क्या भारतीय जनमानस में यथावत् रूप से प्रवाहित रह सकते थे? उँगली की तीन पोरों में गिने जानेवाले थोड़े से बुद्धिवादी भले ही इनका अवलोकन कर लेते, किन्तु यह साहित्य कभी जन-चेतना के श्रद्धास्पद रूप में जीविन नहीं रह सकता था।

हिन्दू धर्म की कर्मकाण्डी वर्ण-व्यवस्था के निर्भय आलोचक महात्मा कबीर दास ने उस वेद-पाठी ब्राह्मण की खूब खबर ली है, जो वेदों एवं पुराणों को पढ़ता-रटता तो था, किन्तु वेदों एवं पुराणों की गुण-सम्पत्ति से विरहित बना रहता था। वेदों एवं पुराणों को कबीरदास ने चंदन की लकड़ी से ही उपमित किया है, जिससे शीतलता एवं सुगंधि इन दो गुणों की उपलब्धि होती है—

वेद-पुराणा पढ़त अस पाँड़े, खर चंदन अस भारा हो।

कबीरदास ने धार्मिक रूढ़ियों से तो खुलकर विद्रोह किया था, किन्तु भारतीय जन-जीवन के सांस्कृतिक स्रोतों के प्रति उनके हृदय में प्रगाढ़ प्रेम विद्यमान था। कबीरदास के युग के बहुत समय बाद एक गृहस्थ ब्राह्मण कवि (देव) ने 'देवमाया प्रपंच' नाटक में वैसी ही बात 'सहजानन्दी' एवं 'इच्छानन्दी' सम्प्रदाय के प्रतिनिधियों के बीच सम्वाद रूप में कहलायी है।[1] 'इच्छानन्दी' कहता है कि ब्राह्मणों ने वेदों की

---

१. हैं उपजे रज बीर्जाहि ते, बिनसेहू सबै छिति छार कै छाँड़े।
येक से देख कछू न विसेख, ज्यों एकै उन्हार कुम्हार के भाँड़े।

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भावना को विकृत करके इस रूप में प्रस्तुत किया है कि शूद्र तो अपावन माने जाने लगे हैं, किन्तु पाँड़े जी की पवित्रता में रंचमात्र का संशय नहीं किया जा सकता। इन्हीं तथ्यों के प्रकाश में स्वीकार करना पड़ता है कि नए युग के संस्कारों को परम्परा (संस्कृति) विहित बनाने की स्पृहा आलोच्य युग का प्रमुख लक्षण रहा है। तत्कालीन इतिहास में इस दृष्टि को व्यावहारिक रूप में ग्रहण किये जाने के प्रमाण बिखरे हुए हैं। इनकी ओर समुचित ध्यान देने की आवश्यकता है।

इतिहास के उपलब्ध तथ्यों पर दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि सिक्ख धर्म को लेकर कालान्तर में किसी प्रकार की खींचतान एवं भ्रम न उत्पन्न किए जायँ, इसीलिये दशम गुरु गोविन्द सिंह जी ने विचित्र नाटक, चण्डी चरित्र, कृष्णावतार, रामायण सहित चौबीस अवतारों की कथा लिखकर सिक्ख धर्म की स्थिति को पूर्णतया स्पष्ट एवं विवाद रहित बना दिया है। गुरुजी की समस्त वाणी को उन्हीं के समकालीन भाई मनी सिंह जी ने हिन्दी पंजावी और फारसी आदि भाषाओं के लगभग १७२५३ छंदों को संकलित करके उसे 'दशम ग्रंथ' नाम दिया था। युग की नवीन चेतना को सहज स्वीकृति प्रदान करने के साथ-साथ, हिन्दू धर्म के सांस्कृतिक प्रवाह को पूर्णतया प्रतिष्ठित रखने की दृष्टि से गुरु गोविन्द सिंह की वाणी में जिस भविष्य द्रष्टा प्रतिभा का साक्षात्कार होता है, उसके समक्ष नतमस्तक होना पड़ता है। संस्कृति की इसी अन्तर्धारा को संप्रेषित करने के लक्ष्य से तुलसीदास ने मानस में पुराणों एवं निगमागमों की परम्परा को अविकल रूप में उपस्थित करने का उद्योग किया था। ब्राह्मणों की कूप मंडूकता एवं संकीर्णता के कारण उनके व्यक्तित्व में जो स्खलन आ गया था, उसमें उदात्तता लाने की दृष्टि से समर्थ गुरु रामदास ने ब्राह्मण समाज में नव जीवन-संचार का उद्योग भी किया था। उन्होंने कहा था कि प्रत्येक ब्राह्मण को देवनागरी सीखने के साथ परमार्थ एवं परलोक के पीछे भटकने के स्थान पर पुरुषार्थ का संकल्प जाग्रत करना चाहिए। समर्थ ने स्पष्ट रूप से कहा था कि ब्राह्मणों को देश के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक निरंतर भ्रमण करते रहना चाहिये—**ब्राह्मणु हिंडिता बरा।**

(शेष पिछले पृष्ठ से)

तापर आपने ऊँचे ह्वै, औरनि, नीच कै पाँय पुजावत पाँड़े।
वेदन मूँदि करी इन दूँद कि, सूद अपावन पावन पाँड़े॥
—देवमायांप्रपंच नाटक, ५/२८

प्रस्तुत ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति लेखक ने स्वर्गीय डा० ब्रजकिशोर जी के यहाँ देखी थी। उसी प्रति से मैंने कुछ छंदों को प्रतिलिपि भी की थी। यह ग्रंथ रीतिकालीन समाज का अन्तर्मंथन करने की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हर्ष की बात है कि 'हिन्दुस्तानी एकेडेमी' इलाहाबाद से डॉ० पुष्पारानी जायसवाल द्वारा संपादित, 'देव ग्रंथावली' भाग (१) में यह ग्रंथ मुद्रित हो गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोक का यथार्थ रूप में दर्शन एवं लोक के साथ सम्पर्क स्थापित करने से अनुभव तथा ज्ञान की वृद्धि तो होती ही है, आचार-व्यवहार में भी उदारता का सन्निवेश होता है। सन् १६३२ ई० में नासिक से चलकर उन्होंने बद्रिकाश्रम से लेकर कन्या कुमारी तक फैले प्रदेश का बारह वर्षों में परिभ्रमण पूरा कर लिया था। उन्होंने जो कुछ देखा तथा जो कुछ अनुभव किया था, उसे वे सभी बुद्धि जीवियों का चाक्षुष विषय बनाना चाहते थे। आधुनिक युग और आधुनिक विचारों के सूत्रधार राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द आदि के विचारों में देशाटन के उपरान्त ही लोकोत्थान वादी नए विचारों का उदय हुआ है। रामदासजी अपने युग के ब्राह्मणों को शिक्षित करने के लिए पर्यटन को शिक्षा का सशक्त माध्यम बनाने का ही उद्योग कर रहे थे। ब्राह्मण वर्ग की सांस्कृतिक एवं बौद्धिक रुग्णता का योग्य शिक्षा द्वारा उपचार करने के व्यापक प्रयत्न रूप में ही इन विचारों को ग्रहण किया जाना चाहिए। देशाटन और पंडितों का सत्संग शास्त्रों तथा लोकोक्तियों में ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन माना गया है।[1] लोक में भी 'पढ़ने' से ज्यादा महत्व 'कढ़ने' को दिया जाता था।

☐ राष्ट्रीय भाव का देशव्यापी उच्छलन :

संस्कृति रक्षा के प्रति सजगता भरे इन्हीं प्रयत्नों के आधार पर भारत की राष्ट्रीयता का निर्माण करनेवाले विचार-तंतुओं का साक्षात्कार चर्चित युग-परिवेश में किया जा सकता है। मूल रूप से किसी राष्ट्र के व्यक्तित्व-निर्माण में संस्कृति की ही भूमिका प्रमुख होती है। शासक एवं शासन-पद्धतियाँ तो कभी-कभी रातों रात बदल जाती हैं। राष्ट्रों की भौगोलिक सीमाओं में भी उलट फेर होते ही रहते हैं। इनकी अपेक्षा राष्ट्र एवं राष्ट्रीयता की जड़ें अधिक स्थायी होती हैं। राष्ट्र संस्कृति का बाह्य स्वरूप होता है। राष्ट्रीयता भाव वाचक शब्द है। अनुभवों की सजीवता की प्रतीति होने पर ही भावात्मक लगाव का प्रस्फुटन हो सकता है। संस्कृति को यदि सूर्य कहें, तो राष्ट्र को उसकी प्रभा कह सकते हैं। भारतीयों ने शरीर की तुलना में सदैव आत्मा को विशेष रूप से महत्व दिया है।[2] इसी तत्व की उपेक्षा करने के

---

१. देशाटनं पंडित मित्रता च, वारांगना, राजसभा प्रवेशः।
अनेक शास्त्रार्थ विलोकनं च, चातुर्यमूलानि भवन्ति पंच॥

कहावतों में 'पढ़ने' के ही समान 'कढ़ने' का महत्व स्वीकार किया गया है। केवल किताबी ज्ञान तक सीमित शिक्षावाले व्यक्ति के लिए ही 'पोंगा पंडित' की उक्ति प्रचलित थी। दुर्भाग्य से वर्तमान शिक्षा व्यवस्था ऐसे ही व्यक्तियों को मान्यता दे रही है—

"पंडि जात बोय ना जामै, भइं भइं परसै आपन गोत"

तथा—पंडितन राह कुराह बनाई।

२. आत्मा वा अरे श्रोतव्यो ज्ञातव्यो निदिध्यासितव्य।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फलस्वरूप भारतीय इतिहासकारों को ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के पूर्व हिन्दू[1] जाति अथवा भारत की राष्ट्रीयता का अवलोकन कर सकना कठिन हो रहा है। भारत की भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों से अनुस्यूत राष्ट्र की विशिष्ट प्रकृति (जिसे आधुनिक अर्थ-बोध में राष्ट्रीयता कहना ही उचित होगा) को निर्धारित करने की दिशा में इतिहासकारों ने समुचित उत्साह नहीं प्रकट किया है। किन्तु प्राचीन कर्मकाण्डी ब्राह्मण-आचार्यों ने हिन्दू समाज की अन्तर्व्यापी एकता को उभार कर उसका रूपाकार प्रकट करने की दिशा में गहरी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। देश के चार छोरों पर चार धाम एवं मध्य भाग में अनेक तीर्थों एवं कुंभ पर्वों की स्थापना करने में देश की तात्विक एकता को सुदृढ़ करने का ही प्रयत्न रहा है। शंकराचार्य जैसे युग मनीषी महापुरुष ने वैदिक ज्योतिर्मठों की स्थापना द्वारा एकता के इन प्रयत्नों को अपने ढंग से सुदृढ़ किया था। शाक्त एवं शैव संप्रदायों ने भी इस एकता की कल्पना का संवहन किया है। भारतीय मनीषियों के सतत् एवं अबाध प्रयत्नों का सुफल यह हुआ है कि राजनैतिक अस्थिरता की अनित्य प्रकृति, हिन्दू राष्ट्र की मूलभूत एकता की नित्य प्रकृति को विश्रृंखलित करने में सदैव विफल होती रही है। जन-जीवन के सामाजिक सम्बन्धों के बिखरावों को असामान्य परिस्थितियों में समेट कर रख सकने में भारतीय चिंतकों की अन्तर्दृष्टि को जो सफलता मिली है, विश्व-इतिहास में उसके समानान्तर दूसरी मिसाल ढूंढ़ पाना कठिन ही नहीं, शायद असम्भव भी है।

सोलहवीं सदी में ही नवीन धर्म दर्शन एवं नवीन दार्शनिक विचारों के फलस्वरूप यूरोपीय देशों का इतिहास पूर्व परम्पराओं को ढहाकर अस्मिता की नई चेतना से उद्वेलित हुआ था। नए चिंतन एवं नई भौतिक आवश्यकताओं ने इतिहास-धारा में नए लक्षणों को प्रस्फुटित करने में अपना योगदान किया। इसी नवीनता ने यूरोपीय राष्ट्रवाद अथवा राष्ट्रीयता की अवधारणा को रंग-रूप प्रदान किया है।

१६ वीं शताब्दी के अन्तर्गत अँग्रेज जाति के इतिहास को मिल्टन जैसे उदात्त कवि एवं हाब्स जैसे विचारकों ने अनुप्राणित करके मध्य वर्ग के शिक्षित व्यापारियों में राष्ट्रवाद का बीजारोपण किया था। इन पढ़े लिखे व्यापारियों के हृदय में क्षेत्रीय

---

१. हिन्दू शब्द 'एक विशिष्ट धर्म' के अनुयायियों के संकीर्ण अर्थ में न प्रयुक्त होकर भारत में रहने-बसनेवाली सम्पूर्ण भारतीय जाति (भारतीय नागरिक) को लक्षित करता था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बलिया के एक भाषण में इस आशय को स्पष्ट किया था। (दे०—आधुनिक हिन्दी का आदिकाल, चतुर्वेदी पृ० ५१) अकबर अपनी हिन्दू प्रजा के हृदय में इसी विश्वास को पुष्ट करने के लिए कभी-कभी धोती पहन कर माथे पर चंदन लगाता था। इस प्रकार के व्यवहार से अकबर यही जताना चाहता था कि मुगल और मुसलमान होने के कारण वह हिन्दू संस्कृति की मुख्य धारा से अलग नहीं है। भारत में मुग़ल सिंहासन की साख़ स्थापित करने में अकबर के इसी उदार-दृष्टिकोण का योगदान रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशेषताओं में गहरा प्रेम होने के साथ-साथ देश भक्ति एवं देश की आर्थिक समृद्धि की प्रेरणा के अतिरिक्त, अँग्रेजी भाषा एवं ब्रिटिश संस्कृति के उत्थान का नया जोश जाग्रत हुआ। इस नवीन लहर ने जातीय स्वाभिमान को इस रूप में उत्तेजित किया कि प्रजातांत्रिक जीवन-मूल्यों की विशेषताओं से परिपूर्ण ब्रिटिश राष्ट्रीयता का स्वरूप क्रमशः निश्चित और स्थिर होने लगा। ब्रिटेन की ही भाँति फ्रांस के १८वीं शताब्दी के इतिहास में रूसो आदि दार्शनिकों के विचारों से अनुप्राणित राज्य क्रान्ति की ऐसी लहर उठी कि फ्रांसीसी जनता ने सम्राट के प्रति व्यक्त होनेवाली राज-भक्ति को स्थानान्तरित करके फ्रांस देश (राष्ट्र) के प्रति अपनी निष्ठा को समर्पित कर दिया। फ्रांसीसी नागरिक की यह चेतना ऐसी प्रखरता से जाग्रत हुई कि नैपोलियन के नेतृत्व में वह सम्पूर्ण विश्व पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने का यत्न करने लगी। इसी प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका ने समान धर्मी एवं एक ही मूल से उत्पन्न अँग्रेज जाति के शासक हाथों से अपने देश की राजनैतिक सत्ता को मुक्त कराने के आन्दोलन को सफल बनाया। इंग्लैंड, फ्रांस एवं अमेरिका आदि देशों की यह नव-चेतना यूरोप के अन्य देशों में फैलती हुई कालान्तर में भारत पहुँची है। इसप्रकार की ऐतिहासिक व्याख्याओं द्वारा भारतीय राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीयता को ब्रिटिश साम्राज्य एवं अँग्रेजी भाषा की देन के रूप में संगतिपूर्ण सिद्ध कर दिया जाता है।

भारतीय संस्कृति की परम्परा एवं भारतीय इतिहास के मूल स्रोतों के प्रकाश में इस मान्यता की सम्यक रूप से समीक्षा करने की आवश्यकता है। साहित्यिक स्रोतों का इस संदर्भ में सर्वाधिक महत्व है। भारतीय संत चिंतकों के मन में निहित जिस राजनैतिक जागृति को लक्षित करने का उद्योग हम कर चुके हैं, उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उनकी कल्पना में राजनैतिक क्षेत्र की अवधारणा भी अवश्य ही विद्यमान थी। अतः इस प्रश्न के संदर्भ में हमारा निवेदन है कि यूरोपीय विचारकों का पिछलग्गू बनने के स्थान पर संतों की राष्ट्रीय अवधारणा की शोध करना ही समीचीन होगा। भारतीय इतिहास-धारा के साथ आधुनिक काल की उचित संगति इसी शोध द्वारा सिद्ध हो सकती है। इसी की उपेक्षा और अवहेलना किए जाने के फलस्वरूप आधुनिक काल का इतिहास अतीत की विवेकपूर्ण परिणति के रूप में न उभर कर अँग्रेजो द्वारा लगाई गई कलम के रूप में ही सामने आता है।

भाषा-साहित्य में 'हिन्दू' शब्द में लक्षित होनेवाली भारत की राष्ट्रीयता का परिचय देने के पूर्व यह बता देना आवश्यक होगा कि यह तत्व अभी तक किन कारणों से वर्तमान युग की भारतीय जनता के सामने अपने असली रूप में उभर कर नहीं आ सका है। रीतिकाल में भारतीय संस्कृति तथा उससे प्रसूत राष्ट्रीय-चेतना का संवहन मुख्य रूप से भाषा-काव्य का मूल धर्म रहा है। इसीलिए अँग्रेजों की कूट बुद्धि ने अपने राजनैतिक अस्तित्व की रक्षा के लिए भाषा-साहित्य के वृक्ष एवं उसमें खिले हुए

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राष्ट्रीय भावनाओं के पुष्पों को नष्ट करने के साथ उसके सम्बन्ध में बुद्धिभ्रम उत्पन्न कर देना आवश्यक समझा था। इस काम के लिए ब्रिटिश कूटनीतिज्ञों ने विशेष प्रकार के ज़हरीले विष का प्रयोग किया था। बुंदेली भाषा में इस प्रकार के विष को को 'दिनाई' कहा जाता है, जिसके कारण व्यक्ति धीरे-धीरे इस तरह मरता है, जैसे वह रोग-वश होकर स्वाभाविक मौत से मर रहा है। इसी तरह का विष दिए जाने के फलस्वरूप भाषा-साहित्य का वट-वृक्ष शनैः शनैः स्वयं सूख गया।[1] उसके उचित उपचार की तरफ़ किसी का ध्यान भी नहीं गया।

☐ ब्रिटिश साम्राज्यवादियों की समस्या—उनकी कूटनीतिक सावधानी :

कम्पनी सरकार के गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिंग की कौंसिल के ला मेम्बर लार्ड मैकाले की दूर-दृष्टि तथा उसकी कूट बुद्धि को धन्य है, जिसने अपनी बुद्धि के तीक्ष्ण ब्लेड से भारत की इतिहास-संस्कृति को दो फाँकों में काट देने के काम में पूर्ण सफलता प्राप्त करली है। शताब्दियों तक इतिहास की अन्तश्चेतना को प्रतिफलित करनेवाली ब्रज-भाषा को उसने इस प्रकार दंशित किया कि वह फिर कभी हरी नहीं हो सकी। यही नहीं, अमरबेल की तरह अँग्रेजी भाषा एवं अविकसित बोलियों को नेटिव लैंग्वेजेज़ के रूप में छाती के पीपल की तरह उगाकर 'भाषा' के स्वत्व तथा उसकी चेतना को अवरुद्ध कर उसे किस प्रकार मरणोन्मुख किया गया, इसे जाने बिना भाषा-साहित्य के इतिहास को सही रूप में नहीं समझा जा सकता। इस तथ्य का विश्लेषण करने के लिए इतिहास के पिछले पन्नों को उलटने की आवश्यकता है।

२० मई सन् १४६८ ई० में अनेक कठिनाइयों को पार करता हुआ पुर्तगाली नाविक वास्कोडिगामा कालीकट बन्दरगाह में पहुँचा था।[2] वास्कोडिगामा के लिए यह मुहावरा प्रसिद्ध है कि वह गरम मसालों और ईसाई धर्म के अनुयायियों की खोज में ही भारत आया था। पुर्तगाली व्यापारी, पुर्तगाली पादरी एवं पुर्तगाली सम्राट सभी में एक गहरा जोश खरोश था कि अधर्मी भारतीयों को शीघ्रातिशीघ्र

१. पं० श्री नारायण चतुर्वेदी जी ने 'आधुनिक हिन्दी का आदिकाल' नामक ग्रंथ में इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार किया है। श्रीधर पाठक एवं आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की अँग्रेजी संस्कार संपन्न शिक्षा-दीक्षा के कारण ब्रजभाषा के प्रति शिष्ट समाज में अवज्ञा का भाव जाग्रत हुआ, ऐसा चतुर्वेदी जी का मत है। उनके अनुसार हिन्दीवालों ने ही ब्रज भाषा को मारने का काम किया है। मैं इस प्रश्न में उनसे पूर्णतः सहमत नहीं हूँ। मेरे विचार में इस समस्या की जड़ें अत्यंत गहरी हैं। आशा है इस प्रश्न पर लोग गहराई से विचार करेंगे।

२. दिल्ली विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के प्रोफेसर डॉ० अम्बा प्रसाद ने हाल ही में पढ़े अपने एक लेख में यह प्रमाणित किया है कि वास्कोडिगामा ने स्वयं भारत की खोज नहीं की थी बल्कि वह भारतीय नाविक द्वारा भारत ले आया गया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सद्धर्म का पूर्ण अनुयायी बना लिया जाय। पुर्तगालियों को इस दिशा में प्रारम्भ में सफलता भी मिला थी। व्यापार-विस्तार, उपनिवेशों की विजय तथा तटवर्ती भारतीयों को रोमन कैथोलिक मतावलम्बी बनाने के काम में उन्हें कृत कार्य करने वाले चाहे जो कारण रहे हों, किन्तु एक प्रमुख कारण यह भी था कि अरब नाविकों के अत्याचारों से हिन्दू प्रजा संत्रस्त थी। अरब नाविक केवल घोड़ों का व्यापार ही नहीं करते थे, बल्कि हिन्दुस्तान के लोगों को पकड़ कर गुलाम के रूप में विदेशी बाजारों में नीलाम भी किया करते थे। प्रणामी धर्म की बीतकों के रचनाकाल १७वीं शताब्दी में भी यह अमानवीयता समाप्त नहीं हुई थी।

अरबों के ऐसे ही अत्याचारों से त्राण पाने की आशा से हिन्दुओं ने पुर्तगालियों का आरम्भ में स्वागत भी किया था। ईसवी सन् १७२१ में लिखे गए मराठी भाषा के इतिहास-काव्य 'कोकणाख्यान'[१] के अनुसार महद-पाई-सर देसाई ने पुर्तगालियों को गोवा विजय के लिए आहूत किया था। जिसप्रकार धार्मिक जोश के कारण अरब लोग भारतीयों की दृष्टि में अप्रिय हो गए थे, उसी तरह धर्म परिवर्तन कराने का उत्साह भारतवर्ष के इतिहास में पुर्तगालियों के भविष्य को ले डूबा है।

अँग्रेज जाति दोनों की अपेक्षा अधिक समझदार थी। उसने पुर्तगालियों, अरबों एवं औरंगजेब के इतिहास से बहुत कुछ सीख लिया था। अपने ऐतिहासिक विवेक का प्रमाण देते हुए कम्पनी सरकार ने अपने पादरियों को भारतीय हिन्दुओं एवं मुसलमानों का धर्म-परिवर्तन कराने की छूट नहीं प्रदान की थी। सन् १७९३ ई० के आस-पास ईस्ट इंडिया कम्पनी को अपनी राजनैतिक एवं सैनिक पक्ष की ओर से आश्वस्तता होने लगी थी। अतः अपने धार्मिक एवं राजनैतिक संकल्प तथा सैन्य बल के गर्व में इसी वर्ष ब्रिटिश-संसद से भारत में ईसाई धर्म प्रचारित करने की अनुमति माँगी गई।[२] ब्रिटिश संसद में इस मुद्दे पर हुई लम्बी बहस के बाद भी प्रस्ताव को

---

१. तेव्हां सर वेसाई मामलैसि। दमाड पै वेरणें सा सस्टिसि॥
एक बेल मारूनि काडिले नायल्यासि। पुन्हां स्थालासि न सोडिती॥
त्याणें आपुलें सद्यतेसि। टोविकर अविंध होते कोचिसि॥
त्यांसि आणिलें गोमांचलासि (गोवा)। सावकारणे स्थलासि राहिले॥
गोमांचलासि नवल परि। वेष्टित ग्राम द्वीपे उदकामाझारिं॥
देखोनि अभिनव रचना थोरि। लिहोन पटोवरी पाठविले॥
मग पुर्तकालिहु आणिली॥

—A History of Christianity in India. George M. Moraes P. 154

2. A History of Hindu Muslim Problem in India. (गणेश शंकर विद्यार्थी की हत्या के पश्चात १९३१ ई० में कांग्रेस कमेटी द्वारा नियुक्त जाँच कमेटी की रपट) Pub. 1933 Allahabad P.114—15.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थगित कर दिया गया। इस घटना के छः वर्ष बाद ब्रिटिश संसद ने सन् १७६६ ई० में जोशीले धर्म-प्रचारकों को भारत में ईसाई धर्म-प्रचार की अनुमति प्रदान कर दी। दो शताब्दियों तक जो जाति अपने उत्साह पर आत्म संयम की लगाम लगाए बैठी थी, उसके हृदय में यह अवसर उपस्थित होने पर कितना उत्साह प्रकट हुआ होगा, इसकी कल्पना सहज में ही की जा सकती है। एक ही वर्ष के भीतर कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना के साथ अँग्रेजी भाषा की शिक्षा एवं भारत के इतिहास भूगोल, संस्कृति, धर्म शास्त्र एवं सामाजिक संरचना आदि के साथ जनता की क्षेत्रीय बोलियों पर होनेवाले शोध-कार्यों में तीव्रता आई। जन-भाषा एवं जन बोलियों में इस समय तक स्पष्ट भेद विद्यमान था, किन्तु अँग्रेज कूटनीतिज्ञों ने जान बूझकर उच्च शिक्षा के माध्यम की खोज करने में पूर्ण रूप से भाषा (ब्रजभाषा) की उपेक्षा का रवैया ग्रहण किया।

फोर्ट विलियम कालिज में भारतीय भाषाओं के प्रोफेसर पद पर नियुक्त होने वाले विलियम कैरी का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। उन्होंने अरबी, फारसी एवं संस्कृत जैसी शिष्ट प्राच्य भाषाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। इसप्रकार अपने प्राच्य प्रेम की आड़ में इन विद्वानों ने देश की साहित्य-भाषा की उपेक्षा करने की शतरंजी चाल को सफल बनाते हुए जन भाषाओं (बोल चाल की भाषा) के ही विकास की ओर विशेष ध्यान दिया, जिससे भारतीयों को प्राइमरी स्तर पर पटक देने में पूर्ण सफलता मिल गई। प्राच्य भाषा एवं प्राच्य संस्कृति के आचार्य विलियम केरी जैसे विद्वान् ने संस्कृत जैसी मृत भाषाओं के पुनरुज्जीवित करने की ऐसी सम्मोहिनी सुँघाई कि राजनैतिक सम्पर्क एवं जन चेतना की अधिष्ठात्री 'मध्य देश' की जीवित भाषा को दिए गए 'दिनाई' विष की ओर किसी का ध्यान भी नहीं गया।[1]

---

१. ग्यारह दिसम्बर सन १८२३ ई० में राजा राममोहन राय ने विलियम पिट लार्ड एमहर्स्ट के नाम एक लम्बा पत्र लिखा था। इस पत्र में यह स्पष्ट है कि संस्कृत को शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रयत्न भारतीयों को भ्रम में डाले रखने के उद्देश्य से प्रेरित था—"We now find that the Government are establishing a Sanskrit School under Hindoo Pandits to improve such knowledge as is already current in India. This Seminary (Similar in character to those which existed in Europe before the time of Lord Bacon) can only he expected to load the minds of youth with grammatical niceties and Metaphysical distinctions of little or no practical use to the possessors or to Society.......... The Sanskrit language, so difficult that almost a life time is necessary for its perfect acquisition, is well known to have been for ages a lamentable check on the diffusion of knowledge and the learning concealed under this almost impervious veilm is far from sufficient reward the labour of acquiring it.

—Selections from Educational Records. Vol. I. H. Sharp. P. 99—1

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

□ ब्रिटिश काल में (मध्य देश की) साहित्य-भाषा को विषाक्त करने की अन्तर्कथा :

उल्लिखित फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना के ३४ वर्ष बाद सन् १८३४ ई० में भारत के तत्कालीन गर्वनर जनरल के सम्मुख भारतीयों के लिए नई शिक्षा-पद्धति का निर्माण करना आवश्यक प्रश्न के रूप में उपस्थित हो गया था। 'कमैटी ऑफ पब्लिक इन्ट्रक्शन' के दस सदस्यों के बीच लम्बी एवं उत्तेजनात्मक बहस हुई। मिस्टर एच० टी० प्रिंसेप ने ९ जुलाई १८३४ ई० को अपना शिक्षा-प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इस प्रस्ताव में प्राच्य कही जानेवाली विशिष्ट भाषाओं (अरबी, फारसी तथा संस्कृत) के प्रसार पर विशेष रूप से बल दिया गया था।[1] यदि इस कमेटी के आधे सदस्य प्रिंसेप के समर्थक थे, तो उतने ही सदस्य उसके प्रस्ताव का कट्टरता के साथ विरोध भी कर रहे थे। इन भाषाओं के प्रति सामान्य भारतीय के मन में संस्कारगत सम्मोहन विद्यमान था, अतः 'मदरसों' तथा 'पाठशालाओं' में लगनेवाले धन के खर्च पर ही इन भाषाओं की छाया में ही अँग्रेजी भाषा को पान की बेल की तरह फैलाने की राजनीति इस पक्ष के अन्तर्मन में काम कर रही थी।[2] 'ओरियंटलिस्ट' कहे जानेवाले इन विद्वानों के प्रतिपक्ष का नेतृत्व लार्ड मैकाले के हाथों में था। यह दल घूम घुमौवल वाली भाषायी नीति का पक्षपाती न होकर सीधे रूप में नाक पकड़ने की पहल कर रहा था। राजनैतिक समर में समय अथवा काल के महत्व को यह दल प्राथमिकता दे रहा था। इस पक्ष का तर्क यह था कि प्रारम्भिक स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं के नाम पर इन्हें बहुत समय तक पीछे भटका देने के पश्चात् सम्पूर्ण उच्च शिक्षा के लिए अँग्रेजी भाषा को ही भारतीय शिक्षा का माध्यम बनाने का लक्ष्य सिद्ध करना आसान होगा। अन्ततः यह अनिर्णीत मसला गवर्नर जनरल की 'सुप्रीम कोंसिल' के समक्ष उपस्थित किया गया। दोनों पक्षों के तर्कों को सुन लेने के बाद गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिग ने अपने फैसले से भारतीयों के गले में अँग्रेजी का **कुकर घंट** बाँध दिया। मैकाले के शब्दों में 'कुकर घंट' उक्ति की सार्थकता की झलक विद्यमान है—

We must at present do our best to form a class, who may be interpreters between us and the Millions, whom we govern, a class

---

१. सैलैक्शन्स फ्राम एडुकेशनल रेकार्ड्स भा० १, पृ० १०३, ११७-१२९।

२. मैकाले ने स्पष्ट शब्दों में अपने प्रति पक्ष के राजनीतिक मन्तव्य को इंगित किया है—It is said that we ought to secure the cooperation of the native public and that we can do this only by teaching Sanskrit and Arabic.—Selection From Educational Records Vol. I. P. 112

लार्ड मैकाले का संपूर्ण प्रस्ताव उक्त ग्रंथ के पृ० सं० १०७–११७ में प्रकाशित है। यह समूचा दस्तावेज मूल रूप में ही पढ़ा जाना चाहिए।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

of persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in Morals and in intellect. To that class we may leave it to refine the vernacular dialects of the country, to enrich the dialects with terms of science borrowed from the western nomenclature...... etc—S.F.Ed.R. Vol. I. P. 116.

उद्धृत शब्दों के साक्ष्य में कहा जा सकता है कि भारत में ब्रिटिश राज्य के सम्पूर्ण इतिहास में अँग्रेजी शिक्षा-नीति की सफलता सबसे दुर्भाग्यपूर्ण घटना है। प्लासी, बक्सर, टीपू, मराठा तथा सिक्खों के साथ हुए युद्धों के अतिरिक्त १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम में केवल राज्य सीमाएँ ही टूट-टूट कर अँग्रेजों के अधिकार में गई थीं, किन्तु मैकाले की शिक्षा-नीति के ब्रह्मास्त्र द्वारा भारतीयों के मन-मस्तिष्क एवं उनकी आत्मा को भी गुलाम बनाने का लक्ष्य-बेध कर लिया गया है। हमारे देश के तथाकथित इंटेलेक्चुअल्स यूरोपियन शिक्षा संस्कारों से रँगकर मात्र उनके 'मनस-पुत्र' बन गए हैं। अपने धर्म, अपनी संस्कृति, अपने साहित्य और अपने इतिहास का उपहास करने में उन्हें अपनी 'शिष्टता' और विशिष्टता प्रतीत होती है।

अरबों ने ईरान को पराजित करने के उपरांत बलपूर्वक उनकी भाषा एवं संस्कृति को भूमिसात करने के लिए निर्मम कठोरता से काम लिया था। दीर्घकाल तक खामोश दमन-चक्र सहने के बाद ईरान के राष्ट्र हृदय ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपनी भाषा को पुनः जीवित कर लिया।[1] ईरानी संस्कारों से निर्मित ईरान की अपनी भाषा बनाए बिना ईरानी लोग अपनी संस्कृति को जीवित नहीं रख सकते थे। इसीलिए भारत को अपनी अस्मिता को सुरक्षित रखने के लिए अँग्रेजी भाषा की मानसिक दासता से मुक्ति पाना आवश्यक है।

लार्ड मैकाले के भतीजे एवं भारत में कम्पनी सरकार के महत्वपूर्ण पदों पर कार्य करनेवाले सर जार्ज ओटो ट्रैविलियन ने 'लाइफ एण्ड लेटर्स आफ लार्ड मैकाले' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया है। उक्त ग्रंथ के पृष्ठ २६३ पर उद्धृत मैकाले के पत्रों के आधार पर मैकाले के अन्तर्मन की झलक मिल जाती है। सन १७८४ में कलकत्ते में

---

१. इब्राहीम नामा की भूमिका में देवी सिंग व्यं० चौहान ने प्रामाणिक सामग्री के आधार पर पृ० ४९ में कुछ महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। इस ग्रंथ से एक उद्धरण देना उपयुक्त होगा—

अरब आक्रमण के बाद इस भाषा (पुरानी फार्सी) में लिखना सरकारी आदेश से मना किया गया था। श्रोतृबंद (अनुश्रुति परम्परा) में २५ वर्ष का एक नौजवान अब्बास किसी प्रकार का संदेह न करते हुए सामने बढ़ा और उसी समय ख़लीफ़ा मामून की प्रशंसा में उसने एक कसीदा गा कर बतलाया। मामून ने तुरंत ही उसके शिरच्छेद का आदेश दे दिया। ख़लीफ़ा को डर था कि एक गुलाम राष्ट्र के नौजवान द्वारा एक परित्यक्ता भाषा में कवित्व करने से गुलाम प्रजा की राष्ट्रवृत्ति सचेत हो उठेगी और वह विजेताओं के लिए संकट लाएगी। —पृ० ४९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"रायल एसियाटिक सोसाइटी" की स्थापना के साथ यूरोपियों में भारतीय साहित्य एवं भारतीय संस्कृति का अध्ययन लोकप्रिय होने लगा था। इस झुकाव के कारण अधिकांश यूरोपीय विद्वान भारत की सांस्कृतिक श्रेष्ठता से अभिभूत होने लगे थे। ये लक्षण अँग्रेज जाति की राजनैतिक महत्वाकांक्षा की दृष्टि से उत्साह जनक नहीं थे। उपनिवेशवादी दृष्टि से अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के पश्चात् भी अँग्रेज जाति भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता के गीत गाने लगे, यह बात मैकाले जैसे व्यक्ति को सहन नहीं हो रही थी। भारतीय साहित्य में सुरुचि पूर्णता और वैज्ञानिकता का दर्शन करनेवाले इस युग के कतिपय 'मिशनर्स' के विचारों की तुलना मुस्लिम काल के सूफ़ी संतों, सूफ़ी कवियों तथा अकबर एवं दारा शुकोह जैसे उदार बादशाहों से की जा सकती है।[1]

मैकाले जैसे कट्टर ईसाई एवं इतिहास-वेत्ता[2] राजनीतिज्ञ को यह बात निहायत नापसंद थी। ट्रैविलियन की पुस्तक में इसी संदर्भ को लक्ष्य करके जो टिप्पणी की गई है, उसके अवलोकन की आवश्यकता है। वह लिखता है कि—"Macaulay reversed in his own case the experience of those countless writers on Indian themes who have successively blunted their pens against the passive indifferencc of the British public . . .. भारतीय-संस्कृति के प्रति यूरोपियों के बढ़ते हुए अनुराग की मानसिक प्रक्रिया को उलटना मैकाले के सम्मुख सर्वप्रमुख समस्या थी। चतुर मैकाले की आकांक्षा का प्रमाण उपरोक्त शब्दों में पूर्णतया मुखर एवं सुस्पष्ट है।

राजनीति एवं इतिहास के अध्ययन में किसी कवि अथवा किसी लेखक की परिस्थिति एवं प्रयोजन की शोध करके उसकी भाषा की व्याख्या करने से वस्तुस्थिति

---

१. कट्टर उल्माओं ने अकबर को इस्लाम धर्म से च्युत सिद्ध करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। उसी के समय में विद्यमान इतिहासकार "बदायूनी" ने अपने ग्रंथ में अकबर की खूब टीका-टिप्पणी की है। "आईन-इ-अकबरी" प्रथम भाग में ग्रंथ के अनुवादक H. Blochmann ने बदायूनी के विचारों को पृ० १८८ में उद्धृत किया है। औरंगजेब के पिट्ठू सभी इतिहास लेखक दारा पर "काफिर" (हिन्दू ?) हो जाने का आरोप लगाते रहे हैं। इसी धर्म-भ्रष्टता के कारण उससे साम्राज्य छीन कर उसकी हत्या को न्यायोचित कहा गया था। कुछ नए इतिहासकार इसी तथ्य की लीपापोती करने की बौद्धिक प्रतिबद्धता को ही इतिहास की नई व्याख्या बताकर उसके लिए नया जामा सिलने में जुटे हुए हैं।

२. ईसाइयत के जोश में मैकाले ने अपने शिक्षा-प्रस्ताव में संस्कृत भाषा की साहित्य-संपति तथा उसमें निहित धार्मिक विश्वासों पर कीचड़ उछालने में कसर नहीं रखी। वह लिखता है कि—We are to teach it (Sanskrit) because it is fruitful of monstrous superstitions. We are to teach false history, false astronomy, false medicine, because we find them in company with a false religion—Vol. I P. 115

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का बोध होता है। उक्त विषयों में शब्दों के अभिधेयार्थ की अपेक्षा गूढ़ार्थ का ही विशेष महत्व हुआ करता है। सत्य तो यह है कि राजनैतिक प्रसंगों में अभिधेयार्थ राजनीतिक मन्तव्य को छल के आवरण में ही ढकने का काम करता है। जब कृष्ण और युधिष्ठिर जैसे महापुरुष राजनैतिक प्रसंगों में भाषा के साथ आँख मिचौनी खेल सकते हैं, तब साधारण राजनीतिज्ञ क्या नहीं कर सकता? इसीलिए राजनैतिक जनों के मंतव्य सांकेतिक रूप में ही उनकी भाषा में व्यंजित होते हैं। यदि राजनैतिक शब्दावली एवं वाक्यावली को उनके लेखन काल के घटना-संदर्भों में रखकर पढ़ा जाय, तो व्यंग्य-ध्वनि अभिधेयार्थ के ही समान स्पष्ट हो सकती है।

भारत में भारतीय प्रेस की स्वतंत्रता के प्रश्न पर मैकाले ने जो विचार व्यक्त किए हैं, उनके माध्यम से मैकाले की कूटनीतिक गूढ़ता एवं उसके राजनैतिक प्रयोजनों पर समुचित प्रकाश पड़ता है। मैकाले ने अपने एक व्यक्तिगत पत्र में लिखा था कि "It has always been the practice of political rulers to disguise their arbitrary measures under popular forms and names. The conduct of the Indian Government, with respect to the press has been altogether at variance with this trite and obvious maxim.

इसी पत्र में मैकाले ने यह भी स्पष्ट किया है कि भाषा के छल से ही राजनीति में सिद्धि मिलती है—"The question before us is not whether the press shall be free, but whether being free, it shall be called free. It is surely mere madness in a Government to make itself unpopular for nothing, to be indulgent and yet to disguise indulgence under such outward forms as bring on it the reproach of tyrany."

—लाइफ एण्ड लेटर्स, पृ० २८२-८३

किसी भी राजप्रमुख के लिए अपने वास्तविक मन्तव्य को अप्रगट रखना राजनीति का सर्वकालीन धर्म रहा है। बार्हस्पत्य तंत्र, शुक्रनीति आदि ग्रंथों में इस आशय की अनेक उक्तियाँ मिलती हैं। चित्रकूट में भरत को राज-धर्म की शिक्षा देते हुए भगवान राम का कथन भी इसी गूढ़ रहस्य की ओर इंगित करता है—

"राजनीति सरबस इतनोई,
जिमि मन-माँझ मनोरथ गोई।"

मानस में ही तुलसी दास ने राजा प्रतापभानु की कथा-प्रसंग में इस मूल मंत्र को प्रकारान्तर से इस रूप में कहा है—

"जोग, जुगुति, तप, मंत्र-प्रभाऊ
फलै तबै जब करिय दुराऊ।"

अतः मैकाले को किसी भी दृष्टि से दोषी ठहराना व्यर्थ होगा। दोष तो भारतीयों का है, जो उसके मूल मन्तव्य को न समझकर स्वयं उसके जाल में

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फँसे ही नहीं बल्कि उस जाल में दीर्घ काल तक बने रहने के कारण उसके इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि उससे बाहर निकलने की कल्पना से भी भयभीत हैं।

☐ ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का भाषा की स्वतंत्र-चेता प्रकृति से आशंकित होना स्वाभाविक था :

प्रस्तुत प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि रीतिकाल के भाषा-कवियों ने राजनैतिक परिप्रेक्ष्य में अपनी विवेक-दृष्टि को धुंधला नहीं होने दिया था। उन्होंने फ़ारसी भाषा का न कभी विरोध किया न बहिष्कार। तथ्य तो यह है कि इस युग का हर समर्थ भाषा-कवि यथाशक्ति संस्कृत एवं फ़ारसी आदि भाषाओं का अध्ययन अवश्य ही करलेता था। यही नहीं समयानुसार भाषा-कवियों ने निष्ठा के साथ फ़ारसी को गले लगाकर उसके साथ आदान-प्रदान भी किया है।[१] इतना अवश्य है कि साहित्यिक आदान-प्रदान समानता के स्तर ही संपन्न हुआ था। मैकाले की गूढ़ दृष्टि से पल्लवित अँग्रेजी भाषा ने जिस रूप में आधुनिक खड़ी बोली

---

१. अब्दुल रहीम खान खाना के आश्रित 'कौसरी' नामक फारसी कवि ने स्पष्ट लिखा है कि भारत आने पर उसे काव्य-कला की एक नई शैली का ज्ञान हुआ है—

वतरजे ताजा मद्दे तो आशना गरदीद।
चोर वीं खूब के या बदजमा शतह ज़ेवर॥
—पोएट्री इन मुग़ल कोर्ट : अब्दुलग़नी पर्शियन पृ० २२३–२४

फारसी भाषा में ब्रज भाषा मिलाकर रचना करनेवालों में 'अमीर खुशरो' को प्रमुख माना जाता है, तो ब्रज भाषा में फारसी चरणों को मिलानेवालों में नरहरि का नाम सबसे पुराना है। बिहारी के दोहों में फारसी भाषा के शेरों का वज़न विद्यमान है। स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के अध्ययन का अन्य भाषाओं की समानान्तर सामग्री के आधार पर मार्ग प्रशस्त किया है। डॉ० हरवंश लाल शर्मा ने 'बिहारी और उनका काव्य' ग्रंथ के पृष्ठ ७४ में ठीक ही स्वीकार किया है कि उन्होंने फारसी साहित्य के प्रभाव को भारतीय रंग में रंग कर ही ग्रहण किया है। इसी दृष्टि से द्वितीया के चन्द्रमा पर दोनों भाषाओं की उक्तियों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। यदि नूरजहाँ के लिए चन्द्रमा मयखाने की चाभी है, तो बिहारी के लिए सहेट का निमंत्रण पत्र है।

जहाँगीर की उक्ति—हिलाले इर्द वर औजे फलक हवेदा शुद।
नूरजहाँ ने पूर्ति की—कलीदे मैं कदा गुम गश्ताबूद पैदा शुद॥

नायक की दूती नायिका को सहेट पहुँचने के भूले हुए वायदे को याद कराने के लिए इस प्रकार कहती है—

द्वैज-सुधा-दीधति कला, वह लखि, दीठि लगाइ।
मनौ अकास अगस्तिया, एकै कली लखाइ॥ —९२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की साहित्य-चेतना को अपना पुछल्ला बनाने में सफलता प्राप्त की है, वह स्थिति रीति-काल के कवियों के समक्ष नहीं हो सकी थी। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि फ़ारसी भाषा, संस्कृति एवं भारतीय भाषा-संस्कृति के बीच अँग्रेजी की अपेक्षा स्वाभाविक निकटता विद्यमान थी। दोनों के मध्य दीर्घकाल से आपसी सम्बन्ध एक ऐतिहासिक वस्तुस्थिति के रुप में बने रहे हैं। इस तथ्य के वावजूद वर्तमान युग की स्थिति के विपरीत रीतिकालीन भाषा-कवियों ने हर दिशा में अपनी स्वतंत्र भाव-चेनना का प्रमाण निबद्ध किया है। कम्पनी सरकार के समक्ष भाषा साहित्य का यह गौरव शाली इतिहास स्पष्ट रूप में विद्यमान था। इसीलिए इस सजीव साहित्य-भाषा का गला घोटने के लिए ब्रिटिश शिक्षा नीति का प्रणयन किया गया था। मैकाले एवं प्रिंसेप दोनों शिक्षा-शास्त्रियों के प्रारूपों में उद्देश्य की विलक्षण मैत्री विद्यमान थी। इस तथ्य को मैकाले के प्रस्ताव में ही स्पष्ट रूप से पढ़ा जा सकता है। दोनों ने ब्रज भाषा को पूरी तरह से उपेक्षित किया था।

राजनैतिक प्रयोजनों की दृष्टि से विचार करने पर भाषा की उपेक्षा का एक अन्य कारण यह प्रतीत होता है कि जो क्षेत्र भाषा-काव्य के गढ़ थे, उनमें अँग्रेजों के के राज्य विस्तार के कारण व्यापक विक्षोभ फैल रहा था। अँग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंकने की अभिलाषा इस भाषा-भाषी क्षेत्र (मध्यदेश)[1] में कुकूलाग्नि (धान की भूसी के भीतर की आग) की तरह सुलग रही थी।

☐ १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध का एक ऐतिहासिक दस्तावेज कविवर पद्माकर का कवित्त :

उपरोक्त कथन के प्रमाण रूप में कविवर पद्माकर का एक छंद उद्धृत किया जा रहा है। यह छंद आलोच्य युग की जन-भावना को मुखरित करने में पूर्ण रूप से सफल हुआ है। छंद का आशय यह है कि इस दुर्दिन में भी भारतवासियों को हतोत्साहित नहीं होना चाहिए। कवि श्रोताओं को बताता है कि इस गाढ़े समय में भी एक ऐसा माई का लाल मौजूद है, जो फिरंगियों के हाथ से सत्ता छीन कर कश्मीर से लेकर कोरो मंडल एवं पश्चिमी घाट के समुद्र-तटों को स्पर्श करनेवाली भारत वसुंधरा की विस्तृत सीमाओं को विदेशियों के अधिकार से स्वतंत्र कराने में सफल हो सकता है। छंद में जिस व्यक्ति की ओर इंगित किया गया है, वह व्यक्ति है—ग्वालियर का दौलतराव सिंधिया। दौलतराव का शासन-काल सन् १७९४ से १८२७ ई०

१. मध्यदेश की संकल्पना रीतिकाल में विद्यमान थी, इसे मैंने अपने शोध प्रबंध "भगवंतराय खीची और उनके मंडल के कवि" में स्पष्ट किया है। इस काल के इतिहास के विशेषज्ञों ने सिर्फ फ़ारसी और अँग्रेजी ग्रंथों को ही आधार-सामग्री के रूप में ग्रहण किया है। अतः वे इस 'संकल्पना' से प्रायः अपरिचित रह गए हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तक था। इसी सामन्त की प्रशस्ति में कहा गया पद्माकर का कबित्त तद् युगीन जन-आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति प्रदान करने में सफल हुआ है। उचित इतिहास-संदर्भ का सहारा लिए बिना इस छंद का अर्थ नहीं स्पष्ट हो सकता—

मीनागढ़, मुंबई, सुमंद करि मंदराज,
बंदर कौं बंद करि, बंदर बसावैगो ॥
कहै पद्माकर, कटा कै कासमीर हू कौ,
पिंजर सो घेरि कै, कलिंजर छुड़ावैगो ॥
बांका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं,
साजि दल दपटि फिरंगिन दबावैगो ॥
दिल्ली दहपट्टि, पटना हू को झपट्टि करि,
कबहुंक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो ॥

उक्त कबित्त समकालीन इतिहास के मर्म-विश्लेषण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इतना अवश्य है कि भाव-विभाव एवं संचारी-व्यभिचारी की ही खोज में माथा पच्ची करनेवाले आलोचकों को कबित्त में आप्लावित इतिहास-बोध का आस्वादन नहीं हो सका है। इसी प्रकार साहित्य-स्रोतों का उपहासवत उपयोग करने वाले इतिहासकारों को भी छंद में निहित जन-चेतना के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं हुआ है। इस वस्तुस्थिति में उद्धृत छंद का अर्थोद्घाटन कर लेना प्रासांगिक होगा। 'अर्थ' भाषा का सर्व प्रमुख तत्व होता है। इसीलिए काव्य की रसानुभूति एवं काव्य की आलोचना इत्यादि करने का प्रश्न अर्थ-ज्ञान के उपरांत ही प्रारंभ होता है। भारतीय आलोचना टीका और व्याख्या मूलक थी। अँग्रेजों से मिली आलोचना-पद्धति ने इस परम्परा से विमुखता को खूब बढ़ावा दिया है। ब्रज भाषा काव्य परम्परा में अर्थ-तत्व की[1] रंचमात्र भी उपेक्षा नहीं हो सकती थी। किसी कवि को सबसे पहले अपने अर्थ-ज्ञान की ही परीक्षा देनी होती थी, किन्तु आधुनिक आलोचना-पद्धति ने इस तत्व की उपेक्षा करने की ऐसी बीमारी उत्पन्न कर दी है कि कुछ ही दिनों में अपभ्रंश एवं पाली आदि भाषाओं की तरह ब्रज भाषा का समस्त काव्य-साहित्य भी मुख्य धारा से अलग एक छूटे हुए दीप में बदल जाएगा।

छंद की भाव-परिणति उसके अंतिम चरण में हुई है। तदनुसार कवि-वाणी

---

१. संस्कृत परम्परा में अनर्थज्ञ को सभा में कविता पाठ तक का अधिकार देने में संकोच किया जाता था—

गीता शीघ्री शिरः कम्पी तथा लिखित पाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च, षडेते पाठकाधमाः ॥
—सर्व सम्मत शिक्षा श्लोक, सं० ३६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में यह आशा प्रकट की गई है कि किसी दिन दौलतराव कलकत्ता को राजधानी बनाकर भारत में शासन करनेवाले फिरंगियों को अवश्य ही पराजित कर देगा। कवि-कथन के संदर्भ में प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि इस कथन में कवि-कल्पना और ऐतिहासिक वस्तुस्थिति का क्या अनुपात है ? आज ही नहीं, उस युग में भी सामान्य जन के मन और मस्तिष्क में इस कथन पर सहज आशंका हुई होगी। फिरंगी समुद्र पर अधिकार करके उसके एक छत्र नियंता बन गए थे। उनकी जल-शक्ति ही उनकी सैनिक श्रेष्ठता एवं आर्थिक संपन्नता का आधार थी। कवित्त के पहले चरण में इसी शंका का समाधान करने के लिए कहा गया है कि मीनागढ़ एवं बम्बई आदि बंदरगाहों में स्थापित यूरोपीय सैनिक एवं व्यापारिक ठिकानों से बन्दर रूपी फिरंगियों (लाल मुँह) को विनष्ट करके अर्थात् उनके भारत आगमन पर प्रतिबंध लगाकर नए सिरे से तथा नए रूपों में भारतीय वंदरों (वंदरगाहों) को वसाया जायगा। यमक की चमत्कार-छटा में समकालीन जन की मुहावरेदार भाषा में उसकी राजनैतिक आकांक्षा को वाणी-वद्ध करने में कवि को उल्लेखनीय सफलता मिली है।

चर्चित छंद में प्रयुक्त स्थानवाची शब्द वम्वई, कलकत्ता, कालिंजर, दिल्ली एवं पटना तथा देश (प्रान्त) वाची शब्द कश्मीर की स्थिति सर्व विदित है। इन शब्दों के माध्यम से कवि और उसके नायक दौलतराव के मन में विद्यमान भारत की भौगोलिक इकाई का चित्र स्वयमेव अंकित हो जाता है। पद्माकर के कवित्त में प्रयुक्त 'मीनागढ़' एवं 'मंदराज' शब्द ऐसे हैं, जो पाठक को अर्थ क्लिष्टता के फेर में डाल देते हैं। वास्तविकता यह है कि काव्याग्रह के कारण इन शब्दों के मूल रूप में किंचित परिवर्तन हो गया है। इतिहास-ज्ञान के प्रति प्रकट होनेवाली सहज उदासीनता के कारण ही इन शब्दों की अर्थ-संगति स्थापित करने की दशा में उचित ध्यान नहीं दिया गया। इसी लिए इन शब्दों में छिपी हुई इतिहासात्मकता को उसके सम्यक परिप्रेक्ष्य में लक्षित नहीं किया जा सका है।

'मीनागढ़' मछली पट्टन बन्दरगाह का पर्यावाची शब्द है। इंपीरियल गजेटियर भाग १७ पृ० सं० २१५-१७ में इस बन्दरगाह का विशेष विवरण उपलब्ध होता है। कविवर पद्माकर के समय में कोरोमंडल (पूर्वीघाट) में कृष्णा नदी के मुहाने पर स्थिति इस बन्दरगाह का विशेष महत्व था। कलकत्ता एवं मद्रास की रक्षा के लिए यहाँ की जल सेना से उपराला[१] किया जा सकता था। डच, अँग्रेज तथा तथा फ्रांसीसियों ने सत्रहवीं शताब्दी के पहले दशक के आस पास से ही इस स्थान का सैनिक एवं व्यापारिक महत्व समझ लिया था। अट्ठारहवीं शताब्दी में अँग्रेजों

१: घेरा डालनेवाली शत्रु-सेना पर घेरा डालना अथवा उस पर बाह्य वृत्त से आक्रमण करने की युद्ध-शैली को 'उपराला' करना कहा जाता है। लाल कवि ने लिखा है—

'उपराला करि सक्यो न कोई, संकित भयो लतीफ गढ़ोई'। —छत्र प्रकास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एवं फ्रांसीसियों के बीच हुए सैनिक संघर्षों में 'मीनागढ़' का विशेष महत्व रहा है। मीनागढ़ (मछली पट्टन) की सैनिक छावनी का महत्व इस कवित्त की रचना के बहुत बाद सर्व प्रथम १८३४ ई० में न्यून किया गया था। १८६४ ई० में यह स्थान ऐसे समुद्री तूफान की चपेट में आ गया कि समुद्र तट पर बना ब्रिटिश सैनिक-दुर्ग भी समुद्र की लहरों में डूब गया। यूरोपियों के समस्त व्यापारिक प्रतिष्ठान ढह गए एवं नगर उजड़ गया। अतः स्पष्ट है कि पद्माकर के समय में निर्विवाद रूप से यह नगर बंबई के ही समान महत्वपूर्ण था। पश्चिम में बम्बई, पूर्व में मीनागढ़ का उल्लेख भौगोलिक सीमा को संतुलित ढंग से व्यक्त करने की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। दूसरा शब्द 'मन्दराज' पहले शब्द की अपेक्षा अधिक जटिल है। मन्दर+राज इन दो शब्दों की संधि से बने 'मन्दरराज' शब्द को ही छन्दाग्रह से 'मन्दराज' बना लिया गया है। इस शब्द में कवि हृदय का मूल भाव यह है कि जिस प्रकार 'मन्दराचल' पर्वत की मथानी बनाकर देवता और असुरों ने समुद्र का मंथन किया एवं उसके चौदह अमूल्य रत्नों का दोहन कर लिया, उसी प्रकार फिरंगी भी अपने सुदृढ़ एवं पर्वताकार जल-पोतों से सागर का मंथन करके लक्ष्मी का दोहन करने में सफल हो गए हैं। रूपकातिशयोक्ति अलंकार के प्रयोग द्वारा एक ही शब्द में एक लंबी पौराणिक कथा को लक्षित कर दिया गया है। कवि आशा प्रकट करता है कि महाराज दौलत-राव सिंधिया इन विशाल एवं दुर्जेय जलयानों को मंद (निस्तेज एवं पराजित) करने में अवश्य ही सफल मनोरथ होगा।

ऐतिहासिक दृष्टि से अब यह प्रश्न उपस्थिति होता है कि प्रस्तुत छंद किस अवसर पर लिखा गया होगा? पद्माकर ने स्वयं इस कवित्त में रचना-तिथि का उल्लेख नहीं किया है। किसी छंद विशेष में उसकी रचना-तिथि लिखने का चलन भी नहीं था। अतः इस प्रश्न के समाधान के लिए दौलतराव सिंधिया के इतिहास पर दृष्टि डालना आवश्यक हो गया है।

सन् १८०२ ई० में पूना के पेशवा ने सैनिक पराजय के उपरान्त बेसीन नामक स्थान पर अँग्रजों के साथ संधि कर ली थी। दौलतराव ने इस संधि पर हस्ताक्षर नहीं किए। उसे अँग्रेजों की राजनैतिक एवं सैनिक श्रेष्ठता अमान्य थी। फलतः अँग्रेजों ने दौलतराव पर घेरा डाल कर उस पर चौतरफा आक्रमण कर दिया। दुर्भाग्य से सिंधिया की सेनाओं को एक के बाद दूसरी पराजय का मुँह देखना पड़ा। राजधानी ग्वालियर का सुदृढ़ दुर्ग भी सिंधिया के हाथ से छिन गया। अतः इस विषम परिस्थिति में दौलतराव को भी पेशवाओं के समान सुर्जी अर्जुन गाँव में अँग्रेजों के साथ संधि करने के लिए विवश होना पड़ा। दौलतराव सिंधिया के व्यक्तित्व के इसी परिप्रेक्ष्य में पद्माकर की कविता का अर्थ स्पष्ट हो सकता है।

दौलतराव सिंधिया के अन्तःकरण में अँग्रेजों से अपना खोया हुआ राज्य वापस लेने की भावना स्वाभाविक रूप से विद्यमान रही होगी। इसके लिए उसके

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आशावान बने रहने के कुछ कारण भी हैं। सिंधिया की प्रजा कंपनी सरकार के विरुद्ध निरंतर संघर्ष कर रही थी। जनता और सैनिकों के समर्थन के साथ भारत के राजनैतिक क्षितिज में उदित होनेवाली सिक्खों की राजनैतिक शक्ति के साथ भी सिंधिया के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे।[1] सन् १८०५ ई० में इन्दौर एवं भरतपुर के युद्धों में पराजित होने के पश्चात् होल्कर हज़ारों की सख्या में मराठा-सैनिकों सहित रणजीत सिंह के यहाँ राजनैतिक शरण लेने के लिए भटकता रहा था। इसके उपरांत १८१७ ई० में नागपुर के अप्पा साहब भोंसले सीतलवाड़ी के युद्ध में पराजित होने के उपरांत राजनैतिक शरण लेने के लिए लाहौर में सिक्खों के पास गया था। रणजीत सिंह के यहाँ से वह सकुशल जोधपुर के राजा मानसिंह के यहाँ चला गया, जहाँ उक्त राजा ने जीवन पर्यन्त अप्पा साहेब को अपने यहाँ सम्मान के साथ रखा था। मानसिंह राठौर ने भौंसले को आश्वस्त करने में जो भावना दर्शायी थी, उसे किसी ब्रजभाषा कवि ने उसी समय इसप्रकार काव्य बद्ध किया था—

आए हो शरण जान मान कमधेस मोकों,
मानत हौं धन्य धन्य ऐसे अवसर मैं।
लोक बीच याही काज बाजत हैं छत्री हम,
याते अब सफल करेंगे भुजवर मैं।
नागपुर-नाथ, जिन आपको अनाथ जान्यौ,
रावरे निमित्त कर दीनो सिरधर मैं।
राखिहौं सजल यौं सुरेश सो बचाय कर,
राख्यो हिमगिर पुत्र, सिंधु ज्यों उदर मैं।

—हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमैंट आफ मध्य प्रदेश, पृ० १६

इतिहास के तथ्यों से यही प्रकट होता है कि १६ शताब्दी के प्रारम्भ-काल से ही भारतीय सामन्तों में यह भावना सुदृढ़ होने लगी थी कि अँग्रेजों के साथ हम एक

१. ११ सितंबर १८०३ ई० में दिल्ली में यमुना नदी के बाएँ तट पर स्थित पटपर गंज के मैदान में सिंधिया एवं अँग्रेज जनरल लार्ड लेक का युद्ध हुआ था। इस युद्ध में पाँच हजार सिक्ख घुड़सवार सिंधिया की हरावल सेना के बाएँ पक्ष में नियुक्त थे। इस युद्ध में पराजय का मुख्य कारण यह था कि सिंधिया के बहुत से यूरोपीय एवं मुसलमान तोपची अँग्रेजों के साथ मिल गए थे। अँग्रेजों ने इन लोगों को पुरस्कार स्वरूप दिल्ली-हरियाना क्षेत्र में बड़ी-बड़ी जागीरें प्रदान की थीं। (देहली पास्ट एण्ड प्रैजेंट ग्रंथ में ब्रिटिश मेजर थार्नस के युद्ध-संस्मरणों में दिए गए मान-चित्र को उक्त पुस्तक में उद्धृत किया गया है।) सिक्ख इस युद्ध के बाद भी अँग्रेजों से कई वर्षों तक संघर्ष करते रहे हैं। इसी युद्ध के बाद से रणजीत सिंह ने अपनी सेनाओं को आग्नेयास्त्रों से सुसज्जित करने की ओर विशेष ध्यान दिया था। अतः इतिहास के इन तथ्यों के साक्ष्य में हम कह सकते हैं कि भाषा का कवि-समुदाय एवं हिन्दी भाषी क्षेत्रों की जनता के हृदय में यह आशा विद्यमान थी कि दौलतराव के नेतृत्व में मराठा एवं सिख शक्तियाँ एक साथ खड़ी होकर अँग्रेजों के विरुद्ध सफलता प्राप्त कर सकती हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक करके नहीं लड़ सकते; सुसंगठित रूप से ही विजय प्राप्त कर सकते हैं। पद्माकर के ही समकालीन बुंदेलखण्डी ठाकुर की एक रचना में यह भाव बड़े ही सजीव रूप में गुंजरित किया गया था :

> **चार जने चारहू दिसाते चारों कोने गहि,**
> **मेरु को हलाय कै उखारैं तो उखरि जाय।**

१७वीं शताब्दी में औरंगजेब के शासन-काल में राष्ट्रीय एकता एवं विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध जिस रूप में व्यापक जनान्दोलन प्रारम्भ हुआ था, वह १६वीं शताब्दी के आक्रोश की अपेक्षा व्यापक, दीर्घकालिक और अधिक शक्तिशाली था। उसकी पृष्ठभूमि में विचारकों और देश व्यापी महापुरुषों की प्रेरणा थी, किन्तु वह आन्दोलन भी अपने गन्तव्य तक पहुँचने के पहले ही डगमगा गया था। उसकी तुलना में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्रायः हर क्षेत्र में बौने आकार के ही व्यक्तित्व दिखाई पड़ते हैं। इस समय न कोई बड़ा नेता था, न चिंतक, न पाएदार संत और न भूषण जैसा कवि। फिर भी पिछली परम्परा में इतना बल शेष था कि उसने जन-चेतता को आगे धकेलने का काम किया। इसी के प्रभाव स्वरूप भारतीय जनमानस में ब्रिटिश विरोध की भावना भीतर ही भीतर सुलग रही थी। इसीका विस्फोट १८५७ ई० के स्वतन्त्रता-संग्राम के रूप में हुआ था। पद्माकर के इस कवित्त को साक्ष्यवत मानकर कह सकते हैं कि ब्रिटिश साम्राज्य की प्रतिवादी शक्तियों को प्रेरणा प्रदान करनेवाली इतिहास की कड़ी का दस्तावेज उन्होंने कविता में ही लिख दिया है। इतिहास की पथ-निर्देशक शक्तियाँ जन-मानस में अविकल रूप से विद्यमान रहा करती है।[1]

इतिहास-लेखन की समाजवादी मान्यताओं के आधार पर यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि तत्कालीन जमींदार एवं राजा लोग अपने स्वार्थों के लिए ही भाग दौड़ कर रहे थे, सामान्य जन की हित-चिंता से उनका कोई भी संबंध नहीं था। अतः स्वार्थवश भाग दौड़ करनेवालों के प्रति सामान्य जनता की सहानुभूति भी नहीं थी। सच भी है कि ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं, जब किसी सामाजिक मनुष्य ने निर्वैयक्तिक रूप से कुछ भी काम किया हो। मनुष्य की किसी भी क्रिया में उसके अपने हित-अनहित का विचार सदैव ही उपस्थित रहता है। राग-द्वेष से बँधा मनुष्य इस भाव से मुक्त भी किस तरह हो सकता है ?

---

१. सरदार नाहर सिंह ने सिंधिया दौलतराव और सिक्खों के मैत्री काल के इतिहास का विशेष अध्ययन किया है। उनका निश्चित मत है कि अँग्रेजों के विरुद्ध सिक्खों का स्वतंत्रता-संग्राम १८०३ ई० से ही शुरू होता है। १८५७ में सिख फौजों की ब्रिटिश समर्थक भूमिका के कारणों का सही निदान प्रस्तुत करने के लिए समस्या के मूल में प्रवेश करने की आवश्यकता है। जब तक हम संपूर्ण इतिहास की अविकल धारा के प्रवाह में आधुनिक स्वतंत्रता संग्राम को नहीं प्रस्तुत करेंगे, तब तक वह अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं प्राप्त कर सकेगा।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

संयोग से भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में दिग-भ्रम उत्पन्न करनेवालों की शंका-समाधान के लिए प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि दौलतराव सिंधिया के राज्य की जनता ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विरोध करते हुए अनेक प्रकार के बलिदान देने में दीर्घ काल तक संलग्न रही है। इस कथन का प्रमाण तत्कालीन गवर्नर जनरल के सैक्रेटरी द्वारा १८४२ ई० में लिखी चिट्ठी में विद्यमान है।[1]

१८४२ ई० में बुंदेल खण्ड क्षेत्र के अन्तर्गत नर्मदा, सागर, दमोह, नरसिंहपुर एवं जबलपुर क्षेत्रों में व्यापक रूप से बुंदेला ठाकुरों, लोदी किसानों एवं गोंड़ जैसी जन-जातियों ने संगठित रूप से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष किया था। इस संघर्ष के संचालकों ने उक्त क्षेत्र के अनेक भागों में अधिकार करके ब्रिटिश-सत्ता को थोड़े समय के लिए समाप्त कर देने में पूर्ण सफलता प्राप्त की थी। जिन दिनों अँग्रेजी फौजें अफगान-युद्ध में व्यस्त थीं, उन्हीं दिनों विद्रोह करने के फलस्वरूप कई महीनों तक विद्रोहियों को आंशिक रूप से सफलता भी प्राप्त हो सकी थी। इसीलिए हमने सुसंगठित शब्द का प्रयोग किया है। इस विद्रोह के कारणों पर टिप्पणी करते हुए गवर्नर जनरल के उक्त सैक्रेटरी ने जो टिप्पणी लिखी थी, उससे ग्वालियर क्षेत्र की जनता द्वारा छेड़े गए अविराम संघर्षों का अनुमान किया जा सकता है—

It is probable, they (the Bundela's) have been executed by the arrests during the past and preceding year, a number of their relatives for acts of rebellion committed in Scindias territory.''—April 1842.

—दि० हि० आफ फ्रीडम मूवमेंट इन मध्य प्रदेश, पृ० ३४

प्रस्तुत टिप्पणी के आधार पर कहा जा सकता है कि सिंधिया के राज्य-क्षेत्र (बुंदेल खंड) के बलिदानी विद्रोहियों की भावना को उक्त कवित्त में पद्माकर ने अमर कर दिया है। इतिहास की अंतर्धाराओं को साहित्य के माध्यम से ही खोजा जाता है। आलीजाह प्रकाश (खंडित रचना, १८२२ ई० के आस-पास) संग्रह के तैयार होने के पूर्व दौलतराव की प्रशस्ति में कवि द्वारा विद्रोहियों एवं सिंधिया के सैनिकों को उत्साहित करने के लिए ही छंद का निर्माण हुआ होगा।

---

१. दौलतराव का राज्य-क्षेत्र—बुन्देल खंड—बाबर के समय से अनवरत रूप में मुग़लकाल में अपनी अस्मिता के लिए रक्त बहाता रहा है। सत्ता के साथ संघर्ष करनेवाली जनता में सभी जातियाँ और सभी वर्गों के लोग सम्मिलित थे। इसका भी प्रमाण है—

दिल में डरन लागे चारो बर्न ताही समै
शिवाजी न होतो तो सुनति होती सबकी।

श्री गुरु गोविन्दसिंह जी ने भी कहा है—

इनहीं (समाज का पिछड़ा वर्ग) की कृपा से सजे हम हैं,
नहि मोसम और गरीब है कोई। इत्यादि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतिकाल की परम्परा को दृष्टि में रखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत छंद दौलतराव द्वारा आयोजित किसी कवि दरबार में समस्यापूर्ति के रूप में ही लिखा गया होगा। छंद का अंतिम चरण समस्या के रूप में दिया गया अंश प्रतीत होता है। इस समस्या को कितने ही व्रज भाषा कवियों ने अपने-अपने ढंग से पूरा किया होगा। आज हम इसका अनुमान मात्र ही कर सकते हैं। 'द्विजेश दर्शन' नामक रचना की भूमिका में पं० श्री नारायण चतुर्वेदी की साक्षी के आधार से विदित होता है कि १६४० ई० के आस-पास व्रज मण्डल से दूर वस्ती जिले जैसी छोटी जगह में भी व्रजभाषा कवि श्री बलराम प्रसाद मिश्र 'द्विजेश' जी द्वारा आयोजित एक कवि दरबार में पचास से अधिक (चालीस) व्रजभाषा कवि एकत्र हो गए थे। इस तथ्य को द्विजेश जीके काव्य-संग्रह की भूमिका में उल्लिखित किया गया है। इसी तरह कृष्ण कवि से हमें ज्ञात हुआ है कि छतरपुर के निकट नौगांव छावनी में ब्रिटिश शासन-काल (लगभग १६३८ ई०) में किसी पोलिटिकल एजैण्ट के स्वागत में बुंदेलखण्ड के तत्कालीन राजाओं ने नौगाँव में एक कवि दरबार का आयोजन किया था। उक्त दरबार में पूर्ति हेतु दी गई समस्या 'बोरे देत' की[1] पूर्तियाँ पाँच दिन तक निरंतर चलती रहीं। ध्यान रहे कि ऐसे अवसरों पर की जानेवाली पूर्तियों में एक ही दो छंद ऐसे निकलते थे, जो काल की छाती पर पाँव रखते हुए अपनी जिजीविषा का साक्ष्य दे पाते थे। अतः पद्माकर कालीन विद्रोह चेतना पर 'प्रमाण-न्यूनता' का दोष लगाना भाषा-काव्य के परम्परा-बोध की अवज्ञा मानी जाएगी।

जिस हिन्दी-भाषी क्षेत्र में भाषा-काव्य का स्वर गुंजरित हो रहा था, उस क्षेत्र विशेष में अँग्रेजी भाषा, अँग्रेज जाति के आचार-विचार एवं उनके धर्म आदि के प्रति गहरा असंतोष एवं रोष था। असंतोष और रोष की चिनगारी के कारण जनता के हृदय में सुलगन का धुँआ भी कहीं-कहीं नजर आने लगा था। किसी सहृदय एवं संवेदनशील अँग्रेज कवि ने (अज्ञात, नाम की छाप रचना में नहीं दी गई है) १८३३ ई० के आस-पास अँग्रेजी भाषा में एक लम्बी कविता[2] में भारतीयों के सुलगते हुए हृदयों का वर्णन उपस्थित किया है। सामान्य रूप से भारतीय जन ब्रिटिश साम्राज्य-

---

१. कृष्णकवि की पूर्ति इसप्रकार थी—

दवकि दबोरैं देत छुद्र सर फोरे देत, उदधि हिलोरे देत दिग्गज निघोरे देत।
मेरु गिरि तोरे देत भूमि मित फोरे देत, लंक गढ़ चूर कर नीर में घँघोरे देत॥
भनै कविकृष्ण त्यों त्रिकूटा गढ़ तोरे देत, कोप बढ़ि आवै नव खंड ही बिलोरे देत।
रावन के कंध-भुज पकरि रिछेस कहै, सहित समाज आज बारिधि में बोरे देत॥

२. डॉ० बी० एम० शंखधर ने 'इंडिया' शीर्षक से इस रचना को हाल ही में नई दिल्ली के राजेश प्रकाशन दरियागंज के यहाँ से प्रकाशित कराया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाद के विस्तार के प्रति किस प्रकार की भावनाएँ रखता था और क्या चाह रहा था, इसका प्रमाण उद्धृत कविता में देखा जा सकता है--

We live among them like a walking blight.
Our very name the watchward of atfright.
No sympathy, no pity, no remorse
Our end is profit and our means are force.

भारतीय जन-मानस में उभरता हुआ विक्षोभ अँग्रेज जाति के लिए अत्यन्त भयावह था। यह विक्षोभ रक्त-रंजित क्रांति का संकेत प्रस्तुत कर रहा था। इस आशय का चित्रण भी कवि-वाणी में सुलभ है—

And ever you know what deluge sweeps the ground.
The roaming waves have compassed you around.
I can not but warn you of the fearful flood,
Oh, check it Britain, for its waves are blood.

अँग्रेजों द्वारा संस्थापित किए गए साम्राज्य के प्रति उत्तर भारत के हिन्दी भाषी जनमानस में व्याप्त असंतोष और उसके प्रतिशोध की भावना कितनी उग्र थी, इसे पुष्ट करनेवाले अन्य तथ्य भी परोक्ष रूप से उपलब्ध हैं। भाषा-भाषी क्षेत्रों में अँग्रेजी पढ़ाने के लिए स्थापित किए गए स्कूलों में विद्यार्थी दाखिला नहीं लेते थे। 'आरा' एवं 'छपरा' जिलों की आबादी उस समय पचा-पचास हज़ार थी। किन्तु इन बड़े नगरों में भी अँग्रेजी भाषा की शिक्षा देने के लिए खोले गये स्कूलों को विद्यार्थियों के अभाव में १८४२ ई० में बंद कर देना पड़ा था।[1] कुछ ही दिनों पश्चात् १८५७ में ब्रज-भाषा-काव्य के गढ़ों अर्थात् भाषा-भाषी क्षेत्रों में ही अँग्रेजों की सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए सशस्त्र क्रांति की चेष्टा हुई। इसी विद्रोह को भारत के पहले राष्ट्रीय संग्राम का नाम दिया जाता है। यदि १८५७ के स्वतन्त्रता के प्रमुख स्थलों का भौगोलिक सीमांकन करके रीतिकालीन काव्य कर्ताओं एवं उनको आश्रय प्रदान करने वाले ठाकुरों के ठिकानों को अंकित किया जाय, तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ेगा कि अँग्रेजों के विरुद्ध छेड़े गये संघर्ष की तीव्रता केवल बुन्देल खण्ड, अवध, बिहार (आरा, छपरा) कानपुर और दिल्ली के आस-पास के हिन्दी भाषी मध्य प्रदेश में ही केन्द्रीभूत रही है। यही क्षेत्र ब्रजभाषा कवियों को उत्पन्न और परिपोषित करने में भी अग्रणी रहा है।

---

1. Selections from Educational Records. Part II. (1840—59) में F. Boutros की रपट देखें।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

□ पद्माकर के युग को राष्ट्रीयता की विरासत परम्परा से मिली थी : (क) अमीर खुशरो :

कविवर पद्माकर ने दौलत राव सिंधिया की प्रशस्ति में ब्रिटिश साम्राज्य विरोधी जिस राष्ट्रीय चेतना को लक्ष्य किया है, वह चेतना रीतिकाल में लिखी गई कविता की निजी विशेषता है। कहा जा चुका है कि संतों एवं भक्तों ने इस चेतना की जड़ों को पुष्ट करने के लिए अत्यंत युक्ति पूर्वक अपनी वाणियों के थाले बनाए थे। संसार के अन्य देशों की तुलना में भारत-भूमि कितनी श्रेष्ठ है, इसको भारत में रहनेवाले हिन्दू एवं मुसलमान दोनों वर्गों के लोग समान रूप से स्वीकार करते थे। सूफी कवि अमीर खुशरो की रचनाओं में भारत की धरती के प्रति व्यंजित उनका प्रेम कितना प्रगाढ़ है, यह उन्हीं के शब्दों में व्यक्त करना उचित होगा—

'खुरासान की सुन्दरताएँ श्वेत और लाल हो सकती हैं, परन्तु अपने देश के पुष्पों की भाँति वे सुगन्धिपूर्ण नहीं हैं। जहाँ तक रूस और तुर्की के सौन्दर्य का सम्बन्ध है, उनमें कोमलता और दीनता का अभाव है। वे वर्फ के ढेरों के समान श्वेत और ठण्डे हैं, जिससे नरक तक भयातुर हो जायेगा। तातार के सौन्दर्य के होठों में मुस्कान नहीं होती और खेतान की सुन्दरता में नमक की कमी है। जहाँ तक समरकन्द और कन्धार के सौन्दर्य का प्रश्न है, उनमें मिठास नहीं है। हिन्दुस्तान की तुलना में तुर्की और मिश्र की चमेली जैसे शरीर की सुन्दरताओं में शिष्टता और चपलता का नितान्त अभाव है।[१]—देवल देवी खिज्रखाँ

देश के प्रति प्रेम-भावना प्रकट होने से ही राष्ट्रीयता की भावना का उत्स फूटता है। किसी देश की मिट्टी, उस मिट्टी में उपजनेवाली वनस्पतियाँ, वनस्पतियों में लगनेवाले फल-फूल तथा इनके बीच में बिहार करनेवाले पशु-पक्षियों के कलरव से पूर्ण हरे-भरे एवं चित्ताकर्षक प्राकृतिक दृश्यों में जब तक किसी का हृदय नहीं रमता, तब तक देश-प्रेम की भावना सिर्फ होठों का ही विषय बन कर रह जाती है। देश विशेष के प्राकृतिक दृश्यों, उस देश के नगरों, पर्वतों, नदियों, सरोवरों एवं सामाजिक रीति-रिवाजों के अतिरिक्त नागरिकों की भाषा तथा इन सब के साथ जुड़ी उनकी संस्कृति आदि तत्वों के अंग रूप में जब कोई व्यक्ति अपनी विशेषता देखने का अभ्यस्त हो जाता है, तभी समान संस्कारोंवाले व्यक्तियों के बीच एक ऐसी एक सूत्रता प्रगट होती है, जो व्यक्तियों को राष्ट्रीय रूप में संगठित करने में सहायक बन जाती है। इन्ही अन्तर्वर्ती सूत्रों की रक्षा और इन के प्रसार के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की स्पृहा द्वारा किसी राष्ट्र के नागरिक अपनी राष्ट्रीयता का आदर्श-प्रस्तुत करते हैं। मेरे विचार में आज की अपेक्षा रीति युग के भारतीयों में यह भाव सूत्र सब प्रकार से जाग्रत अवस्था में था।

---

१. मध्य युगीन भारतीय संस्कृति : डा० यूसुफ हुसैन, पृ० ११७–१८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

डा० युसुफ हुसैन की उक्त पुस्तक में अमीर खुशरो की फ़ारसी भाषा की रचना 'नूह सिपहर' से कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद उद्धृत किया गया है। इन अंशों पर दृष्टिपात करने के उपरांत मानना पड़ता है कि अमीर खुशरों के हृदय में भारत-भूमि के प्रति प्रगाढ़ प्रेम विद्यमान था। यद्यपि अमीर खुशरो के पिता चंगेज खाँ के आतंक के कारण तुर्की से भागकर भारत में आवाद हुए थे, किन्तु महाकवि खुशरो ने **'जहाँ बसै सोइ सुन्दर देसू'** के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार भारत-भूमि को अपना वतन मानकर इस देश को संसार के अन्य सभी देशों से बढ़कर प्यार किया था।

☐ देश की भौगोलिक इकाई का सम्यक बोध :

ब्रिटिश शासन-काल ने जिस भूभाग को राजनैतिक ईकाई के रूप में समेटा एवं जिसके प्रशासन के लिए उन्होंने 'अँग्रेजी' के रूप में एक सम्पर्क भाषा प्रदान की, देश की वह भौगोलिक इकाई रीतिकाल के कवियों के समक्ष किसी न किसी रूप में निरंतर विद्यमान रही है। कवि एवं साहित्यकारों की भाव-चेतना में इस कथन का प्रमाण देखने के लिए देश-भेद के आधार पर किये गये उनके नायिका भेद के वर्णनों में यह तथ्य विद्यमान है।[1] साहित्य में व्यंजित होनेवाले तथ्य इसी रूप में प्रतिबिंबित हो सकते हैं। रीतिकाल के महाकवि देव ने उत्तर में काश्मीर से लेकर दक्षिण में केरल तथा पश्चिम में सौराष्ट्र और सिंध से लेकर पूर्व में आसाम एवं भूटान पर्यन्त फैले प्रदेशों की नायिकाओं के गुण-स्वभाव-वर्णन में इस समस्त क्षेत्र की मूलभूत एकता का ही आलेखन किया है।

ईसा से शताब्दियों पूर्व भारतवर्ष पश्चिम एशिया एवं यूरोप के देशों के बीच व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हो गए थे। सिकन्दर जैसे विश्व-विजेता आक्रमणकारी के अभियान के परिणामस्वरूप ऐसे सम्बन्धों का अधिकाधिक विकास हुआ था। भारत-विषयक जानकारी से अवगत होनेवाले विश्व के महत्वाकांक्षी सैनिक संगठनों एवं उत्साही व्यापारी गुटों ने स्वाभाविक रूप से भिन्न गुण-प्रकृतिवाले इस देश के सीमा-स्वरूप की रूप-रेखा को अपनी कल्पना में अंकित कर लिया था। इस समस्या पर प्रकाश डालनेवाले जिन लेखों एवं मानचित्रों के उल्लेख प्राप्त होते हैं, उनसे यही प्रकट होता है कि 'हिन्दोस्तान' अथवा 'इण्डिया' नाम की सीमा-कल्पना में विदेशी जातियाँ काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक फैले प्रदेश को एक ही इकाई के रूप में ग्रहण करती थीं। "हिन्दू" नाम इन्ही विदेशियों की देन है, जो यहाँ के निवासियों के धर्म-संस्कृति का प्रतीक बन गया। संसार के अन्य देशों से धर्म एवं सांस्कृतिक दृष्टि से इस भूखण्ड के निवासियों की जो निजी विशेषता है,

---

१. महाकवि देव के नायिका भेद में इस दृष्टि का विशेष रूप से पल्लवन हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वहीं यहाँ के निवासियों को अन्य राष्ट्रों से अलग एक पृथक अस्तित्व की स्वीकृति दिलाने में सफल हुई है।

प्राचीन यूनानी एवं अरब नक्शा-नवीसों की चर्चा एवं महाभारत तथा कालिदास के साहित्य में उपलब्ध अन्तर्साक्ष्यों में न उलझ कर प्रसंगानुकूल दिल्ली के सुलतानों एवं बादशाहों के इतिहास में ही सीमित रहना उचित होगा। इन बादशाहों के यहाँ महत्वपूर्ण राजनैतिक पदों पर एशिया के अनेक राष्ट्रों के नागरिक वरीयता पूर्वक नियुक्त किए जाते थे। मुस्लिम धर्मावलम्बी देशों के साथ दिल्ली के बादशाहों के कूटनीतिक सम्बन्ध भी स्थापित थे। राजदूतों के माध्यम से भेंटों एवं उपहारों का सिलसिला भी विद्यमान था। ये सभी देश दिल्लीश्वर को 'हिन्दोस्तान' के बादशाह के रूप में ही जानते-मानते थे।

उक्त तथ्यों से प्रकट होता है कि 'हिन्दोस्तान' शब्द की अवधारणा में व्यक्त होनेवाली भारत की धर्म-संस्कृति पर आधारित मूलभूत एकता से विदेशियों का निकट का परिचय था। इस वस्तुस्थिति के संदर्भ में आलोच्य युग के साहित्य के माध्यम से हिन्दुस्तान की सीमा-रेखा को अवलोकित करने से पुष्ट होता है कि भारत वासियों की अन्तश्चेतना में भारत के विविधता पूर्ण क्षेत्रीय बिखरावों के भीतर ही एकता स्थापित करनेवाले सूत्रों का अवलोकन करने की दिशा में प्रबुद्ध समाज की दृष्टि सजग थी। बाह्य रूप से विविध राजनैतिक खंडों, प्रखंडों, भाषाओं, बोलियों में बँटा हुआ होने पर भी भावना के स्तर पर संपूर्ण देश अखण्ड एवं अविभाज्य एक ही इकाई के रूप में कल्पित किया जाता था। खुरासान से आकर बाबर ने इब्राहीम लोदी एवं मेवाड़ के राणा संग्रामसिंह आदि को पराजित करके जिस भूखण्ड पर अपना आधिपत्य स्थापित किया गया था, उस समस्त क्षत्र के लिए उक्त युग में "हिन्दुस्तान" संज्ञा दी गई थी। गुरु नानक देव ने अनेक ठिकानों से घिरे उस समस्त भूखण्ड के लिए गुरु ग्रंथ साहब में हिन्दुस्तान शब्द का व्यवहार किया है।

"खुरासान खसमाना कीआ, हिन्दुस्तान डराइया।"

—पृ० ४७० तथा ७२२

'भलि भारत-भूमि भले कुल जन्म, समाज सरीर भलो लहि कै' जैसे कथनों से स्पष्ट होता है कि भागवत पुराण में व्यक्त होनेवाली देश-गौरव-की भाव-धारा आलोच्य युग में अविकल रूप से प्रवाहित रही है। "सारे जहाँ से अच्छा" कहने में जो रागात्मकता प्रकट होती है, वह चेतना मूल रूप से भारतीय जीवन-प्रवाह के अंग-संग रही है। इसी देश-प्रेम के कारण इस देश का सामान्य नागरिक किसी अन्य देश में बसने की ओर से प्रायः उदासीन रहा है। शिवाजी के राज्यारोहण के अवसर पर रचीगई समर्थ गुरु रामदास की कविता **"आनन्द बन भुवन"** में भारत का उल्लेख देश के व्यापक स्वरूप की अवधारणा को व्यक्त करने में सक्षम है। समर्थ का कथन है कि

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

छत्रपति शिवाजी के राज्यारोहण से समस्त भारत (केवल महाराष्ट्र नहीं)[१] में आशा एवं आनन्द का संचार हो गया है। वे कहते हैं कि आतंकवादी शासकों का भाग्य-नक्षत्र हिन्दुस्तान के आकाश में अस्त हो रहा है—

बुडाले सर्वही पापी। हिन्दुस्तान बलावलें।
अभक्तांचा क्षयो जाला, आनन्द बन भुवनी। —श्लोक २२

☐ देश की सीमाओं के साथ भावात्मक लगाव :

प्रस्तुत प्रसंग में जिस युग की चर्चा की जा रही है, उस युग में धर्मनिष्ठा एवं देशभक्ति में एक प्रकार की अनुरूपता सी थी। मारवाड़ के चारण कवि रतनू-वीर भाण कृत "राजरूपक" नामक ग्रंथ में हिन्दुस्तान के भौगोलिक स्वरूप को लक्षित करनेवाले संकेतों की उपलब्धि होने के अतिरिक्त उस भूखंड के प्रति कवि-हृदय में प्रस्फुटित भावावेग को भी अवलोकित किया जा सकता है। औरंगजेब ने धर्मान्धता-जन्य अविवेक से समस्त देश के प्रसिद्ध मन्दिरों एवं तीर्थों को नष्ट-भ्रष्ट करना प्रारंभ कर दिया था। बादशाह के इन्हीं कार्यों की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दुओं में एकता का सद्विवेक जाग्रत होने लगा था।[२] किसी विशेष क्षेत्र के हिन्दू मन्दिर को नष्ट किए जाने पर समस्त हिन्दू जाति के हृदय में शाही अनीति के प्रति क्षोभ-पीड़ा होना स्वाभाविक था। बहुसंख्यक हिन्दू समाज यह सोचने के लिए बाध्य हो रहा था कि हम बहुसंख्यक होकर भी अल्पसंख्यकों द्वारा क्यों पद-दलित हो रहे हैं।[३] जनता के सम्मुख इन प्रश्नों के समाधान का एक मात्र यही उपाय दृष्टिगोचर हो रहा था कि हिन्दुस्तान की बादशाहत का तख्त पलटकर राज्य की निरंकुशता को एक जुट होकर समाप्त करने का प्रयत्न किया जाय। मूलतः आत्म-रक्षा की भावना ने ही हिन्दुस्तान

---

१. भूषण का समस्त काव्य इसी मान्यता की ओर संकेत करता है। उद्धृत चरण में हिन्द शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है—

तेरौ करवार भयौ दच्छिन कौं ढाल
भयौ हिन्द को दिवाल, भयौ काल तुरकान कौ। —छं० ६८

२. भूषन कहत सब हिन्दुन के भाग फिरे,
चढ़े तें कुमति चकत्ता किरान सानी में॥—भूषण, छं० १२८

३. जवन जोस वर जोर हैक समतौर हजारां।
हीण सबं हिंदवा, एक सम लेख अपारां॥ —राज रूपक

तथा तुलना कीजिए 'ए न्यू अकाउंट आफ ईस्ट इंडिया एण्ड पर्फ़िया' ले० फ्रायर, प्रथम संस्करण १६९९ ई० पृ० १०९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के विभिन्न क्षेत्रों के निवासियों में राजनैतिक रूप से संगठित होने की प्रवृत्ति का प्रस्फुटन एवं विकास का संपादन किया था—

यों पतसाह जोस अधिकाणौ
पूज सुरां विण वेद प्रमांणौ

(देवताओं की पूजा एवं वेदों
की प्रामाणिकता अमान्य कर दी)

मथुरा अजोध्या ओखा मंडल **(द्वारका)**
एता आदि धाम प्रम उज्जल
सेवक रिख मुनि भगत सन्यासी
अरज करैं हुय दीन उदासी
त्रिभवण नाथ जगत निसतारण
धरन वेद कीजै ध्रू धारण
थे ऊपर धर हिन्दुस्थाण
प्रगट करौ हरि-कथा पुराण
भाई ! सुरा धरम सरसावौ
मेंछ धरम दुर करम मिटावौ

उद्धृत पंक्तियों में स्पष्ट रूप से भारत के विभिन्न भागों में स्थित तीर्थों को विनष्ट किए जाने के परिणाम स्वरूप कवि-हृदय में हुए भावोद्रेक का साक्षात्कार किया जा सकता है। देश एवं देश के निवासियों के प्रति आत्मिक लगाव के विना यह करुणा क्या किसी अन्य रूप में प्रकट हो सकती थी ? हिन्दुस्तान की प्यारी धरती एवं उसकी विशिष्ट धर्म-संस्कृति की रक्षा के लिए कवि रतनू वीर भाण भाव-विभोर होकर ईश्वर से उसके कल्याणार्थ प्रार्थना करता है। राष्ट्रीयता की परिकल्पना में क्या इन तत्वों की उपेक्षा की जाती है ? उद्धृत पंक्तियों में कवि केवल अपने क्षेत्र विशेष (मारवाड़) के उद्धार के लिए ही भगवान से प्रार्थनाशील नहीं हुआ है। भाव-गद् गद् हृदय से कवि संपूर्ण हिन्दू समाज तथा हिन्दू संस्कृति के अधिष्ठान उसके मंदिरों से भरे भारत देश की विस्तृत धरती एवं उसके भौगोलिक स्वरूप को ध्यान में रखकर आत्म निवेदन कर रहा है। इन्हीं विशेषताओं के कारण इस धारा के कवियों में व्यक्त लोक-रक्षण की भावना भक्ति काल के कवियों की आत्म साधना की तुलना में राष्ट्रीय दृष्टि से अधिक विकसित अवस्था का परिचय देती है। इन विशेषताओं की उपेक्षा कर के रीतिकालीन काव्य-धारा के समस्त

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवियों को काव्य-व्यवसायी एवं प्रशस्तिवाचकों की श्रेणी में परिगणित करके हमारे साहित्यालोचकों ने आँख मूँदकर 'सब धान बाइस पसेरी' के हिसाब से तौलकर हिन्दी आलोचना को शून्यवाद के निकट पहुँचा दिया है। वे भूल गए हैं कि तुलसीदास ने 'अलख' की चर्चा को किस तरह हतोत्साहित किया था।

□ छत्रसाल के पिता चंपतराय का वसीयतनामा अर्थात् दैलवारा लेख :

रीतिकालीन साहित्य पर हमारे साहित्यकारों द्वारा लगाए गए भाँति-भाँति के अक्षेपों के कारण इस युग के साहित्य में प्रस्फुटित भारत की राष्ट्रीयता को लक्षित करनेवाले तत्वों का उपेक्षित बना रह जाना स्वाभाविक था। महाराजा छत्रसाल बुंदेला के पिता, चंपतराय बुंदेला ने अंतिमकाल के संघर्षों की अवधि में अत्यंत विश्वस्त मित्र कविराज भानु भट्ट को किसी अनुकूल अवसर पर अपने पुत्र को अपनी अंतिम इच्छा से अवगत कराने का भार सौंपा था। व्यावहारिक भाषा में चंपत राय मौखिक अथवा लिखित रूप से अपने होनहार पुत्र छत्रसाल का मार्ग-दर्शन करने के लिए एक वसीयतनामा छोड़गए थे। यह वसीयतनामा दैलबारा (जिला ललितपुर उ० प्र०) में लिपि-बद्ध किया गया था। इसलिए इसे सबसे पहले प्रकाश में लाने वाले कृष्ण कवि ने 'दैलबारा लेख' नाम दिया है। कृष्ण कवि भी मूल रूप से दैलबारा के ही ब्रह्म भट्ट घराने के हैं। अतः इन लेखों की प्रतिलिपि उन्हें आपेक्षाकृत सुगमता से मिल गई है। प्राप्त लेखों में से कुछ लेखों को कृष्ण कवि ने 'बुन्देलखण्ड के कवि' नामक ग्रंथ में प्रकाशित किया है।[1]

चंपतराय का यह वसीयतनामा भारत की धर्म-निरपेक्ष नीति के साथ पूर्ण संगति स्थापित करता है। प्रस्तुत कथन को स्पष्ट करने के लिए उक्त लेख से कुछ अंश उद्धृत करना प्रासांगिक होगा—

"ऊसे—उनसे (छत्रसाल से) कहने के चारउ वरण से एक-एक दो-दो साहसी वीर असील पुरुष खोज कर लै हैं। वह अपने भारत के वासी होवै चाहै हिन्दू होवै चाहे मुसलमान। रही अपने धर्म को पक्कौ होवैं। और जी के मन में अपने देश को सच्चो गर्व होवै और वादा को सच्चा होवे। लोक परलोक को डरात होवे। उनके साथ करन से कबहूँ तकलीफ नहीं हो सकत हैं।"—पृ० १८२

चम्पतराय की राजनैतिक दूरदर्शिता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि औरंगजेब की गूढ़ राजनीति को मिर्ज़ा राजा जयसिंह आदि की अपेक्षा चंपतराय ने ही सबसे पहले भाँपा था। औरंगजेब की सेनाओं का साथ छोड़कर आगरा से निकल कर बुन्देलखण्ड की धरती में विद्रोह की रणभेरी फूँकनेवाले चंपतराय इतिहास की दृष्टि से औरंगजेब के विरुद्ध संघर्ष छेड़नेवाले पहले विद्रोही हैं। दीर्घकाल तक वीरसिंह देव बुन्देला

---

१. बुंदेल खंड के कवि —कृष्ण कवि, पृ० १७७–२१५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के सान्निध्य एवं संरक्षण में रहने के फलस्वरूप चंपतराय का संपर्क तत्कालीन धर्माचार्यों, महा कवियों, सिद्ध पुरुषों तथा राजनीतिवेत्ता पंडितों के साथ स्थापित था। स्वयं वीरसिंह देव के दरबार में केशवदास, बलभद्र मिश्र एवं मित्र[1] मिश्र जैसे संस्कृत के विद्वानों के साथ समागम करते रहने के फलस्वरूप वीरसिंह देव के प्रमुख सामन्त चम्पतराय की सूझ बूझ में ऐसा निखार आया था कि वह पंडितों को पीछे छोड़कर व्यावहरिकता के धरातल पर बहुत आगे निकल गए थे।[2] दैलवारा लेखों के रूप में चम्पतराय का वही चिंतन उपलब्ध होता है—

"नीति के अंगचार हैं—साम, दाम, दण्ड और भेद किन्तु औरंगजेब ने दण्ड तथा भेद दो ही अपनाये हैं। इकौ यह कारण है कि आलमगीर की कामयाबी भेद से ही भई है। भेद ही से मुराद को मिलाय तथा दारा को जीतवै को हमको बुलावो व सुजा को भगादओ। दिल्ली को तख्त भेद ही से लेकर पिता को बन्दीकर स्वयं मालिक बन बैठो। असल में देखौ जाये तो वह लोक तथा परलोक दोनों से हाथ धौ बैठौ। अन्त में भार परन वै ऊको साथी कोई नहीं हैं। यदि इसकी (?) सन्तान निकम्मी निकरी तो समझ लो कि बादशाहत के भार की पीपर कैसी दशा हू है। रक्षक ही भक्षक तैयार हो जात हैं। ऊकैं तो यह कूटनीति प्यारी है कि काँटे से काँटों इचत है। ई भेद लेकै क्षत्रिय लोगों के लोभ रूपी जंजीर में जकड़ कै अपनो काम बनै रहो है। हमारे घर में हीरा देवी[3] कैं बनाकर शुभकरण को बहादुरी व बड़ी मनसब देकर तथा (?) बड़े वादे

---

१. उक्त ग्रंथ का संपादन पर्वतीय नित्यानन्द शर्मा ने किया था। इसके अन्तर्गत २२ प्रकाश एवं श्लोक संख्या १, ३८, ८१० हैं। सन १९०६ ई० में इसे चौखम्बा संस्कृत सीरीज (१०३–१०) के अन्तर्गत बनारस से प्रकाशित किया गया था। ग्रंथ में राजधर्म का निरूपण किया गया है। उद्देश्य था––"धर्मार्थादि पुमर्थनिर्णय परम श्रीवीरसिंहाज्ञया ग्रंथोअयं रचित: परोप कृतये श्री वीर मित्रोदय:।"

२. चंपतराय के प्रसंग में लाल कवि ने स्पष्ट लिखा है कि जुझार सिंह बुंदेला के समय में शाहजहाँ का आक्रमण होने पर राजा की मंत्रि परिषद् की तुलना में उनकी दृष्टि में राजनीति का वस्तु-बोध अधिक स्पष्ट था––

अब उठि के यह मंत्र विचारौ, देस उजार मलेछ संघारौ।
ज्ञान गनंता पौरुष हारै, सो जीतै जो पहिले मारै ॥—छत्रप्रकास, अध्याय–३

३. हीरा देवी ओरछा के राजा पहाड़ सिंह की रानी थी। उनके संतान नहीं थी, अत: सुजानसिंह को गोद ले लिया था। सुजान सिंह नाम मात्र के ही राजा थे, वास्तविक प्रशासन हीरा देवी के ही हाथ में था। दारा के विरुद्ध औरंगजेब के पक्ष में बुंदेलों को एक जुट करने में हीरा देवी की प्रमुख भूमिका रही है। चंपतराय के भाई सुजानराय को 'वेदपुर' में मरवाने में इसी का प्रमुख हाथ था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करके हमारे प्राण लेन की घात लग रही है। आलमगीर अच्छी तरन जानत हैं कि यदि (?) बुन्देलखण्ड में चम्पतराय मारे जैहैं तो ओरछा, चंदेरी ताबेदार हैं ही, कुल बुन्देलखण्ड गुलाम होकर इस मुलक के मन्दिर आदि गिरवाकर मसजिदें तैयार होकर सबको मुसलमान बना लैवी और बुन्देलखण्ड बरबाद हो जैहैं तो क्रम क्रम से सब रजवाड़े बरबाद आप से आप हो जैहैं, किन्तु अफसोस की बात है कि औरंगजेब की कूटनीति शुभकरण हीरा देवी इत्यादि को सपने भी समझ में नही आवने। हसारे बाद देश की वह जैसी दशा कर है वह संसार के जान पर है। ऊकी दुस्साहस दुरनीति को पारावार तक नहीं आय। जी ने अपने वंश को नाश करौ है तौ दूसरे को नाश करत का लगत है।''— पृ० १८५-१८६

इसी वसीयतनामे में चम्पतराय ने संतों की यह भविष्यवाणी भी निवद्ध कराई थी कि छत्रसाल की भेंट राजा जयसिंह से होगी। इन्हीं के संसर्ग में रहने से मुगलों की दुर्नीति से उनकी आँखै खुलेंगी। मुगलों की भेद-भाव पूर्ण नीति के प्रतिक्रिया स्वरूप छत्रसाल शिवाजी से पास जाएँगे। शिवाजी छत्रसाल को स्वतंत्रता का पाठ इस तरह पढ़ायेंगे, जैसे कोई तोते को राम नाम रटाता है। इसी भेंट के उपरान्त छत्रसाल बुन्देलखण्ड की धरनी पर मेरे द्वारा (चम्पतराय) प्रारंभ किए गए स्वतन्त्रता संग्राम को सफल बनाएँगे।[1]

☐ मुगल सत्ता से जूझनेवालों में आन्तरिक एकता :

अपने पिता चंपतराय के बलिदानों एवं उनकी आकांक्षाओं से प्रभावित होकर जब छत्रसाल ने औरंगजेब के विरुद्ध कमर कसने का संकल्प कर लिया, तो ओरछा के राजा सुजान सिंह एवं दतिया के राव शुभकरण ने उसी प्रकार प्रसन्नता प्रकट की थी, जिस तरह प्रतिपच्छ में खड़े रहकर भी महाभारत के युद्ध में भीष्म और द्रोण की सहानुभूति पांडवों के न्याय पूर्ण पक्ष में थी। यही नहीं बुन्देलखण्ड के सुदूरवर्ती भू-भागों के अन्य राजाओं के यहाँ भी छत्रसाल का विद्रोह चर्चा का विषय

---

१. कृष्ण कवि के पूर्वज दैलवारा के निवासी थे। अतः गोत्र सम्बन्ध के कारण दैलवारा के ब्रह्म भट्टों ने उन्हें इन लेखों की प्रतिलिपि करने की छूट दे दी थी। मूल खरड़े दैलवारे में ही विद्यमान हैं। अतः इनकी स्याही कागज एवं लिपि इत्यादि की प्राचीनता का मुझे कोई ज्ञान नहीं है। भाषा की दृष्टि से इसमें कहीं-कहीं संदेह किया जा सकता है, परंतु इसके अन्य अनेक कारण हो सकते हैं। इस आधार पर इनकी ऐतिहासिकता पर संदेह करना भूल होगी। जहाँ तक इन लेखों में व्यक्त सुगठित विचारों का सम्बन्ध है, वे तत्कालीन इतिहास के साथ पूर्ण संगति स्थापित करते हैं (छत्रप्रकास पृ०) हाँ, इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि चंपतराय के विचारों को लिपिबद्ध करने का काम छत्रसाल के समय में किया गया था। सम्भवतः छत्रसाल के राजतिलक के अवसर पर पिता के राजनैतिक मसौदे को अवश्य ही लिख लिया गया होगा।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बन गया (छ० प्र० ६१)। शिवाजी ने दुर्लंघ्य दूरियों का अन्तर होने पर भी बुन्देलखण्ड में छत्रसाल एवं महाराष्ट्र में अपने द्वारा संचालित संघर्षों की तात्विक एकता स्वीकार की थी। लालकवि के शब्दों में यह भावना इस प्रकार प्रकट हुई—

करौ देस को राज छतारे ।
हम तुमते कबहू नहिं न्यारे ॥

अर्थात् हम (मराठे) और तुम (बुन्देले) अलग-अलग भौगोलिक सीमाओं में स्थित होने पर भी अन्ततोगत्वा एक ही देश-धर्म की रक्षा के लिए युद्ध में रत हैं। इस अन्तर्वर्ती एक सूत्रता का आधार खोज लेने पर औरंगजेब के साथ संघर्ष करनेवाले पंजाब के सिक्खों, जोधपुर के राठोरों, मेवाड़ के सिसोदियों, महाराष्ट्र के मराठों एवं बुन्देलखण्ड के बुन्देलों, मथुरा के जाटों तथा नारनौल के सतनामियों[1] द्वारा छेड़े गये संघर्षों में एक रूपता के साथ उनकी ऐतिहासिक प्रकृति में भी संवादी स्वरों का तालमेल बैठ जाता है। इसी परिप्रेक्ष्य के कारण इन घटनाओं के हृदय में राष्ट्रीय तत्वों की उपस्थिति की शोध करना आवश्यक हो गया है। यदि सर्वसाधारण भारतीय की इन विद्रोहियों के साथ गहरी सहानुभूति न रही होती, तो शिवाजी आगरा की कैद से निकलकर सकुशल दक्षिण नहीं पहुँच सकते थे।[2] मुग़लों की विशाल सेनाओं के घेरों से अनेक बार उन्हें बचाने के लिए[3] मुग़ल सेना के राजपूतों ने इसी भावना के वशीभूत होकर उनको यथा

---

१. इन सतनायियों को 'साध' कहा जाता था। आजकल इनकी बहुत बड़ी आबादी फरुखाबाद में है। ये लोग कपड़े पर छपाई के लिए प्रसिद्ध हैं। हरियाणा में कुछ जाट भी साध कहलाते हैं।

२. मिर्जा राजा जयसिंह ने शिवाजी को उनकी सुरक्षा के लिए पूर्ण आश्वासन प्रदान किया था। उन्होंने औरंगजेब के दरबार में उपस्थित अपने युवराज कुँवर रामसिंह को अपने इस अश्वासन से अवगत कर दिया था। कुँवर राम सिंह ने शिवाजी की रक्षा करके उनको कैद से निकल भागने में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही सहायता की थी। इसका प्रमाण बीकानेर आकाईव्स में सुरक्षित आमेर राज्य के तत्कालीन वकीलों के पत्रों से मिल जाता है। भूषण और कुलपति मिश्र की रचनाएँ इस तथ्य को प्रकारान्तर से पुष्ट करती हैं—

देखत मेरे को जीव हनै, सुनि के धुनि कोस हजार ते धाऊँ।
और को दुक्खु न देखि सकौं, जिहि भाँति छुटै तिहिभाँति छुटाऊँ॥
दीन दयाल है छत्री को धर्म, तहाँ सिवि ह्वै खग लागि कहाऊँ।
तू जिनि सोचै कपोत के पोत, हौं आपनो देहुं पै तोहि छुटाऊँ॥
—रस रहस्य छं० सं० १५१

३. सर जदुनाथ सरकार के औरंगजेब ग्रंथ में इस तथ्य की पुष्टि करनेवाले अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। वे लिखते हैं कि 'मुअज्जम के नेतृत्व में अनेक राजपूत राजा भीतर ही भीतर शिवाजी के साथ सहानुभूति रखते थे।' भाग ४, पृ० २०५। एक बार मुअज्जम ने दिलेरखाँ का पीछा किया तथा शिवाजी को भी अपनी सहायता के लिए निमन्त्रित किया (पृ० २०९)। इस ग्रंथ के अनुसार केशरी सिंह नामक राजपूत ने संदेशा भेजकर शिवाजी को मुग़ल फौज के घातक घेरे से बचा लिया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समय सावधान करके उनकी रक्षा की थी । विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में मुग़ल सत्ता के साथ संघर्ष-रत विद्रोहियों के मन में यदि एक दूसरे के प्रति सहानुभूति एवं सहयोग-वृत्ति, (कामरेड शिप) न रही होती, तो औरंगजेब के विद्रोही पुत्र अकबर को साथ लेकर दुर्गादास राठौर अचानक किन्तु आश्वस्त भाव से शिवाजी के पुत्र शम्भू जी के संरक्षण में ही क्यों गए होते। राजनैतिक संघर्षों में व्याप्त अन्तर्वर्ती एकता के इन्हीं लक्षणों से घबड़ाकर औरंगजेब दुर्गादास का पीछा करता हुआ स्वयं अजमेर से नर्मदा और ताप्ती आदि नदियों को पार करके दक्षिण पहुँच गया था। दिल्ली से निकलकर राजस्थान के संघर्षों में राजपूतों को एक जुट होता हुआ देखकर मुग़ल सेना का नेतृत्व करने के लिए बादशाह का अजमेर पहुँचना एवं अजमेर से अचानक दक्षिण औरंगाबाद की ओर भागने की घटनाएँ राजनैतिक नाटकीयता से परिपूर्ण हैं । शिवाजी के जीवन-काल में औरंगजेब दक्षिण नहीं गया, किन्तु उनकी मृत्यु के उपरांत उसे दक्षिण पहुँचने के लिए अचानक किन परिस्थितियों से विवश होना पड़ा था ? इतिहासकारों का यह सोचना कि वह दक्षिण के शिया साम्राज्यों को नष्ट करने के लिए गया था, ठीक नहीं प्रतीत होता । यदि यही एक कारण रहा होता, तो उसे इन राज्यों की विजय के पश्चात् उत्तर भारत आ जाना चाहिए था, किन्तु वह नहीं आ सका ! परिस्थितियों ने उसे नहीं आने दिया । यही औरंगजेब के इतिहास एवं जीवन की ऐसी गुत्थी है, जिसे सुस्पष्ट करने में तत्कालीन इतिहास की वस्तुस्थिति को सावधानी से विश्लेषित करने की आवश्यकता है ।[१]

मुख्य रूप से औरंगजेब को यही भय था कि मुग़लों के विरुद्ध अगर मराठे एवं राजपूत एक हो जायेंगे तो मुग़ल साम्राज्य के ढहने में देर नहीं लगेगी । इस गुट के साथ विद्रोही शहजादा 'अकबर' के सम्मिलित होने से वहमनी राज्यों एवं मुग़ल सेना के असंतुष्ट अमीरों के एक हो जाने का भय भी था । इन्हीं राजनैतिक आशंकाओं के कारण अपनी राजधानी से दूर उसे पूरे २७ वर्षों का बनवास भोगना पड़ा था । अन्त में वह दक्षिण के औरंगाबाद नगर में ही दफन हो गया ।

औरंगजेब के विरूद्ध उसके युग में जनाक्रोश कितना उग्र था, इसे उस युग में लिखी गई भूषण, लाल एवं मान आदि कवियों की रचनाओं में देखा जा सकता है । महामति प्राणनाथ तथा गुरु गोविन्द सिंह जी जैसे संत महापुरुषों की वाणियों में भी सम्राट की धर्मान्धता और उसके आचरण की अविश्वसनीयता की पुष्टि के प्रमाण,

---

१. गढ़वाल के समकालीन राजा फतेहशाह के कवि ने 'फतेहप्रकाश' नामक गन्थ में एक छंद लिखा है, जो तत्कालीन समाज में प्रचलित धारणाओं को स्पष्ट करता है—

आवैगो साह फते करि दक्षिन, काहू करी सुलतान (औरं०) बड़ाई ।
वाक् विचार सकै कहि को भ्रम, तेरे मथी उमथी सी अथाई ॥

—फते प्रकास सं : शूरवीर सिंह पृ० ४३-४४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्‌यमान हैं। औरंगजेब की मृत्यु के कुछ ही वर्षों बाद लिखे गये राजस्थानी भाषा के ग्रंथ 'राजरूपक' तथा 'सूरज प्रकाश' में इस विषय पर प्रकाश डालनेवाली प्रचुर सामग्री सुलभ है। संपूर्ण भाषा-साहित्य में एक भी पाएदार कवि ऐसा नहीं मिलता, जिसकी कविता में औरंगजेब की प्रशंसा में एक भी शब्द कहा गया हो। भाषा कवियों की काव्य-चेतना में औरंगजेब की या तो उपेक्षा है या उसके साथ शत्रुता मोल ली गई है। औरंगजेब को मुगल काल का मसीहा सिद्‌ध करनेवाले इतिहासकारों के समस्त प्रयासों पर भाषा-काव्य की यह सामग्री एक प्रश्न-चिह्न लगा देती है। अतः तत्कालीन इतिहास-धारा की अंतश्चेतना के लिए राष्ट्रीय-भाव अथवा राष्ट्रीयता का अभिधान ही सार्थक है। अकबर, शाहजहाँ एवं दारा शुकोह की भाषा काव्य में मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई है। जो प्रवृत्ति पहले से ही स्वीकृत चली आ रही थी, उसे सहसा क्यों छोड़ दिया गया? किन कारणों से इस विरोध-भावना का जन्म हुआ था? साहित्य एवं राजनीति दोनों ही क्षेत्रों में यह विरोध क्यों संगठित हो सका था? इन प्रश्नों के उत्तरों को सामने रखे जाने पर औरंगजेब के प्रशासनिक गुणों की स्तुति करनेवालों की संकुचित तथा एकांगी विचार धारओं का वास्तविक मन्तव्य समझ में आ जाता है। हम कह आए हैं कि देश एवं जाति के सम्मुख इसी युग में षष्ठ गुरु हरगोविन्द जी ने 'पीरी' एवं 'मीरी' को समान रूप से प्रतिष्ठत किया था। इसी से मिलती-जुलती भाव-चेतना महाराष्ट्र के संत समर्थगुरु रामदास (ई० सं० १६०८–१६८१) की रचनाओं में उपलब्ध होती है। राष्ट्र की प्रसुप्त वीर-भावना को पुनर्स्थापित करने के लिए जैसे प्रयास आलोच्य युग में हुए हैं, वैसे व्यापक और सुनियोजित प्रयत्न इतिहास में किस काल में और कब किए गए हैं? फिर इस चर्चित युग पर विलासिता का दोषारोपण करना किस आधार पर न्यायोचित कहा जा सकता है?

☐ राष्ट्रीयता के प्रकरण में समर्थ गुरु रामदास का योगदान :

समर्थगुरु रामदास ने आध्यात्मिक उत्थान के माध्यम से ही राजनैतिक वास्तविकता की दिशा में समाज को उन्मुख किया था। अध्यात्म-चिंतन के मार्ग पर उनके विचारों में उत्तरोत्तर राजनैतिक यथार्थ को ग्रहण करने की दृष्टि का विस्तार हुआ है। तमाम सोच विचार और देशाटन द्‌वारा दुनिया देखने के उपरांत वे इसी निश्चय पर पहुँचे थे कि राज-तंत्र को साथ लेने से ही सांस्कृतिक पक्ष की रक्षा हो सकती है।[1] इसी अभिप्राय से उन्होंने धार्मिक स्वराज्य की स्थापना करने के लिए

---

१. प्राणनाथ एवं सिक्ख गुरुओं के विचारों के साथ इन विचारों की संगति देखी जा सकती है। 'वृत्तान्त मुक्तावली' का एक दोहा—'साह सदन ठहराइ जो……' इसे उद्‌धृत कर चुके हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

'दासबोध'[१] के ओजस्वी काव्य-प्रबन्ध में संशोधित विचार उपस्थित किये हैं। समर्थ गुरु रामदास ने **'परचक्र निरूपण'** नामक अपने एक लघु प्रबन्ध में देश की समकालीन दशा पर दुख प्रकट करते हुए कहा है कि देश (महाराष्ट्र ही नहीं भारत)का सर्वस्व हरण हो गया है, जो कुछ अवशेष है, वह देश का ढाचा मात्र ही है। लोगों पर भाँति-भाँति की आपत्तियाँ टूट पड़ी हैं। उन्हे अपने घर छोड़ने पड़े हैं। शहरों से उजड़कर प्रजा गाँवों में भाग रही है, परन्तु वहाँ भी जीवित रहने में बाधा है। मनुष्यों को पहनने के लिए वस्त्र नहीं हैं, खाने के लिए अन्न नहीं है। उक्त विचारों को समर्थ की मूल वाणी में ही उपस्थित करना उचित होगा—

पदार्थ मात्र तितुका गेला। नुस्ता देशचि उरला॥ येणें करितां बहुतांला। संकट जालें ॥१॥ लोकें स्थान भ्रष्ट झालीं। कितेक तेथेंचि मेलीं। उरली ते मराया आलीं। गांवावरी ॥२॥ कांहीं रेडेयाडे उरले। ते लोक गांवावरी आले। रगाकरितां मरोनिगेले। रेडेपाडे ॥ ३ ॥ माणसां खावया अन्न नाहीं। आंथरूण पांघरूण तेंही नाहीं। घर कराया सामग्री नाहीं॥ काय करिती ॥४॥ पुढ़ें आला पर्जन्य काल। धान्य महर्घ दुष्काल॥ शाकार नाहीं भल भल। रिचवे पाणी ॥५॥ कितेक अनाचारी पणिलीं। कितेक यातीं भ्रष्ट जालीं॥ कितेक ते आकंदलीं। मुलें वालें ॥६॥ कितेकीं विषें घेतलीं। कितेक जलीं बुडालीं॥ जालिलीं ना पुरिलीं। कितीयेक ॥७॥ ऐसे जालें वर्तमान। पुढ़ेंहि अवधा अनमान॥ सदा दुश्चीत अवघेंजन। उद्वेग रूपी ॥८॥ अद्यापि दुशचिन्हें दिसती। दुष्ट ग्रह आडलती॥ पुढ़ेंही वाईट सांगती। कितीयेक ॥९॥ कांहींच पाहतां धड़ नाहीं। विचार सुचेना कांही॥ अखण्ठ चिंतेच्या प्रवाहीं। पडले लोक ॥१०॥ समर्थ गुरु रामदास की **'अस्मानी सुल्तानी'** नामक अन्य रचना का अवलोकन करने से पुष्ट होता है कि तत्कालीन संत समाज असहाय जनता को राजनैतिक नेतृत्व प्रदान करने का समुचित प्रयत्न कर रहा था। ये लक्षण सीमित एवं एकदेशीय (प्रान्तीय अथवा क्षेत्रीय जिसके लिए इतिहासकार 'रिजनल' शब्द का व्यवहार करते हैं) न होकर वस्तुस्थिति में उत्तर भारत में फैले समस्त मुग़ल साम्राज्य में प्रस्फुटित हो गए थे।[२]

---

१. दास बोध रचना की दो पाण्डु लिपियाँ मिलती हैं। पहली पाण्डुलिपि को पुराना दास बोध कहा जाता है एवं दूसरी पाण्डुलिपि को 'नया दास बोध।' प्रथम पाण्डुलिपि में व्यक्त अपने विचारों में संशोधन करके पुरानी रचना को 'इहलोक' से जोड़कर समर्थगुरु ने सजगता पूर्वक अध्यात्मकामियों को प्रपंच (संसार तथा राजनीति) में प्रवेश करने की आज्ञा प्रदान की थी। इसी विशेषता के कारण उसे 'नया दास बोध' कहा जाता है।

२. सुकवि पृथ्वीराज राठौर के जन्मस्थान बीकानेर के और चित्तौड़ के राणा प्रताप के ठिकानों में कितनी दूरी विद्यमान थी, फिर भी पृथ्वीराज ने यही माना था कि राणा प्रताप उसी की भूमि और उसी के धर्म के स्वाभिमान के लिए संघर्षशील हैं—

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

□ महामति प्राणनाथ की राष्ट्र कल्पना—संकट कालीन घड़ी में समग्र राष्ट्र का उद्बोधन :

उक्त कथन की पुष्टि के लिए काठियावाड़ के राजकुल में उत्पन्न महामति प्राणनाथ की वाणियों को उद्धृत करना अधिक समीचीन होगा। भारतवर्ष की धर्म संस्कृति की रक्षा करने के लिए प्राणनाथ जी ने समस्त क्षत्रिय राजाओं को शस्त्र ग्रहण करके अन्यायी सम्राट का सामना करने के लिए ऊँचे स्वर से आह्वाहन किया था। इस आपद्काल में केवल क्षत्रिय जाति के शस्त्र-ग्रहण से ही उद्देश्य-पूर्ति नहीं हो सकती थी। देश तो सभी का था, इसलिए उन्होंने प्रकट रूप से कहा कि जो जहाँ है, एवं जिस व्ययसाय में लगा हुआ है, उसे अपनी स्थिति के अनुसार अपनी जगह एवं अपने काम में ही इस चुनौती का सामना करने के लिए सन्नद्ध हो जाना चाहिए। देश-धर्म की रक्षा के लिए प्रत्येक देशवासी को कमर कस कर संघर्ष करने के लिए आगे आना चाहिए। प्राणनाथ ने क्षत्रियों के ही सामन अपने युग के प्रबुद्ध समाज (इंटेलेक्युअल्स) को उदबुद्ध करने की आवश्यकता भी अनुभव की थी। प्राणनाथ जी ने वेदपाठी ब्राह्मणों एवं व्याकरण की बारीकियों में उलझनेवाले वैयाकरणो, दर्शन शास्त्र की सूक्ष्म मीमांसा करने वाले दार्शनिकों तथा सिद्धों-संतों एवं वैष्णाव जनों को संबोधित करते हुए अपनी ललकार भरी वाणी में कहा था कि इस परीक्षा की घड़ी में अपने समस्त भेद-भावों को भुलाकर सम्पूर्ण समाज को परलोक चिंतन को स्थगित करके सबसे पहले भारतवर्ष के सनातन धर्म और देश की अजस्र संस्कृति की रक्षा करने के प्राथमिक कर्तव्य में डट जाना चाहिए। भारत के

(शेष पिछले पृष्ठ से)

"जासी हाट बात रहसी जग, अकबर ठग जासी एकबार।
रह राखियो ध्रम राणै, सारा ले बरतो संसार॥"

विशेष के लिए देखिए राजस्थान भारती भाग १५, अंक ३–४ में महाराज कुमार डॉ० रघुवीरसिंह का लेख पृ० १–१४। तथ्यों के अनुसार यह परम्परा निरंतर पुष्ट होती रही है।

आलोच्य युग में संत एवं कवि समान रूप से जन-जागरण का संदेश दे रहे थे। सांग रूपक के माध्यम से रतनू वीरभाण ने एक स्थान पर कहा है कि दुर्गादास ने बादशाह के सैन्य समुद्र को मथकर हिन्दू-धर्म-संस्कृति के चौदह रत्न निकाल लिए हैं—

लछी रूप हरि भगति, धरम हिन्दू धानंतर।
बेद चंद्र मिणि किया, भूम रंभा बल कुंजर॥
धेन पूज सुरधेन धिमधु चरणामृत वंदां।
धनुख मांण नृप कलप संख जस महां विरद्दां॥
बिख बेध तुरी उद्दम तुमल, महण मेछ उर मंडिया।
दुरगेस मथे चित साहरो, रतन चवद्दे कढ़िया॥—७/३०७ पृ० १८०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संतों एवं भक्तों ने इस युग की राजनीति में जो भूमिका निभाई थी, उसके प्रमाण-स्वरूप 'कुलज़म स्वरूप' से उद्धृत किरंतन का सम्यक रूप से अवलोकन करना उचित होगा। जिस विविधता भरे समाज और राष्ट्र को इस रचना में संबोधित किया गया है, उस पर ध्यान देने की आवश्यकता है —

राजा ने मलोरे राणे राए तणों, धरम जाता रे कोई दौड़ो ।
जागोने जोधा रे उठ खड़े रहो, नींद निगोड़ी रे छोड़ो ॥ १
छूटत है रे खड़ग छत्रियों से, धरम जात हिंदुआन ।
सत न छोड़ो रे सत वादियो, जोर बढ्यो तुरकान ॥ २
कुलिएँ (राजकुलों को) छकाए रे, दिलड़े जुदे किए,[1] मोह अहंके मद माते ।
असुर माते रे असुराई करे, तो भी न मिलो रे[2] धरम जाते ॥ ३
त्रैलोकी में उत्तम खंड भरत को, तामे उत्तम हिन्दू धरम ।
ताके छत्रपतियों के सिर, आए रही इत सरम ॥ ४
पन ने धारी रे पन इत ले चढ़्या, कोई उपज्यो असुर घर अंस । (औरंगजेब)
जुधने करने उठ्या धरम सों, सब देखें खड़े राजबंस ॥ ५
भरत खंड रे हिन्दू धरम जान के, मांगे विस्नु संग्राम अरथ ।
फिरत आप रे ढंढोरा पुकारता, है कोई देव रे समरथ ॥ ६
असुर सत रे धरम जुध माँगहीं, सुर केहेलाए जो न दीजे ।
पूछो ने पंडित रे जुध दिए बिना, धरमराज कैसे कहीजे ॥ ७
राज कुली रे रखन रजवट, जो न आया इन अवसर ।
धरम जाते जो न दौड़िया, ताए सुर कहिए क्यों कर ?? ८
वेद ने व्याकरणी रे पंडित पढ़वैयो, गछ दीन इष्ट आचार ।
पीछे रे बल कब करोगे, होत है एकाकार ॥ ९
सिध ने साधो रे संतों महतो, वैस्नव भेष दरसन ।
धरम उछेदे असुरें सबन के, पीछे परचा देओगे किस दिन ॥ १०
सुनियो पुकार रे स्यांने संत जनों, जो न दौड़्या जाते सत ।
गए ने अवसर पीछे कहा करोगे, कहाँ गई करामात ॥ ११

---

१. राजाओं में भेद बुद्धि उत्पन्न करके शासकों ने उन्हें आपस में लड़ा दिया है ।
२. जब धर्म पर प्रहार हो रहा है, उस अवसर पर भी संगठित नहीं हो रहे हो ।

नोट—इस किरंतन में समाज के सभी प्रबुद्ध वर्गों का आह्वान किया गया है । राष्ट्र और राष्ट्र का धर्म सब का है । इसलिए सभी से इसकी रक्षा करने के लिए आगे आने के लिए कहा है । रीतिकाल की इस राष्ट्र चेतना पर विशेष रूप से विचार करने की आवश्यकता है ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लसकर असुरों को चहुं दिस फैल्या, बाढ़्यों अति विस्तार ।
बन ने जंगल रे हिन्दु रहे परबतों,[१] और कर लिए सब धुंधुकार ।। १२
हरद्वार ढहाए उठाए तपसी तीरथ, गौवध कैयो विघन ।
ऐसा जुलन हुआ जग में जाहेर, पर कंमर न बांधी रे किन ।। १३
सुर ने केहै लाए रे सेवा करें असुर की, जो दारुबाए उड़ावे देहुर ।
हिन्दू नाम रे सेन्या तिनकी होए खड़ी, ऐसा कुलिऐं कियोरे केहेर ।। १४
प्रभु प्रतिमा रे गज पाउँ बाँध के, घसीट के खंडित कराए ।[२]
फरस बंदी ताकी करके, तापर खलक चलाए ।।[३] १५
असुरे (औरंगजेब) लगाया रे हिंदुओं पर जेजिया, वाको मिले नहीं खान पान ।
जो गरीब न दे सके जेजिया, ताए मार करें मुसलमान ।। १६
सास्त्रे आवरदा कही कलिजुग की, चार लाख बत्तीस हजार ।
काटे दिन पापें लिख्या माहें सास्त्रों, सो पाइए अर्थ अंदर के विचार ।। १७
सोले से लगे रे साका सालबाहन का, संबत सत्रह सै पैंतीस ।
बैठाने साका विजियाभिनन्दन का, यों कहें सास्त्र और जोतीस ।। १८
कुलिजुगे चेहेन रे अंतके सव किए, लोक बतावे अजूं दूर अंत । (प्रेरणार्थ)
अर्थ अन्दर का कोई न पावे, बारे अरथ बाहेर के ले डूबत ।। १९
बात नें सुनी रे बुंदेले छत्रसाल ने, आगे आए खड़ा ले तलवार ।
सेवाने लई रे[४] सारी सिर खैंच के, सांइए किया सैन्यापति सिरदार ।। २०
प्रगटे निसान रे घूमरकेत क्षय मास, पर सुध न करे अंजू कोई इत ।
बेगेने पधारो रे बुध जी[५] या समे, पुकार कहें महामत ।। २१
—।। प्रकरण ।। ५८ ।। चौपाई ।। ६५ ।।
—किरंतन-राग कटको, कुलजमस्वरूप पृष्ठ ६१०

प्रस्तुत उद्धरण का सावधानी पूर्वक अनुशीलन करने के उपरांत भाषा में निहित अर्थबिम्बों से स्पष्ट हो जाता है कि महाराज छत्रसाल के राज्यारोहरण के प्रसंग में उपस्थित जन समुदाय के समक्ष यह प्रवचन किया गया था। इस किरंतन

---

१. उदयपुर के राणा राजसिंह की ओर संकेत किया गया है ।
२. टैवर्नियर ने भी ग्वालियर—नरवर के मार्ग पर हाथियों द्वारा मूर्ति-भंजन का ऐसा ही वर्णन किया है ।
३. मथुरा में वीरसिंह देव बुंदेला द्वारा निर्मित किए गए केशव राय के मंदिर की ओर संकेत किया गया है । बेगम साहिबा जहाँनारा बेगम ने इस मूर्ति की पूजा की थी । अतः इसे उन्हीं के महल की सीढ़ियों में लगा दिया गया था । 'मआसिरे आलमगीरी' में इसका उल्लेख है ।
४. अर्थ है—धर्म संस्कृति की रक्षा का दायित्व वहन किया ।
५. भाव है—प्राणियों में सद्बुद्धि जागे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की यह विशेषता ध्यान देने योग्य है कि अंधविश्वासी स्वभाव के कारण हिन्दुओं के अन्तःकरण में जो नैराश्य-भावना दीर्घकाल से संचरित हो रही थी, उसे दूर करने के लिए कलियुग के अंतिम चिह्नों का उल्लेख एवं धूमकेतु के उदय का दृष्टांत देकर निराशा को आशा में रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया गया है। 'किरंतन' की भाव-भूमि पर पहुँचने के लिए रचनाकार के उद्दिष्ट को सामने रखना आवश्यक है। महामति की दो अन्य रचनाएँ छोटा एवं बड़ा 'क़यामत नामा' भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए लिखी गई थीं। रचना काल, कवि की परिस्थिति एवं उद्देश्य को समझलेने के बाद ही किसी कवि की रचना का मूल्यांकन करना उचित होता है। इन्हीं की उपेक्षा करने के फलस्वरूप हिन्दी आलोचना दिग् भ्रमित हो गई है।

महामति प्राणनाथ एक ऐसे हिन्दू संत थे, जिन्होंने सभी धर्मों की मूलभूत एकता को प्रतिपादित किया है। विश्व के सभी प्रसिद्ध धर्मों के मूल सिद्धान्तों का उन्हें परिचय भी प्राप्त था। अपने गुरु श्री देव चन्द्र जी की इच्छा पूरी करने के लिए उन्होंने इस्लाम धर्म-शास्त्र का विशेष रूप से अध्ययन किया था। उनके विचार एवं व्यवहार में **'क़ुरआन शरीफ़'** को हिन्दू धर्म ग्रन्थों के समान ही मान्यता दी गई थी। प्राणनाथ जी की धार्मिक चर्चाओं एवं प्रार्थनाओं में संस्कृत श्लोकों के साथ-साथ **'क़ुरआन शरीफ़'** की आयतों का समान रूप से पाठ होता था। इस धार्मिक औदार्य एवं धर्मों के प्रति समभाव प्रकट करने के उपरांत भी उन्होंने औरंगजेब की धार्मिक निरंकुशता के कारण हिन्दुत्व के समक्ष उपस्थित चुनौती को स्वीकार करके गाढ़े समय में हिन्दू-धर्म संस्कृति की रक्षा का बीड़ा उठाया था। औरंगजेब के साथ बुन्देलखण्ड की धरती पर संघर्ष छेड़नेवाले छत्रसाल के सैनिक अभियानों का उन्होंने कुछ अवसरों पर नेतृत्व भी किया। लालदास की बीतक देखने से विदित होता है कि अनेक सैनिक एवं कूटनीतिक अभियानों में छत्रसाल की सेना के आगे-आगे रहकर प्राणनाथ जी ने छत्रसाल एवं उनके द्वारा संचालित सैन्य संघर्षों के प्रति जन-सहानुभूति एवं जन-सहयोग जाग्रत करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। 'कुलजम स्वरूप' में संकलित 'क़यामतनामा' ग्रन्थ की रचना उन्होंने चित्रकूट की पहाड़ियों में रहकर ही पूरी की थी। चित्रकूट बुन्देलखण्ड का सुप्रसिद्ध तीर्थ है। प्रत्येक महीने की अमावस्या के दिन दूर-दूर से हिन्दू यात्री भगवान राम के वनबास काल के निवास 'कामद्गिरि' की परिक्रमा करने के लिए यहाँ एकत्र होते हैं तथा तीन मील की दंड परिक्रमा करते हैं। पहाड़ियों एवं दुर्गों[1] से सुरक्षित इस स्थान पर आश्वस्त भाव से बैठकर जनता को महामति प्राणनाथ जी

---

१. चित्रकूट क्षेत्र अनेक सुदृढ़ दुर्गों से सुरक्षित था। इसके दक्षिण की ओर विन्ध्याचल की पर्वत श्रृंखलाएँ फैली हुई हैं। दक्षिण पश्चिम के कोने पर पंचकोसी एवं दश कोसी परिक्रमाओं की सीमा में क्रमशः मड़फा एवं कालिंजर के सुदृढ़ दुर्ग विद्यमान हैं। उत्तरी सीमा तरहुँवा एवं खोही के दुर्गों से सुरक्षित थी। ये दोनों दुर्ग खंडहर रूप में अब भी विद्यमान हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने अवश्य ही अपनी राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत करने का कार्य संपन्न किया होगा। इतिहास के इन प्रमाणाधारों के प्रकाश में दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि छत्रसाल के पक्ष में राष्ट्रीय विचारों से आविष्ट जनमत तैयार करने में **भाट कवियों की वाणी एवं संतों के उपदेशों की भूमिका समान रूप से क्रियाशील रही है।** बुंदेलों के स्वतंत्रता संग्राम के पक्ष में जन सहयोग का वातावरण निर्माण करने में संत प्राणनाथ के व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। उद्धृत पंक्तियों में श्री प्राणनाथ द्वारा किए गए राजनैतिक एवं राष्ट्रीय भावनाओं के उद्बोधन-प्रयासों की धुरी की ओर पुनः ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि छत्रसाल का संघर्ष बुन्देलखण्ड के ही लिए नहीं वरन समूचे 'भरत खण्ड' के निमित्त छेड़ा गया है। अतः इस भरत खण्ड के सभी शस्त्रधारियों को इस देश की सम्मान-रक्षा के लिए आगे आना चाहिए—

त्रैलोकी में उत्तम खण्ड भरत को, तामे उत्तम हिन्दू धरम ।
ताके छत्रपतियों के सिर, आए रही इत सरम ॥

महामति प्राणनाथ की रचनाओं में भारत की महिमा प्रकट करनेवाले अन्य अंशों को उद्धृत करने में विस्तार होने का भय है।

□ श्री गुरु गोविन्द सिंह के बलिदानों में निहित प्रेरणा—उनका अप्रतिम व्यक्तित्व :

संत एवं भक्त कवियों ने रीति-युग में आगे आकर जनता को राजनैतिक संघर्ष के लिए उद्बुद्ध करना अपना सब से पुनीत कर्तव्य समझा था। इस युग में निर्जन एकान्त की ओर भागने के स्थान पर संत लोग एकान्त गुफाओं को छोड़ कर समाज की ओर आए। अनेक संतों ने अन्यायी बादशाह के शस्त्रों के सम्मुख अपने प्राणों की हँसते हँसते बलि दे दी थी।[१] अन्याय के विरुद्ध जन संगठन करनेवाले संतों में समर्थगुरु रामदास, महामति प्राणनाथ, दशमेश गुरु गोविन्द सिंह जी एवं वृन्दावन के स्वामी नरहरि देव जैसे सुप्रसिद्ध महापुरुषों के नामों को उद्धृत किया जा सकता है। 'जफ़रनामा' रचना के अन्तर्गत औरंगजेब को सम्बोधित किये गये पत्र में गुरु गोविन्द सिंह जी ने स्पष्ट रूप से कहा है कि वर्तमान प्रशासकों की दुर्नीति ने ही संतों को राजनीति में आने के लिए विवश कर दिया है। दशम गुरु

---

१. सिक्ख गुरु तेग बहादुर की शहीदी के प्रकरण में—गुरु पुत्र श्री गुरु गोविन्द सिंह द्वारा उन्हें अपना बलिदान देने के लिए दिल्ली जाने की सलाह देना—सिद्ध करता है कि उस युग में बलिदान देने की व्यापक भावना विद्यमान थी। सूफी संत सरमद की शहीदी भी सर्वविदित है। इन्हीं बलिदानियों की श्रेणी के उद्धव बैरागी के बलिदान की घटना औरंगजेब के इतिहास ग्रंथ 'मासिरे आलमगीरी' के अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ७१ में पढ़ी जा सकती है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिखते हैं कि ऐ औरंगजेब ! मैं तेरी क़ुरआन की कसमों पर कैसे विश्वास कर लूं। हर जगह तूने अपना वचन भंग करके मेरे साथ धोखे बाज़ी की है। अन्यथा लड़ाई-झगड़े से मेरा क्या वास्ता हो सकता था—

चे कसमे क़ुरान मन कुनम एतबार[१] ।
वगर न तू गोई मन ईरं चेकार ॥ —छं० २३

गुरु गोविन्द सिंह जी यह भी कहते हैं कि जब किसी बिगड़े हुए इंसान को ठीक रास्ते पर लाने के सारे प्रयत्न विफल हो जायें, तब उसके साथ निबटने के लिए हथियार उठाना ही सबसे बड़ा धर्म होता है—

चूंकार अज़ हमा, हीलते दर गुज़श्त ।
हलालस्त बुरदन, बशमशीर दस्त ॥—छं० २२

राजकोप के सम्मुख निरुपाय एवं असहाय अनुभव करनेवाली भारतवर्ष की असंख्य हिन्दू प्रजा में इस युग में संगठित होने की अभूतपूर्व जागृति का दर्शन हो रहा था। इस शुभ लक्षण को देखकर ही भूषण ने औरंगजेब की अदूरदर्शिता एवं उसके अन्यायों को हिन्दू जाति के सौभाग्य रूप में ग्रहण किया था। दुख, आपदाओं और दमन के समक्ष ही किसी जाति की वास्तविक शक्ति की परीक्षा हुआ करती है। आपत् कालीन स्थिति के अनुभव भूषण की कविता समझने की पृष्ठ भूमि प्रदान करते हैं—

"भूषन कहत सब हिन्दुन के भाग फिरे,
चढ़े ते कुमति, चकत्ता किरान सानी में।"

आसन्न संकट की घड़ी में हिन्दू जाति की रक्षा में अनेक प्रकार की कुर्बानी देनेवाले नायकों को सामान्य हिन्दू श्रृद्धा-वश ईश्वर का अवतार मानने लगा था। हिन्दू अवतारवाद की मूल भावना भी यही है कि हिन्दू धर्म पर जब जब संकट आता है, तब-तब उसके उद्धार के लिए किसी न किसी रूप में ईश्वर का जन्म होता है,[२] ईश्वर स्वयं उसके सनातन धर्म की रक्षा करता है। हिन्दू धर्म शास्त्रों के

---

१. भूषण से तुलना कीजिए—

दारुन दुगुन दुरजोधन ते अवरंग, भूषन भनत जग राख्यो छलु मढ़ि कं। —छं० १३५

तथा

हाथ तसबीह लिए प्रात उठि बंदगी सी, मन के कपट सबै संभारत जप के। —छं० ५४२

१. श्रीमद्भगवद् गीता, अध्याय ४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अवतारवाद में किसी राज्य विशेष की रक्षा के लिए कभी ईश्वर का जन्म नहीं माना गया। हिन्दुओं के अनुसार केवल धर्म-रक्षा के लिए ही ईश्वर का अवतार हुआ करता है। हिन्दू विश्वासों के अनुसार धर्म-सत्ता को राज्य-सत्ता से विशिष्ट माना गया है। महान धर्म-रक्षक गुरु गोविन्द सिंह जी ने केवल नौ वर्ष की वय में अत्यंत विषम परिस्थितियों के बीच,[१] सुमिरिनी फेरनेवाले अपने हाथों में तलवार उठाकर हिन्दू धर्म की रक्षा का संघर्ष छेड़ा था। उनके इस मार्ग-दर्शन से जन-मानस में आशा एवं उत्साह का संचार होना स्वाभाविक था। कृतज्ञता स्वरूप श्रद्धा-विह्वल हृदय से गुरु के अनुयायी सिक्खों एवं समस्त हिन्दू समाज द्वारा ऐसे धर्म-रक्षक गुरु को ईश्वर कहना अत्यंत स्वाभाविक था। किन्तु दशम गुरु का व्यक्तित्व इतना महान था कि उन्होंने अपनी पूजा करनेवालों की अपने ही मुख से वर्जना की। गुरु जी ने ईश्वरत्व का आरोप करनेवाले हिन्दुओं को ताड़ना देते हुए यह कहा कि—

"जो हम को परमेस उचरि हैं।
ते जन घोर नरक में परि हैं॥"

लोकेषणा के प्रति प्रगट होनेवाली इस अनासक्ति के परिप्रेक्ष्य में गुरु गोविन्द सिंह के अलौकिक व्यक्तित्व की एक झलक मिल जाती है। उन्होंने एक महान योद्धा एवं कुशल सेनापति की भाँति धर्म के शत्रुओं के साथ लोहा बजाकर उनका मान-मर्दन किया। इस प्रकार कोटि कोटि जनता के धर्मत्राता के रूप में यशार्जन करते हुए देश-जाति के मस्तक को ऊँचा उठाया था। त्याग-तपस्या एवं बलिदानों के फल-भोग को उन्होंने एक ब्रह्मलीन साधक की भाँति ठुकरातेहुए गीता में प्रतिपादित श्रेयस् का वरण किया था। गीता में निरूपित धर्म एवं निष्काम कर्म की परिभाषा में गुरु गोविन्द सिंह जी सही अर्थों में सोलह आने खरे उतरनेवाले युग पुरुष थे। इसी तरह की महान आत्माओं को उत्पन्न करके किसी जाति में त्याग, बलिदान एवं वीरता का संचार होता है। ऐसे आदर्श उदाहरण किसी भी देश के इतिहास में विरल होते हैं। रीतिकाल को ऐसे ही अनेक इतिहास-पुरुषों को उत्पन्न करने का

---

१. कहते हैं कि औरंगजेब की कारावास में पहुँचने पर गुरु तेगबहादुर जी ने बालक गुरु गोविन्द जी के पास यह दोहा लिखकर भेजा था—

बल छुटक्यो बंधन परे, कछु न होत उपाय।
कहु नानक अब ओट हरि, गज ज्यों होहु सहाय॥

इसका उत्तर गुरु गोविन्द सिंह जी ने इस प्रकार दिया था—

बल होआ बंधन छुटे, सभ किछु होत उपाय।
नानक सभ किछु तुमरे हाथ मँहि, तुम ही होहु सहाय॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गौरव प्राप्त हुआ है। किन्तु उन सबको अनदेखा करने का संक्रामक रोग-सा लग गया है। इतिहासकारों में अँग्रेज़ी भाषा-संस्कारों से उत्पन्न दृष्टि-दोष के फलस्वरूप हमारे देश का इतिहास 'पंगु' और 'बधिर' हो गया है।

गुरु गोविन्द सिंह जी ने मुग़ल साम्राज्य की राजधानी के सिरहाने में अडिग दृढ़ता से खड़े होकर हिन्दू जाति के लिए जो कुछ किया है, वह स्तुत्य होने के साथ साथ हिन्दू जाति की जिजीविषा का स्वर्णिम पृष्ठ है। हिन्दू शास्त्रों में धर्म-रक्षा के लिए दिए गए आश्वासनों की इन चरित नायकों के व्यक्तित्वों से पूर्ति हुई है। जनता के हृदय में शास्त्र-वचनों के प्रति **आस्था जागृत रखने में अलोच्य युग के वीरों ने हँस-हँसकर सर्वस्व न्योछावर करते हुए अविचल भाव से जीवन-मरण का खेल खेला था**। दशम गुरु गोविन्द सिंह जी ने अपने जीवन का उद्देश्य इस प्रकार व्यक्त किया है—

हम इह काज जगत मो आए, धर्म हेत गुरुदेव पठाए।
जहाँ-तहाँ तुम धर्म विथारो, दुसट देखियत पकरि पछारो॥
याही काज धरा हम जनमं, समझि लेहु साधू सभ मनमं।
धर्म चलावन संत उबारन, दुसट सभन को मूल उपारन[1]॥

—वाणी गुरु गोविन्द सिंह

☐ नए विचारों के पल्लवन एवं प्रसार में कवियों की भूमिका :

उद्धृत तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि रीति-युग में भारतीय संत एवं कविगण पारलौकिक एवं पारमार्थिक चिंतन के साथ-साथ प्रगट रूप से राजनैतिक नृशंसता का सामना करने के लिए कमर कसकर लोक के उद्धार-कर्ता एवं उसके मार्ग-दर्शक के रूप में उठ खड़े हुए थे। इन युग-पुरुषों ने अपने विचारों के प्रसार के लिए कवि एवं कविता तथा संगीत एवं संगीतज्ञों को प्रचार-माध्यम बनाया था। इसी दृष्टि से छत्रपति शिवाजी के पिता शाहजी भोंसले के समय से ही मराठा दरबार में मराठी भाषा के अतिरिक्त संस्कृत एवं ब्रजभाषा के कवियों

---

१. 'देव' की ओर निहारना छोड़कर इस युग में ईश्वर के अवतारों द्वारा उपस्थित किए गए आदर्शों के ग्रहण का ही प्रयत्न हो रहा था। महाराज छत्रसाल ने भी लिखा है—

तुम घन स्याम हम चातक मयूर मत्त, तुम सुचि स्वाति हम चातक तुम्हारे हैं।
चारु चन्द्र प्यारे तुम लोचन चकोर मोर, तुम जगतारे हम 'छतारे' उचारे हैं।
छत्रसाल मीत मित्रजा के तुम व्रजराज, हमहूं कलिंदजा के कूल पै पुकारे हैं।
तुम गिरधारी हम कृष्ण व्रतधारी, तुम दनुज संघारे हम यवन प्रहारे हैं॥

—ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल—छत्रसाल ग्रंथावली

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को भी आश्रय प्रदान किए जाने के प्रमाण मिलते हैं। शिवाजी ने ब्रजभाषा-काव्य को राष्ट्र की साहित्यिक सम्पर्क भाषा के नाते से ही अप्रतिम संरक्षण प्रदान किया था। भूषण, मतिराम, कवि कलश, सुखदेव तथा कुलपति मिश्र इसके प्रमाण हैं। दशम गुरु गोविन्द सिंह के आश्रय में पंजाबी और ब्रजभाषा के ५२ कवि उपस्थित थे। भारत के केन्द्रीय प्रदेश बुन्देलखण्ड में स्वतंत्रता का विजय-खंभ गाड़नेवाले छत्रसाल बुन्देला के दरबार में बुन्देली एवं ब्रजभाषा के ८२ कवियों को आश्रय प्राप्त हुआ था।[1] छत्रसाल के शासनकाल में इन कवियों को दिए गए सम्मान का एक मात्र आधार इन कवियों और उनकी कविता की प्रयोजनवत्ता ही थी। इस कथन के प्रमाणास्वरूप कवियों को दी जानेवाली जीविका सम्बन्धी सनदों में छत्रसाल की ओर से लिखेजानेवाले छन्द को उद्धृत करना उचित होगा[2]—

आवत आप कृपा करिकै, छत्रसाल कहै उठि आदर कीजै।
सारद कंठ बसै जिनके, तिनके ढिग बैठ सुधारस पीजै॥
तार जराय जवाहिर दै, गज वाजन दै सनमानहिं कीजै।
कीरति के बिरवा कवि हैं, इनको कबहूँ कुम्हलान न दीजै॥

—कृष्णकवि रचित 'बुन्देलखण्ड के कवि', पृ० ४७

छत्रपति शिवाजी के प्रेरणा-स्रोत समर्थगुरु रामदास जी ने अत्यंत ओजस्वी वाणी में दासबोध में **'कवेश्वरस्तवन'** किया है। इस स्तवन के माध्यम से आलोच्य युग में कवि की महत्ता का अनुमान सहज में ही किया जा सकता है। समर्थ की यह रचना इतनी भाव-पूर्ण है कि उसका रसास्वादन मूल भाषा में ही उचित होगा। पूरी रचना दासबोध, दशक पहिला, समास सातवाँ में देखी जा सकती है। उसका एक अंश यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

---

१. बुन्देलखण्ड का इतिहास (कृष्ण कवि पृ० २८६–८८ में ५४ कवियों के नामों को शोधपूर्वक उपस्थित किया है। उनका कहना है कि चरखारी राज्य के संग्रहालय में सभी ८२ कवियों का परिचय और अधिकांश कवियों का साहित्य भी विद्यमान था। इस सामग्री का उन्होंने दर्शन तो किया, किन्तु उसके अध्ययन के उपयुक्त अवसर से वंचित रहे।

२. औरंगजेब का सामना करने के लिए दाराशुकोह की ओर से राजा जसवंत सिंह राठौर को नियुक्त किया गया था। उज्जैन के निकट क्षिप्रा नदी के तटपर 'धरमत' नामक स्थान में राठौर रतन सिंह को सेनापति नियुक्त करके जब जसवंत सिंह मारवाड़ जाने के लिए अपने स्वामिभक्त सरदारों द्वारा राजी कर लिया गया, तो रतन सिंह ने 'जौहर' करने का निश्चय करते हुए दरबार में उपस्थित कवि 'खड़िया जागा' की ओर अर्थपूर्ण दृष्टि से देखा था। उक्त कवि ने 'खड़िया जागारी वचनिका' नामक इतिहास काव्य रचकर इस वीर के सुयश को अमर कर दिया है। इस रचना में कवि और उसके नायक के युग परिवेश तथा उनके पारस्परिक संबंधों की झाँकी बड़े ही मार्मिक शब्दों में सुलभ है। डॉ० रघुवीर सिंह जी ने इस ग्रंथ को संपादित करके प्रकाशित कराया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आतां वंदू कवीश्वर। जे शब्द सृष्टी चे ईश्वर। ना तरी हे परमेश्वर। वेदावतारी ॥१॥ की हैं सरस्वतीचें निजस्थान। की हैं नाना कलांचें जीवन॥ नाना शबदांचे भुवन। यथार्थ होय ॥२॥ कीं हें पुरुषार्थोचें वैभव। कीं हे जगदीश्वराचें महत्व। नाना लाघवें सत्कीर्तीस्तव। निर्माण कवी ॥३॥ की हे शब्द रत्नांचे सागर। की हे मुक्तांचे मुक्त सरोवर। नाना वुद्धी चे वैरागर। निर्माण जाले ॥४॥

कवि मुमुक्षाचें अंजन। कवि साधकांचें साधन। कवि सिद्धांचें समाधान। निश्चयात्सक ॥१०॥ कवि स्वधर्माचा आश्रयो। कवि मनाचा मनोजयो। कवि धार्मिकाचा विनयो। विनय कर्ते ॥११॥ कवि वैराग्याचें संरक्षण। कविभक्तांचें भूषण। नाना स्वधर्म रक्षण। तेहे कवी ॥१२॥

□ राष्ट्रीयता के कर्णधार महाकवि भूषण :

इस इतिहास-परिप्रेक्ष्य की उपेक्षा करके किया गया रीतिकालीन साहित्य का मूल्यांकन ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रांति पूर्ण हो गया है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अतिरिक्त 'भूषण' एवं 'लाल' जैसे समर्थ कवि की ओर कोई भी समर्थ अलोचक नहीं आकृष्ट हुआ।[1] यह हिन्दी का ही नहीं देश के इतिहास की दृष्टि से भी दुर्भाग्य का विषय है।

महाकवि भूषण की रचनाओं के अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि उनका काव्यादर्श लोक-रक्षा की भावना से ही अनुप्राणित था। संतों की रचनाओं में प्राप्त राजनैतिक संकेतों के विकास का अध्ययन करने की दृष्टि से भूषण की रचनाओं को आदर्श रूप में उपस्थित किया जा सकता है। जिस प्रकार महात्मा तुलसीदास जी ने 'राम' के लोक रक्षक चरित्र को आदर्श मानकर उसे सुव्यक्त करने के लिए रामायण की रचना की थी, उसी प्रकार की श्रद्धा समर्पित भावना से शिवाजी को अपना आदर्श नायक मानकर महाकवि भूषण ने 'शिवराज भूषण' की रचना की है। दोनों कवियों की मूल भावना में यदि कोई अंतर है, तो बस यह है कि तुलसी के राम पारब्रह्म परमेश्वर एवं पौराणिक राम हैं, जब कि भूषण के चरित् नायक शिवाजी हाड़ मांस के एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। यदि दुर्योधन को नष्ट करनेवाले पाण्डवों की कीर्ति को अमर करने के लिए व्यास भगवान ने महाभारथ जैसे विशाल ग्रन्थ की रचना की, तो उस दुर्योधन की तुलना में दो गुना दारुण औरंगजेब की चुनौती स्वीकार करनेवाले शिवाजी के यश को अमर करने में भूषण ने अपनी लेखनी को धन्य कर-लिया है।

महाकवि भूषण ने सुस्पष्ट शब्दों में अपने काव्यादर्श को उपस्थित किया है। उन्होंने लिखा है कि शिवाजी मेरी कविता के स्वाभाविक नायक हैं। उनके नायकत्व

१. डॉ राजमल बोरा के ग्रंथ 'भूषण और उनका साहित्य' को अपवाद स्वरूप लिया जा सकता है। इस ग्रंथ में 'भूषण' की राष्ट्रीयता' की समुचित चर्चा भी की गई है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की तीन विशेषताओं को कवि ने प्रमुखता से इंगित किया है। नायक शिवाजी 'सरजा' होने के कारण वीर-रस के आलम्बन हैं। उनकी वीरता से लोकहित का साधन हो रहा था, अतः उसका गायन सत्कर्म का विषय है। सात्विक भाव से अनुप्रेरित होने के कारण उनके चरित्र का तीसरा गुण पवित्रता की खान बन गया है। ऐसे चरित्र नायक को भूषण की वाणी ने उसी तरह वरण किया था, जिस तरह सरस्वती ने वेदों के गायक ब्रह्मा को अपना बना लिया था। इतिहास-पुरुष शिवाजी का चरित्र वर्णन करके 'भूषण' के अनुसार उनकी वाणी रूपी सरस्वती धन्य हो गई है—

ब्रह्म के आनन तें निकसे तें अत्यंत पुनीत तिहूँ पुर मानी।
राम जुधष्ठिर के बरने बलमीकहुँ व्यास के संग सुहानी।
विक्रम भोजहुँ के गुन गाय कै, भूषन पावनता जग जानी।
पुन्य पवित्र सिवा सरजै बरम्हाय पवित्र भई बर बानी।। —छं० २५३

कवि की दृष्टि का औचित्य समझने के लिए शिवाजी विषयक उसकी भावनाओं को समझने की आवश्यकता है—

आज इहि समै महाराज सिवराज तुही, जगदेव जनक जजाति अंबरीक सो।
भूषन भनत तेरे दान-जल-जलाधि में, गुनिन को दारिद गयो वहि खरीक सो।
चंदकर किंजलक चाँदनी पराग, उड़-वृंद मकरंद बुंद पुंज के सरीक सो।
कंद सम कयलास नाक-गंग-नाल, तेरे जस-पुंडरीक को अकास चंचरीक सो।

—छं० ३२६

जिस प्रकार ब्रह्मा के स्वरूप को वेद के शब्दों के अतिरिक्त अन्य किसी साधन से नहीं जाना जा सकता, उसी प्रकार शिवाजी के सुयश-सागर (व्यक्तित्व की सम्पूर्णता) की जानकारी के लिए भूषण की वाणी के अनुसरण का महत्व है। भूषण के समीक्षकों को यह बात हर क्षण स्मरण रखना चाहिए कि भूषण धनार्जन के अभिप्राय से ही शिवाजी की प्रशस्ति नहीं लिख रहे थे। यह एक संयोग मात्र है कि भूषण को पुरस्कार स्वरूप अकूत धनराशि, अकल्पित पुरस्कार तथा स्थायी कवि यश की प्राप्ति हुई है। यदि कवि के अन्तःकरण में धन-लिप्सा की ही प्रधानता रही होती, तो वह देश के समस्त सामन्त वर्ग की भर्त्सना नहीं करता।[1] कवि ने साफ़ लिखा है

१. 'मतिराम ग्रंथावली' की भूमिका में स्वर्गीय पं० कृष्णविहारी मिश्र ने पृ० १७९ में एक कवित्त उद्धृत किया है। इस कवित्त के संबंध में कहा जाता है कि 'भूषण' कवि द्वारा पुरस्कार अस्वीकार किए जाने पर कुमायूँ नरेश सभी कवियों से रुष्ट हो गये थे। राजा ने अपने दरबार से जब सभी भाषा-कवियों को विदा करने का आदेश दे दिया, तो उक्त राजा के समक्ष ही भूषण ने यह कहा था कि शिवाजी का पुरस्कार पाने के बाद मेरे मन में अब किसी अन्य का पुरस्कार

(शेष अगले पृष्ठ पर)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कि एक शिवाजी को छोड़कर अन्य किसी राजघराने में इस समय जीवन शेष नहीं रह गया है। मुग़ल बादशाहों की चँवर हाँकनेवाले राजपूत राजा निर्वीर्य हो गये हैं। आदर्शों से रहित होने के कारण ये लोग क्षय ग्रस्त रोगी के ही समान जीवित कहे जा सकते हैं— **'भूषण तेरे ही राते प्रताप, सपेद लखे कुनरा नृप सारे।'**

इतना ही नहीं राजकुलों की निर्वीर्यता की खुले शब्दों में भूषण की कविता में भर्त्सना की गई है। राजकुलों की आलोचना कुछ दिनों पूर्व तक इतने तीखे शब्दों में नहीं की गई थी। इतना यथार्थवादी, लोकवादी और निर्भीक कवि हिन्दी के संपूर्ण इतिहास में दूसरा नहीं है--

बैठतीं दुकान लैकै, रानी रजवारन की,
तहाँ आइ बादसाह राह देखै सब की।
बेटिन को यार और यार है लुगाइन कौ,
राहन कै मार दावादार गये दब की॥
ऐसी कीन्हीं बात तौऊ कोउवै न कीन्हीं घात,
भई है नदानी बंस छत्तिस में कब की।
दच्छिन नाथ ऐसी देखि धरे मूँछों हाथ,
शिवाजी न होतो तो सुनति होती सब की॥ [1]

—छंद ४७०

संत जनोचित संयत शब्दों में प्राणनाथ जी ने भी राजकुलों का ऐसा ही यथार्थ चित्रण किया है।[2] श्री गु० प्र० सूरज ग्रन्थ में भी राजकुलों में क्षात्र-धर्म-पतन का उल्लेख किया गया है। **'छत्रिन कुलते युद्ध टर्‌यो है'** इत्यादि। प्रसंगानुकूल युद्ध

(शेष पिछले पृष्ठ से)
लेने की इच्छा नहीं रह गई है। भूषण की रचनाओं में प्रकट उनके व्यक्तित्व से ऐसा उत्तर देने की पूर्ण सम्भावना प्रकट होती है। इसी अवसर पर राजा का क्रोध शांत करने की दृष्टि से मतिराम कवि ने ऐसा छंद पढ़कर सुनाया कि कवियों को निष्काषित करने का आदेश रोक दिया गया।

१. 'सुनति होती सबकी' यह पद उस युग में सर्वाधिक लोक-प्रिय समस्या के रूप में चर्चित प्रतीत होता है। भूषण की रचनाओं में अनेक बार हुई इस पद की आवृत्ति इस तथ्य की पुष्टि करती है। इन समस्या पूर्तियों के द्‌वारा जनमत तैयार करके साम्राज्यवाद के विरोधियों को जन-समर्थन दिलाने का महत्वपूर्ण कार्य संपादित किया गया था। दुर्गादास के सम्बन्ध में ऐसी ही उक्ति प्रसिद्ध है—

ढंवक ढंवक ढोल बाजे, दे दे ठौर नगारा की।
आसे घर दुर्गा नहिं होतो, सुन्नत होती सारांकी॥

—जोधपुर राज्य का इतिहास, मुंशी देवी प्रसाद, पृ० ४८३

२. देखिये छत्रसाल के राजतिलक के अवसर पर गाया गया 'किरंतन' जिसे पिछले पृष्ठ में उद्‌धृत किया जा चुका है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का अभिप्राय न्याय युद्ध से ही है। जनता का पक्ष लेकर युद्ध करने से स्थान पर राजा लोग बादशाहों के पक्ष धर बन कर उनकी सेवा में लग गये थे। महाकवि भूषण जैसे निर्भीक एवं स्पष्टवादी कवि को पाकर उस युग का काव्य क्रान्ति के पुरोधा एवं जन जागरण के प्रकाश-पुंज रूप में ही प्रतिष्ठित है। धनार्जन और पदार्जन की आकांक्षा से प्रेरित होने के स्थान पर किसी आदर्श विशेष से प्रेरित होनेवाला भूषण जैसा कवि ही ऐसी मान्यता प्राप्त कर सकता था कि बीर रस के कवित्तों को कवि नामों की छापों को बदल बदल कर उन्हे भूषण की रचनाएँ कहने का रिवाज सा पड़ गया। शिवाजी के धर्म रक्षक रूप में कवि की भाव-तल्लीनता का आधार खोजे बिना हम भूषण के शब्दों के मर्म को नहीं छू सकते। शिवाजी के चरित्र में इसी आदर्श की प्रतिच्छवि के लिए भूषण ने **'राते प्रताप'** विशेषण का प्रयोग किया है। मुग़ल बादशाह को चँवर हाँकनेवाले अन्य राजागण उनके चरित नायक नहीं हो सकते थे। अतः भूषण के चरित नायक शिवाजी के व्यक्तित्व के आदर्श—स्वरूप की चर्चा करना आवश्यक प्रतीत होता है।

इसमें संदेह नहीं कि शिवाजी का मूल उद्देश्य किसी क्षेत्र विशेष पर अधिकार करके एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना करना था। किन्तु भूषण के काव्य को विवेचन का माध्यम बनाने पर उत्तर इतना आसान नहीं प्रतीत होता। यदि शिवाजी का यही लक्ष्य था, तो अपने युग के अन्य राजाओं से वे किस अर्थ में भिन्न थे? यदि इतिहासकार (जस्टिस) रानाडे की बात को ही सत्य मान कर यह कहें कि शिवाजी 'दास बोध' में निरूपित महाराष्ट्र धर्म की कल्पना से प्रभावित होकर केवल महाराष्ट्र में बसनेवाली मराठा जाति को जाग्रत और संघटित करने के लक्ष्य से ही प्रेरित हुए थे, तो संशय होता है कि इस उद्देश्य के साथ भूषण की भावनाओं का तादात्म्य किस रूप में संभव हुआ? यदि बात केवल इतनी ही थी, तो उसके लिए भूषण को हिमालय एवं नेपाल की तराई के राज्यों सहित पूरब-पश्चिम तथा दक्षिण एवं उत्तर के समस्त राज-ठिकानों की गणना करके यह घोषणा करने की आवश्यकता नहीं थी कि इस समस्त क्षेत्र का एक मात्र त्राता और आशा-स्तम्भ शिवाजी ही है।[1]

तथ्य तो यह है कि शिवाजी ने किसी एक प्रदेश के लिए नहीं, वरन् पूरे देश को स्वतंत्र करने की राजनैतिक प्रतिबद्धता (कमिटमेण्ट) के साथ भारत को उपनिवेश बनाकर यहाँ का सर्वस्व हरण करनेवाली विदेशी साम्राज्यवादी शक्तियों के साथ संघर्ष छेड़ा था—

---

१. मोरंग जाहुँ कि जाहुँ कुमाहुँ कि श्री नगरै हु कबित्त बनाए।
बांधव जाहुँ कि जाहुँ अमेर कि जोधपुरै कि चितौरहिं धाए।
जाहुँ कुतुब्ब कि ऐदिल पै कि दिलीसहुँ पै किन जाहुँ बुलाए।
भूषण ह्वै है निहाल मही गढ़पाल सिवाहिं की कीरति गाए॥ —छं० २३०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

"पूरब पछाहँ देस दच्छिन ते उत्तर लौं,
जहाँ पातसाही, तहाँ दावा सिवराज कौ ॥"[1]

प्रस्तुत चर्चा-प्रसंग में पूछा जा सकता है कि यदि शिवाजी के हृदय में राष्ट्रीयता का भाव विद्यमान था, तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने किस सर्वमान्य राजनैतिक सिद्धान्त की कल्पना की थी ? भूषण की रचनाओं के सामने होने पर इन प्रश्नों का उत्तर देना अत्यंत सरल है, क्योंकि शिवाजी के सम्वन्ध में उनकी दृष्टि तात्विक एवं वस्तुपरक रही है। हिन्दुत्व के उद्धार की इस युग में सर्वत्र कामना की जा रही थी, जो भाव वातावरण में विद्यमान रहता है, उसी को ग्रहण करने से युग द्वारा मान्यता मिला करती है। इसी दृष्टि से **"हिन्दू पत पातसाही"** के नारे के रूप में शिवाजी द्वारा इसी भाव को मूर्तिमान कर लिया गया था। यह नारा शुद्ध रूप से एक राजनैतिक स्वतंत्रता का नारा था, जिसे धार्मिक संकीर्णता का नाम देकर उसकी मूल भावना पर पर्दा डालने का कुचक्र किया गया है। महाकवि भूषण शिवाजी को महाराष्ट्र का ही प्रतिनिधि राजा न मानकर हिन्दू-धर्म-संस्कृति के परित्राण-कर्ता—रूप में जानते-मानते थे। उत्तर भारत के मंदिरों के ढहाने तथा निरीह हिन्दू प्रजा को भाँति भाँति के त्रास देने के किसी अवसर पर ही उन्होंने औरंग़जेब को समझाते हुए कहा था—

लाज धरौ सिवजू सों लरौ, सब सैइयद मीर पठान पठाइ कैं।
भूषन ह्वाँ गढ़ कोटिन हारे, इहां तुम क्यों अरे छाइ रिसाइकैं ॥
हिन्दुन के पति सों न बिसात, सतावत हिन्दु गरीबनि पाइकैं।
लीजै कलंक न दिल्ली के बालप, बालम आलमगीर कहाइकैं ॥
—छं० २३५

भूषण की दृष्टि में बहुसंख्यक जनता के कल्याणार्थ उसके धर्म की रक्षा में न्यायोचित रूपसे शस्त्र ग्रहण करनेवाले हिन्दूपति पातशाह शिवाजी की प्रतिष्ठा दिल्ली के बादशाह आलमगीर औरंगजेब की अपेक्षा अधिक थी—

भन कवि भूषन को सिव की भगति जीत्यौ,
सिव की भगति जीती साधू जन-सेवा ने ॥

---

१. देश की इस सीमा का पुष्ट प्रमाण भी है—
अंग अरषंग दरभंग बंग पंगु देश, देसपति संसत बसत दरगाह से।
तलफ तिलंगनि कलिंगनि फिरंगनि लौं, दिल्लीपति से प्रताप धाम धुरैं लाह से।
झारखंड दंडव बुंदेलखंड बलवंड, हिन्दुन की हद्द साहै सेवत सिपाह से।
सेतु बंध सिंघल केरल सूप नायक लौं, भूपर विरूपिये न भूप फतेसाह से।"
—फतेह प्रकाश, पृ० ५७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साधुजन जीते या कठिन कलिकाल,
कलिकाल जीत्यो एक महाजान महि मेवा ने ॥
जगत में जीते महाजान महाराजन ते,
महाराज बावनऊ पातसाहि लेवा ने ॥
पातसाह बावनौ दिली के पातसाह,
दिल्ली पातसाह हिन्दूपति पातसाह सेवा ने ॥ —छं २१८

भूषण ने अनेक प्रसंगों में शिवाजी के लिए 'हिन्दूपति' विशेषण का व्यवहार किया है। इस प्रकार शिवाजी को समस्त भारत का युग-नायक बनाने का श्रेय भूषण की ही कविता को प्राप्त है। शिवाजी द्वारा धारण किए गए आदर्शों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने का काम भी इसी कवि के द्वारा संभव हुआ था। १७ वीं शताब्दी के वातावरण में इस नारे का कितना व्यापक और कितना गहरा प्रभाव पड़ा होगा, इसका अनुमान आज भी किया जा सकता है। शिवाजी के प्रशंसकों और समर्थकों को उन्होंने एकता और संगठन का महत्व बताने का भी प्रयत्न किया था। इस प्रकार शताब्दियों से छिन्न-भिन्न हिन्दू राष्ट्र की तंद्रिल जन चेतना को झकझोर कर जाग्रत करने के अभियान में उन्होंने प्राण-पण से शिवाजी के व्यक्तित्व को उभारा था। तत्वतः उनकी अचूक काव्य-प्रतिभा राष्ट्र-हित में ही समर्पित थी—

आपस की फूट ही ते सारे हिन्दुवाने टूटे,
टूट्यो कुल रावन अनीति अति करते ॥[१] —छं० सं० ४७७

कवि एवं उसके काव्य-नायक शिवाजी का विश्वास था कि यदि हिन्दुओं की फूट-भावना दूर हो गई, तो यह सोई हुई जाति एक सशक्त राष्ट्र के रूप में विश्व के रंग मंच में अपने गत गौरव का उद्धार करलेगी। इतिहास की दृष्टि से यह समझना भूल होगी कि शिवाजी केवल मुगल सम्राट औरंगजेब के ही विरोधी थे। वास्तव में वे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने भारत में उपनिवेश बनानेवाली समस्त विदेशी शक्तियों के प्रभाव को समाप्त करने के लिए कमर कसी थी। इस युग में अनेक विदेशी शक्तियाँ भारतवर्ष में उपनिवेश स्थापित करने के उद्देश्य से अपने मोहरे बिछाने में संलग्न थीं। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार उपनिवेश स्थापित करने में आठ राजनैतिक शक्तियाँ दत्त-चित्त थीं। विदेशी मूल की इन सभी शक्तियों को शिवा जी ने अपना (हिन्दू राष्ट्र का) राजनैतिक शत्रु घोषित किया था। तत्कालीन इतिहास के पन्ने पलटने से

---

१. तुलना कीजिए—

"कुलिएं" छकायौ रे बिलड़े जुदे किए मोह अहं के मदमाते।—कुलजम स्वरूप

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ज्ञात होताहै कि पुर्तगाली, डच, अँग्रेज तथा फ्रांसीसी इन चार यूरोपियन जातियों के अतिरिक्त पश्चिमी घाट के सीदी (अवीसीनियन हब्शी) गोलकुंडा और वीजापुर के शिया और दिल्ली का मुग़ल बादशाह औरंगजेब ये आठों शक्तियाँ विदेशी थीं। इन सभी के प्रभुत्व को अस्वीकार करने के फलस्वरूप हिन्दू समाज के एक मात्र नेता शिवाजी संसार की उपनिवेशवादी शक्तियों के समक्ष अकेले पड़ गए थे। फिर भी उनका संघर्ष रुका नहीं। युद्ध का उत्साह उनके हृदय में क्षण भर के लिए भी मंद नहीं पड़ा। भूषण का यह दोहा समस्त इतिहास संदर्भ की व्यंजना करने में कितना समर्थ है—

"चहूँ ओर बैर महि मेरु लगि, साहि तनै साहस झलक।
फिर एक ओर सिवराज है, एक ओर सारी खलक॥" —दो० ४८३

शिवाजी की अष्ट कोषी मुद्रा समस्त भारत-भूमि को विदेशी चंगुलों से मुक्त कराने के महत् संकल्प ही की प्रतीक थी।[1] अष्ट प्रधानों की नियुक्ति में भी यही कल्पना साकार की गई थी। आठ दिशाओं के स्वामी आठ प्रधानों का लक्ष्य था कि वे आठों दिशाओं में फैली संत्रापक शक्तियों से जनता को मुक्ति दिलायेंगे। भूषण की रचनाओं में इन तथ्यों को पुष्ट करनेवाले अनेक अन्तर्साक्ष्य विद्यमान हैं—

"भूषन भनत फरांसीस अँगरेज मारि,
हबसी फिरंगी मारे उलटि जहाज हैं।"
तथा
"तेरी धाक ही ते नित हबसी फिरंगी औ,
बिलायती बिलंदे करैं बारिधि-बिहरनो।
भूषन भनत बीजापुर भागनेर दिल्ली,
तेरे बैर भयो उमरावन को मरनो॥

---

१. लाल कवि के 'छत्रप्रकास' में स्पष्ट कहा गया है कि युवक छत्रसाल को विद्रोह की प्रेरणा प्रदान करने में आठ पातसाहियों के साथ संघर्ष करनेवाली शिवाजी की साहसशीलता की ही प्रमुख भूमिका रही है—

आठ पातसाही झकझोरे।
सूबनि बाँधि डाँड़ लै छोरे॥

विदेशी शक्तियों का प्रभुत्व समाप्त करने की लहर महाराष्ट्र एवं बुंदेलखण्ड से लेकर श्रीनगर गढ़वाल राज्य तक फैल गई थी। गढ़वाल के समकालीन राजा मेदनीशाह के पुत्र फतेहशाह ने सन् १७०० ई० के आसपास एक अष्टकोणी मुद्रा जारी करके शिवाजी के आन्दोलन को समर्थन दिया था। एतदविषयक धर्मयुग में छपे मेरे लेखों का समर्थन कैप्टेन शूरवीर सिंह ने भी किया है।—'धर्मयुग' जून २८, १९७४।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बीच-बीच उहाँ केते जोरसों मुलक लूटे,
कहाँ लगि साहस शिवाजी तेरो बरनो ।
आठो दिगपाल, त्रास आठ दिसि जीतिबे कौ,
आठ पात साहन सों, आठों जाम लरनो ।।
—छं० सं० ४५४

☐ 'हिन्दूपत पातसाही' की राजनैतिक अवधारणा :

'हिन्दूपत पातसाही' की अवधारणा के मूल में राष्ट्र के भौगोलिक एवं राजनैतिक स्वरूप-बोध के साथ राष्ट्रीय भाव को लक्ष्य करनेवाला एक और उदाहरण प्रस्तुत करना उचित होगा। जिस प्रकार गुरु गोविन्द सिंह जी ने चिड़िया कही जानेवाली हिन्दू जनता को बाज़ मानेजानेवाले मुग़ल सैनिकों के समक्ष सवाए रूप में खड़ा कर दिया था, वैसी ही सफलता शिवाजी छत्रसाल और दुर्गादास को मिली थी। उन्होंने बारगीरों (ऐसे सवार जिनके पास अपना घोड़ा नहीं होता था, किन्तु सेना के किसी भी सरकारी घोड़े पर सवार होकर युद्ध करने के लिए नियुक्त थे) के हाथों से बड़े-बड़े वज़ीरों को धराशायी करा दिया था। किसी शोषित और पराजित जाति की मुक्ति और उसके सम्मान की रक्षा के लिए यदि शस्त्र उठाना अपराध है, तो शिवाजी और उनके सुयश के प्रसारक भूषण दोनों ही व्यक्ति जनता के पक्षधर होने के लिए दोषी थे—

वारिधि के बीच बसं जेते सुरतान तेते,
पेसकस लै जिहाज तिनकी न तारनै ।।
बीजापुर गोलकुण्डै आगरै दिल्ली में,
बारगीरन के हाथनि वजीरन को मारनै ।।
भूषन भनत महाराज सिवराज आज,
तेरोई जनम धन्य भू मैं जस कारनै ।।
राजा ह्वै कै डंडियै पटेल सम पातसाह
कोटि पातसाही या रजाई पर वारनै ।।
—छं० सं० ५०२

भूषण के काव्यानुशीलन से तात्विक रूप में यह प्रश्न उभरता है कि यदि शिवाजी और भूषण की संकल्पना में हिन्दू पति पातसाही की राजनैतिक अवधारणा इस विकसित रूप में विद्यमान थी, तो व्यावहारिक व्यवस्था सम्बन्धी प्रारूप भी अवश्य ही रहा होगा। अन्य हिन्दू राजाओं के प्रति शिवाजी क्या दृष्टिकोण रखते थे ? भूषण, सुखदेव, मतिराम एवं कुलपति मिश्र जैसे समर्थ कवि शिवाजी के पक्ष में लोकमत जाग्रत करने के लिए प्रचारक के रूप में जब अन्य राज ठिकानों से सम्पर्क साधते रहे होंगे, तब उनके समक्ष उन राजाओं द्वारा यह प्रश्न किसी न किसी रूप में अवश्य ही रखा गया

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होगा । शिवाजी के प्रमुख प्रवक्ता भूषण ने जो स्पष्टीकरण दिया होगा, उस उत्तर का अन्तर्साक्ष्य उनकी रचनाओं में विद्यमान है । उद्धृत दोहे का व्यंग्यार्थ ग्रहण करने से हिन्दूपत पातशाही की राजनैतिक 'प्रतिज्ञा' (कमिटमैण्ट) स्पष्ट हो जाती है । भूषण स्पष्ट रूप से कहते हैं कि विदेशी मूल की राजशक्तियाँ शिवाजी की स्वाभाविक शत्रु हैं, किन्तु भारतीय मूल के लोगों के प्रति उनके हृदय में तटस्थता का भाव है—

'हिन्दुन सौं तुरकिनि कहत, तुम कौ सदा संतोष ।
नहिन तिहारे पतिन पर, सिव सरजा को रोष' ॥—छं० सं० १५२

लाल कवि के 'छत्रप्रकास' में इस प्रश्न को अपेक्षाकृत अधिक विस्तार और व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया गया है । बिजौरी नामक ग्राम में अपने बड़े भाई रतन शाह के पास पहुँचकर छत्रसाल ने ज्येष्ठ भ्राता से मुग़ल साम्राज्य के विरुद्ध शस्त्र उठाकर विद्रोहियों का समर्थन करने का प्रस्ताव रखा था । रतन शाह ने इस प्रस्ताव पर वैसा ही स्पष्टीकरण चाहा था, जिसका हम संकेत कर चुके हैं । अपने भाई के सम्मुख प्रतिपक्ष की नीति का स्पष्टीकरण करते हुए छत्रसाल ने जो शब्द कहे थे, वे इस प्रसंग को कुछ-कुछ स्पष्ट कर सकते हैं—

अपनो वर्न धर्म प्रतिपालौ, साहन (बहुवचन) **के दल दौरि उसालौ ।**
जे भूमिया हम में मिलि रैहैं, तेई संग फौज के ह्वै हैं ।
जे न लागि हैं संग हमारे, दोष न लागै तिन के मारे ।
जे उमराव (शाही अधिकारी) **चौथ भरि देहैं, तेई असल देस को पेहैं ।**
जिनमें ऐड़ जुद्ध की पावैं, तिन पै उमगि अस्त्र अजमावैं ।
तेजु छाई है दिसन में, देस आइ है हाथ ।
सत्रु भागि हैं मानि भय, लोग (जनता) **लागि हैं साथ ॥**

—छत्रप्रकास अध्याय १२

इन तथ्यों के प्रकाश में कहा जा सकता है कि 'हिन्दूपत पातसाही'[1] के आधार पर देश की हिन्दू जनता को संगठित करके सम्पूर्ण व्यवस्था को एक संघीय स्वरूप

---

१. भूषण की कविता में किसी प्रकार का राष्ट्र संगठन का उद्देश्य है, इसे अँग्रेज़ी पढ़े लिखे इतिहासकार हास्यास्पद समझते हैं । उनकी "वैज्ञानिक" दृष्टि के अनुसार भूषण एक कम्यूनल कवि हैं । इन लोगों का पदों की दृष्टि से इतना महत्व है कि इनकी मान्यताओं के प्रभाव-वश आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जैसे वरिष्ठ विद्वान के हृदय में भी संदेह का अंकुर जाग्रत हो गया है । 'भूषण' ग्रन्थ के पृ० ८६–८७ में उठाये गये उनके संदेह को ध्यान में रखकर संपूर्ण इतिहास परिप्रेक्ष्य को सामने रखकर इस प्रश्न की चर्चा की जा रही है । हमें हर्ष है कि डॉ० राजमल वोरा ने भूषण की राष्ट्रीयता पर अपने ग्रन्थ "भूषण और उनका साहित्य" में विस्तृत विवेचन किया है । आशा है इन पंक्तियों के पाठक उक्त ग्रंथ का भी अवलोकन अवश्य करेंगे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रदान करने का संकल्प रीति-युग की राजनीति का प्रमुख स्वर था। बाजीराव प्रथम ने इस राजनैतिक संकल्पना को व्यावहारिक रूप देने के लिए जीवनपर्यन्त अथक प्रयत्न किया था। बाजीराव के नेतृत्व को सफल बनाने के लिए ८० वर्ष की वृद्धावस्था में भी महाराज छत्रसाल ने जिस त्याग-भावना और उदारता का परिचय दिया है, उसे सदैव आदर के साथ स्मरण किया जाएगा। उत्तर भारत में मराठों की जड़ें मजबूत करने के लिए ही उन्होंने अपने विशाल राज्य का तिहाई भाग वसीयत के रूप में बाजीराव के नाम लिख दिया था। शिवाजी की पंक्ति में श्री गुरु गोविन्दसिंह जी, छत्रसाल और दुर्गादास राठौर जैसे जन-नायकों के माध्यम से इस नारे ने देश-व्यापी मान्यता प्राप्त की थी। इन जन नायकों की पंक्ति में उत्पन्न होनेवाले छत्रसाल ने मुग़लों को एक धेला न देकर मराठों को 'तिहरा' दे देने के पीछे जो भावना दर्शायी थी, उसे समझने की आवश्यता है। प्रारम्भ में सवाई जयसिंह ने भी इस योजना के प्रति पर्याप्त उत्साह प्रदर्शित किया था, किन्तु वे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से ऊपर नहीं उठ सके थे। सूर्यमल के 'वंशभास्कर' में इतिहास के इस उपेक्षित परिच्छेद पर सम्यक प्रकाश डाला गया है।[1] १७३७ ई० में जब खिन्न हृदय से बाजीराव ने दिल्ली पर आक्रमण किया, तो नेताओं की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं और उनके निहित स्वार्थों के कारण योजना का महल ही नहीं ढहा, बल्कि महल की नींव भी बैठ गई। बाजीराव प्रथम के उपरांत शिवाजीकालीन राजनैतिक आदर्शों की प्रेरणा पृष्ठ भूमि में चली गई तथा उसके स्थान पर मराठों के समस्त परवर्ती राजनैतिक क्रिया-कलापों में राज्य एवं धन की वासना ही मुख्य हो गई। इसीलिए वे क्रमशः अप्रिय होते चले गये। जो उनके प्रशंसक और सहयोगी थे, वे भी उनकी ओर से उदासीन बन गए।

☐ क्या भूषण के काव्य में निहित हिन्दूपत पातसाही का संकल्प साम्प्रदायिक था?

'हिन्दूपत पातसाही' के प्रसंग में यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण है कि इस राजनैतिक

---

१. वंश भास्कर भाग षष्ठ पृ० (३२३३–५८) में जो सामग्री उपलब्ध होती है, वह अत्यन्त विश्वसनीय है। उस सामग्री के साथ यदि इसी अवधि के मराठी भाषा के प्रकाशित पत्रों (सिलेक्शन्स फ्राम पेशवा दफ्तर) तथा भगवंतराय खीची के इतिहास को एक साथ जोड़कर पढ़ने का प्रयत्न किया जाय, तो इस युग की ऐतिहासिक वस्तुस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। दुर्भाग्य से भाषा की जटिलता और तथ्यों की नवीनता की दृष्टि से अँग्रेजी भाषा की शार्टकट विधा से उपजे हुए कुछ इतिहासकारों ने 'वंश भास्कर' जैसे ग्रंथ एवं सूर्यमल्ल जैसे इतिहासकार को तिरस्कृत करनेवाली उच्छृंखल उक्तियों का आलेखन किया है। भारत के विद्वत् समाज में ऐसी विषम स्थिति कभी नहीं थी। अँग्रेजी भाषा की माया जो कराये, वही थोड़ा है—
"रमइया तोर दुलहिन लूटै बजार।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नारे की अवधारणा में इस्लाम धर्म एवं भारत के मुसलमान नागरिकों के प्रति हिन्दू शक्तियों ने क्या दृष्टिकोण अपनाया था ? क्या भूषण ने भारत की राष्ट्रीयता से सम्बन्धित इस नाजुक प्रश्न पर भी सोच-विचार किया था ? क्या उस युग में भी हिन्दू साम्प्रदायिकता एवं हिन्दू राष्ट्रीयता के बीच एक विभाजक-रेखा खींची गई थी ? उक्त जिज्ञासाओं पर भूषण की रचनाओं के अध्ययन द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनकी रचनाओं में उपलब्ध अन्तर्साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि भूषण धार्मिक कट्टरता एवं राजनैतिक असहिष्णुता के कट्टर विरोधी थे। औरंगजेब की असहिष्णुता के कारण ही भूषण ने उससे शत्रुता मोल ली थी। अपनी रचनाओं में प्रायः सर्वत्र औरंगजेब की कड़ी निन्दा करने में उन्होंने रंच मात्र का भय नहीं किया था। इसके उपरांत भी एक गुढ़े हुए राजनीतिज्ञ की भाँति उन्होंने सुलह समझौते के लिए अपने विचारों के द्वार सदैव खुले रखे थे। जैसे को तैसा उत्तर देना ही उनका कवि सहज स्वभाव था। यह स्वर उस युग की आवश्यकताओं और परिस्थितियों की दृष्टि से औचित्य पूर्ण था। तिकवाँपुर के त्रिपाठी परमानन्द[1] जी न तो कायर थे न भीरु। बादशाह को समझाने बुझाने एवं धार्मिक समभाव का पाठ पढ़ाने की दृष्टि से कवि ने औरंगजेब के पूर्वजों बाबर, अकबर एवं हुमायूँ आदि मुग़ल बादशाहों की सराहना करने में रंचमात्र संकोच नहीं किया था।[2] नरहरि महापात्र, बीरबल एवं गंग आदि भाषा-कवियों की परम्परा उनकी पीठ पर विद्यमान थी।[3] इन पूर्वकालीन भाषा-कवियों की चेतना को विकसित करते हुए भूषण ने स्पष्ट रूप से कहा है कि पिछले मुगल बादशाहों की उदार नीति का विसर्जन कर देने के परिणाम स्वरूप ही दिल्ली के विशाल साम्राज्य के चूले टूट गए हैं। शासन-तंत्र को धराशायी होने एवं जनता की असहायावस्था का अवलोकन करने से कवि-हृदय में मुगलों की उदार परम्परा का

---

१. धर्मयुग साप्ताहिक ८ जून १९७४ के अंक में प्रकाशित लेखक का लेख देखें। राजस्थान अर्काइव्स बीकानेर में प्राप्त पत्रों एवं भूषण की रचनाओं में प्राप्त अन्तर्साक्ष्यों के आधार पर मेरा निश्चित मत है कि भूषण ही उन पत्रों में 'परमानन्द' नाम से उल्लिखित हुए हैं। इस धारणा के समर्थन में अप्रत्यक्ष प्रमाण भी मिले हैं। दक्षिण भारत के संस्कृत कवि परमानंद के साथ उल्लिखित पत्रों की संगति नहीं स्थापित की जा सकती। सर जदुनाथ सरकार समेत सभी मराठा इतिहासकारों को इस नाम की पहचान में धोखा हुआ है।

२. आदि की न जानौ देवी-देवता न मानौ, साँच कहौं सौ पिछानो बात कहत हौं अब की।
बब्बर अकब्बर हुमायूँ हद्द बाँधि गए, हिन्दू औ तुरुक की कुरान वेद ढब की।
इन पातसाहन में हिन्दुन की चाह हुती, जहाँगीर, साहजहाँ साख पूरैं तब की।
कासी हू की कला गई, मथुरा मसीत भई, सिवाजी न होते तौ सुनति होती सब की॥
—भूषण

३. सुकविन सों सुनि सुनि कछुक, समुझि कविन को पंथ।
भूषन भूषन मय करत, सिव भूषन सुभ ग्रंथ॥ —छं० २८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्मरण होने के साथ जनता की दयनीय दशा पर तीव्र सहानुभूति जाग्रत हुई थी। इसके परिणाम स्वरूप उन्होंने सपाट बयानी और दो टूक भाषा में औरंगजेब को संबोधित करते हुए कहा था कि इतने अन्यायों के उपरांत भी सुलह समझौते के द्वार बन्द नहीं हुए हैं। अपनी दुर्नीतियों में संशोधन करके हे आलमगीर ! तुम अपने पूर्वजों के साम्राज्य में पुन. शान्ति और व्यवस्था की स्थापना कर सकते हो। जजिया के प्रश्न पर शिवाजी एवं मेवाड़ के राणा राजसिंह जैसे राज प्रमुखों ने जिसप्रकार के विचारों से प्रेरित होकर औरंगजेब को पत्र लिखे थे, उसी तरह की भाव-चेतना भूषण के उद्धृत छंद में प्रस्फुटित हुई है—

दौलत दिल्ली की पाइ कहाइ आलमगीर,
बब्बर अकब्बर के विरुद बिसारे तैं।
भूषन भनत लरि लरि सरजासों जंग,
निपट अभंग गढ़ कोट सब हारे तैं ॥
सुधर्‌यौं न एकौ काज, भेजि-भेजि वाही काज,
बड़े बड़े वे इलाज, उमराव मारे तैं।
मेरे कहें मेल कर, सिवा जी सौं वैर करि,
गैर करि नैर निज नाहक उजारे तैं ॥—छं० सं० २५६

उद्धृत कवित्त का अंतिम चरण विशेष रूप से द्रष्टव्य है। कवि का कथन है कि तू ने शिवाजी को गैर समझा है। उन्होंने तुझे गैर नहीं बनाया। फिर भी मैं तुम दोनों के बीच संधि करा सकता हूँ।

☐ भूषण ने ही पहला राष्ट्रगीत लिखा है :

भूषण की रचनाओं में धार्मिक-सहिष्णुता एवं उनकी राजनैतिक उदारता को प्रतिपादित करनेवाले साक्ष्यों का अभाव नहीं है। उन्होंने बिना किसी दुराव छिपाव के स्पष्ट शब्दों में कहा है कि देश और देश के निवासियों के कल्याण का व्रत लेने के कारण ही शिवाजी मेरे लिए आराध्य हो गये हैं। शिवाजी के स्थान पर लोक-हित-साधना का संकल्प करनेवाला यदि अन्य व्यक्ति मुझे मिला होता, तो वह भी मेरी वाणी का श्रद्धा-भाजन होता। एक सत्कवि की दृष्टि में हिन्दू एवं मुसलमान, राजा और रंक जैसी बातों का संकीर्ण भेद नहीं हुआ करता। अपने युग में योग्य और उचित व्यक्तित्व की कसौटी के लिए भूषण ने एक ही शर्त लोगों के बीच रखी थी और वह शर्त थी—लोक-हित-साधना। कवि गोलकुण्डा के कुतबशाह, बीजापुर के आदिलशाह एवं दिल्ली के बादशाह औरंगजेब के यहाँ जाने को तैयार था, यदि वे अपने हृदय-परिवर्तन के साथ अपनी नीतियों में संशोधन करने के लिए प्रस्तुत हो गए होते। भूषण के इस आशय को प्रकट करनेवाला एक छन्द प्रस्तुत है—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मोरंग जाहु कि जाहु कुमाहु कि श्रीनगरै हु कवित्त बनाये।
बाँधव जाहु कि जाहु अमेर कि जोधपुरै कि चितौरहि धाए।।
जाहु कुतुब्ब कि एदिल पै, कि दिलीसहुँ पै किन जाहुँ बुलाए।
भूषन ह्वै है निहाल मही, गढ़पाल सिवाहि की कीरति गाए।।

उक्त सवैया भूषण के अध्येताओं के लिए अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसके माध्यम से उनकी कल्पना में निहित हिन्दुस्तान की रूप रेखा एवं इस राष्ट्र के प्रति कवि के भावों की अभिव्यक्ति के प्रमाण स्वरूप इसे पिछले पृष्ठों में उद्धृत किया जा चुका है। यहाँ उसको पुनः उद्धृत करने में हमारा आशय कुछ भिन्न है—

ज्यों केरा के पात में, पात पात में पात।
त्यों सुकविन की बात में, बात बात में बात।।

उक्त छंद का सही मूल्यांकन करने के लिए हमें वर्तमान काल में आना पड़ेगा। यदि बंकिमचन्द्र चटर्जी के आनन्द मठ में लिखे गए मूल 'वन्दे मातरम् गीत' एवं रवीन्द्र नाथ टैगौर के 'राष्ट्र गीत' को सामने रखकर इस 'सवैया' का अनुशीलन किया जाय, तो भूषण को राष्ट्र गीत लिखनेवाले प्रथम कवि के रूप में ही स्वीकार करना होगा। बंकिमचन्द्र की दृष्टि बंगाल अथवा विशाल बंगाल में ही सीमित थी, जबकि भूषण की दृष्टि कहीं ज्यादा व्यापक और उदार है।

भूषण समूचे राष्ट्र को एक ही इकाई के रूप में सोचते-देखते थे, राज्यों और प्रान्तों के रूप में नहीं। इस समग्रता के भाव को क्षेत्रीयता में सीमित करने का प्रयास दुर्भावना पूर्ण है। कवि के शब्द ध्यान देने योग्य हैं—**तेरी करवार भयो दच्छिन की ढाल, भयो हिन्द को दिवाल, भयो काल तुरकान कौ,**' उत्तर और दक्षिण की समष्टि से जो मानचित्र मस्तिष्क में उभरता है, उसी विशाल धरती का स्तवन करके भूषण ने अपनी वाणी एवं अपनी कवि-प्रतिभा को धन्य किया है। आधुनिक विद्वानों की दृष्टि में राष्ट्रीयता शब्द भले ही 'नेशनल्जिम' का अनुवाद बनकर हमारी भाषाओं में समाविष्ट हुआ हो, किन्तु इससे मिलती जुलती अवधारणा भारतीय इतिहास की प्रकृति में सदैव विद्यमान रही है। जब एक राजा दूसरे राजा को पत्र लिखाया करता था, तो सदैव एक मुहावरा लिखा जाता था कि **यहाँ के जो घोड़े और राजपूत हैं, वे आप के हैं। दोनों जगह की हीर पीर लाज सरम एक है।** वीर विनोद में इस आशय के अनेक पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। अतः उसी इतिहास परिप्रेक्ष्य में भूषण की रचनाओं का अनुशीलन उचित होगा। इन रचनाओं के माध्यम से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि १७ वीं शताब्दी में राष्ट्रीय भाव की अवधारणा से ही उस युग की राजनीति का उद्वेलन और संचालन हो रहा था।

संसार के अन्य देशों की तुलना में अपने देश की विशिष्टता का अनुभव होने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से ही नागरिकों के हृदय में विद्यमान राष्ट्रीयता की पुष्टि होती है। भूषण की रचनाओं में यह पक्ष कितना सुस्पष्ट है—

जोर रूसियान को है तेग खुरासान हूकी,
जीति इंगलैंड, चीन हुन्नर महादरी।
हिम्मत अमान मरदान हिन्दुवानहू की,
रूम अभिमान हबसान-हद्द कादरी॥
नेकी अरबान, सान अदब ईरानी त्योंही,
क्रोध है तुरान, ज्यों फरांस फंद आदरी।
भूषन भनत इमि देखिए महीतल पै,
वीर सिरताज सिवराज की बहादरी॥"

State Museum Library Lucknow 7624

—छं० सं० ४८२

भूषण के काव्य में सुव्यक्त होनेवाली राष्ट्रीयता की यह चेतना रीतिकालीन साहित्य के उपलब्ध साक्ष्यों में सर्वत्र विद्यमान है। 'फतेप्रकाश' में प्राप्त एक छंद को हम पिछले पृष्ठों में उद्धृत कर चुके हैं। राजस्थान के डिंगल साहित्य में भी इस चेतना का पूर्ण रूप से प्रस्फुटन हुआ है। इसका साक्षात्कार करने के लिए हमें अपनी आलोचना-दृष्टि में उचित संशोधन करने की आवश्यकता है। कहीं पर यह भाव कथित है, कहीं लक्षित है तथा कहीं ध्वनि एवं व्यंग्य रूप से प्रकट किया गया है। अनेक राजनैतिक कारणों एवं आत्म सुरक्षा की दृष्टि से उस राजनैतिक तानाशाही के युग में कवियों के लिए सांकेतिक एवं व्यंग्यात्मक शैली का अधिग्रहण करना आवश्यक हो गया था।

☐ भूषण की परम्परा और भगवंतराय खीची :

१७३५ ई० में महाराज शाहू के दरबार में उपस्थित ईर्ष्यालु विरोधियों की उपेक्षा करके पेशवा बाजीराव प्रथम ने शिवाजी के 'हिन्दूपत पातसाही' का स्वप्न पूरा करने का संकल्प करके उत्तर भारत की विजय के लिए ससैन्य प्रस्थान किया था। इस समाचार से उत्तर भारत के अनेक योद्धा देश-भक्ति की भावना एवं युद्धोत्साह से उतावले हो उठे थे। छत्रसाल तो नहीं रह गये थे, किंतु उनके पुत्र हिरदेशाह एवं जगतराज ने अपने बाप और बाबा के संकल्पों को पूरा करने के लिए इस अभियान में दिल्ली की सीमा तक बाजीराव का साथ दिया था। देश-भक्तों के इस संघ में गंगा-यमुना के अन्तर्वेद में गाजीपुर-असोथर के राजा भगवन्त राय खीची भी शामिल थे। सैन्य बल के कारण इन दिनों वे एक बड़ी राजनैतिक शक्ति माने जाते थे। उन्होंने अन्तर्वेद और अवध मण्डल के राजपूतों का एक सुदृढ़ संघ बना लिया था। बुन्देला शक्ति के साथ भी इस संघ की सन्धि हो गई थी, अतः मुगलों के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अस्तित्व के लिए इस संघ से विशेष रूप से भय था। भगवन्तराय स्वयं एक कवि भी थे। अतः उन्होंने मुगलों के समक्ष विजयी होने की कामना से हनुमान जी का अनुष्ठान किया था। अनुष्ठान के संपुट रूप में उन्होंने देश के निवासियों में एकता का संचार करनेवाली भावनाओं को जाग्रत करने के लिए देवता से याचना की थी। भगवन्तराय का 'वीर काव्य' सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय भावधारा की एक महत्व-पूर्ण रचना है। राष्ट्रीय चेतना के विस्तार के लिए देवता की आराधना करना हिन्दी काव्य का एक स्वर्णिम पृष्ठ है। भगवन्तराय खीची के एतद्विषयक कवित्तों को यदि उस युग के राजनैतिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर पढ़ा जाय, तो भाषा-काव्य एवं भाषा-भाषी क्षेत्रों की राजनैतिक आकांक्षा और उनकी राष्ट्रीय चेतना का साक्षात्कार सरलता से किया जा सकता है—

हिन्दू के हृदय की हदस हटाय डारौं,
देश ते मिटाय डारौं बैरी भगवान को।
भनै भगवन्त जो पै पाऊँ तोरि कृपा-कोर,
टोरि डारौं गोरिन के बाढ़े अभिमान को॥
फारि डारौं मदमाती छाती गऊ घातिन की,
फेरि फहराऊँ देश साको हिन्दुवान को।
एती जो न करौं तन न परान राखौं,
भाखौं नहीं मिथ्या, साखौ मान चहुआन को॥

सुत पितु मातु की सनेह ग्रन्थि कहियतु है,
आनि के बहोरि शिव-शक्ति को मिलाय दे।
लाइ दे इकट्ठे तन गट्ठे मरहट्ठे औ,
बुन्देलन के पट्ठे अरिदल दहलाइ दे॥
भनै भगवन्त अंत करौं भेद अन्तर को,
चन्द्र[1] चौहान[2] एक ठौर ही बुलाय दे।
उड़ जाँय मुगल न देखैं फिरि मुड़ कै,
पौन पूत तौन तू बवण्डर चलाय दे॥

भगवन्तराय खीची के जिन दो कवित्तों को उद्धृत किया गया है, वे रचना-कार के 'हनुमत पचासा' नामक ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति में प्राप्त हुए हैं। यह

१. चन्द्र—चन्द्रवंशी अर्थात् शीतल प्रकृति।
२. चौहान—अग्निवंशी अर्थात् रुद्र प्रकृति।
नोट—कवि ने इन दोनों जातिवाची शब्दों का साभिप्राय प्रयोग किया है। देश की जनता बड़े से बड़े विरोध को भूल कर संगठित हो जाय, यही उसका अभीष्ट है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रति दतिया नगर के निवासी एक स्कूल मास्टर के पास है, जिसकी खोज नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के अन्वेषक श्री उदय शंकर दुबे और वहीं के राजकीय कालिज के डॉ० शिव शरण शर्मा ने की थी। डॉ० शिव शरण शर्मा के माध्यम से ही मुझे उक्त छन्द तब मिले, जब मेरा शोध-प्रबन्ध "भगवन्तराय खीची और उनके मंडल के कवि" प्रायः छप चुका था। अतः इनकी विवेचना का अवकाश नहीं रह गया था। इस दशा में मैंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन्हें मुद्रित कराकर संतोष कर लिया था। जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, इनके ऐतिहासिक महत्व की ओर किसी ने उचित ध्यान नहीं दिया है, अतः इनमें गर्भित अर्थ और अभिप्राय की चर्चा करना प्रासांगिक होगा।

कवित्तों में कल्पित कवि की भाव-भूमि पर पहुँचने के लिए तद्युगीन राष्ट्रीय अकांक्षाओं को परिप्रेक्ष्य में रखना आवश्यक है। पिछले पृष्ठों में हम कह आए हैं कि संतों ने राष्ट्रीयता के पौधे का आरोपण बड़े ही यत्न पूर्वक एवं सावधानी से किया था। उचित समय आने पर धनुर्धारी राम की रामलीला एवं वीरों के आराध्य देव हनुमान की पूजा आराधना को जन-चित्त का विषय बनाने के लिए तुलसीदास एवं महाराष्ट्र के समर्थगुरु रामदास जैसी विभूतियों ने हनुमत उपासना को आन्दोलन के रूप में सुसंगठित करके उसे लोक जीवन का अंग बना दिया। हिन्दी भाषी क्षेत्रों में स्थित दुर्गों के मुख्य द्वारों पर हनुमान की ही मूर्ति स्थापित की जाने लगी। झाँसी, ओरछा, चरखारी और मऊ-महेवा आदि में बने दुर्ग इसके प्रमाण हैं। मूर्ति पूजक हिन्दू समाज में हनुमान की उपासना के ग्रहण से उसके हृदय में व्याप्त आतंक और पस्त हिम्मती के कारण उत्पन्न 'फियर काम्पलैक्स' को दूर करके उनमें शक्ति और साहस का संचार करने में सफलता मिल गई। समाज की उक्त ग्रंथि के लिए ही कवि ने 'हदस' शब्द का व्यवहार किया है। उन्नीस माह की आपत् कालीन स्थिति की स्मृति-माध्यम से इस भय ग्रस्तता का किंचित अनुमान किया जा सकता है।[1] इस वातावरण से राष्ट्र कुंठित और उसके नागरिक असंदिग्ध रूप से का पुरुष हो जाते हैं। इस रुग्णता का उपचार करने की दिशा में रीतिकाल में जो भी कार्य किए गए थे, उनसे जनता में आत्मबल की वृद्धि हुई, अतः किसी भी न्याय से इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। इसी लक्ष्य की प्राप्ति में चतुर्दिक किए जानेवाले प्रयत्नों, अर्थात तद्युगीन वातावरण को मुखर करते हुए भगवन्तराय ने अपने संकल्प-प्रमाण में कहा था—

"हिन्दू के हृदय की हदस मिटाय डारौं"

---

१. इस आपत्कालीन स्थिति की अपेक्षा उस युग में किया जानेवाला दमन-चक्र कई गुना कठोर और दारुण था। इसीप्रकार उस युग के राजनेताओं ने जो संघर्ष किए एवं जो कीमत चुकाई, वह आज के जेल यात्रियों की तुलना में अनेक गुना अधिक थी। अतः रीतिकालीन युग-चेतना की श्रेष्ठता पर प्रश्न चिह्न लगाना अविवेकपूर्ण है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवि का कथन है कि दिल्ली के चौहानों को पराजित करके मुहम्मद गोरी द्वारा दिल्ली के सिंहासन को हथिया लेने से विदेशी कबीलों के हृदय में हिन्दुस्तान का शासक बने रहने की भावना बद्ध मूल हो गई है। दिल्ली के बादशाहों का दावा है कि हिन्दुस्तान पर शासन करना उनका जन्म सिद्ध अधिकार है। छंद में प्रयुक्त 'गोरी' (स्थान तथा जातिवाची) शब्द का बहुवचन 'गोरिन' इस प्रसंग को स्पष्ट करने में समर्थ है। कवि उत्साह पूर्वक बड़े ही आत्मविश्वास के साथ सत्ता रूढ़ मुसलमान शासकों के इस दावे को चुनौती देने के लिए आगे आया है। मुस्लिम विजेताओं के शासनाभिमान को भंग करने के लिए कवि ने जितना कहा था, उससे अधिक किया। यह तथ्य भगवन्तराय खीची का इतिहास जाननेवालों को विदित है। उनका इतिहास उनकी कविता के हर शब्द पर प्रमाणिकता की मुहर लगाता है। शब्दों में ऐसी ही आस्था प्रकट करनेवाले कवि की कविता को सच्ची कविता की संज्ञा मिला करती है—

"एती जो न करौं, तन न परान राखौं,
भाखौं नहीं मिथ्या साखौ मान चहुआन को।"

ध्यान रखने की बात यह है कि प्रस्तुत उदाहरण में चौहान शब्द का प्रयोग प्रथम पुरुष में हुआ है।

आलोच्य युग को आन्दोलित और परिचालित करनेवाले राजनैतिक संकल्प के लिए कवि अपने इष्ट देव से सहायता के लिए विनय करता है। अपने व्यक्तिगत उद्धार के लिए नहीं, लोक-कल्याण और राष्ट्रीय-भाव के संचार के लिए देवता के द्वार में दस्तक देने में 'पर' के लिए 'अहं' को विसर्जित करनेवाली ललक से वह कहता है कि मेरे इष्ट देव हनुमान ! तुम ऐसी हवा चला दो कि राजपूतों में व्याप्त अपने कुलों की श्रेष्ठता के झगड़े मिट जायँ।[1] अग्नि वंश तथा चन्द्र वंश जैसे विरोधों को त्याग कर राजपूत एक हो जायँ—**चंद्र-चौहान एक ठौर ही बुलाय दे**—में इसी विचार सूत्र का कथन है। इसीप्रकार गठीले शरीरवाले मराठों और साहसी बुन्देलवीरों को इस रूप में संगठित होने की कामना करता है कि संगठन बल के फलस्वरूप भारत

---

१. राजस्थानी भाषा के समकालीन इतिहास-ग्रंथों का अवलोकन करने से स्पष्ट हो जाता है कि राजकुलों की श्रेष्ठता के प्रश्न को लेकर ही राजनैतिक संघों के निर्माण में व्यवधान पड़ रहे थे। 'राजरूपक' और 'वंश भास्कर' में इस आशय के अनेक प्रसंग मिलते हैं। इसी के लिए श्री प्राणनाथ ने कहा था—

कुलिएं छकप्ए रे, दिलड़े जुदे किए मोह अहं के माते रे।

प्राणनाथ जी का कथन विशेष रूप से विचारणीय है क्योंकि उन्होंने साम्राज्यवादी शक्तियों को ही इस भेद बुद्धि के प्रेरक रूप में लक्ष्य किया है। राजपूतों को प्रभावित और संचालित करनेवाली मुगलों की फूटनीति अंग्रेजों से अधिक भिन्न नहीं थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पर शासन करनेवाले मुगलों की सत्ता को इस तरह उड़ा दिया जाय, जैसे ववंडर में सूखे तृण उड़ जाते है। संगठन के माध्यम से ही ववंडर में वेग उत्पन्न हो सकता था—

'लाइ दे इक्ट्ठे तन गट्ठे मरहट्ठे औ
बुन्देलन के पट्ठे अरिदल दहलाइ दे।'

उद्धृत पंक्ति में वही ध्वनि और वही भाव-चेतना है, जो राष्ट्रीय आन्दोलन के दिनों में भारत के जन-कंठ में विद्यमान रही है।

कवि-हृदय में प्रस्फुटित यह राष्ट्रीय आकांक्षा मात्र कल्पना न होकर आलोच्य युग की राजनैतिक वास्तविकता थी।[१] भारत के केन्द्रीय प्रदेशों के राजनैतिक ठिकानों को आपसी भेद-भावों को भुलाकर संगठित होने का मार्ग-दर्शन करने में छत्रसाल बुन्देला ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।[२] उनके दिवंगत होने के उपरांत स्वयं भगवन्तराय छत्रसाल की भावनाओं का नेतृत्व करने के लिए आगे आ गए।[३] पेशवा दफ्तर में उत्तर भारत की राजनैतिक रपटें भेजनेवाले मराठा प्रतिनिधि गुण साधर्म्य के आधार पर उन्हें दूसरा छत्रसाल कहने लगे थे।[४] बुन्देलखण्ड, अन्तर्वेद एवं अवध-मंडल के अनेक राजाओं ने सुदृढ़ राजनैतिक एवं सैनिक संगठन बना लिए थे। इनके प्रमुख नेता के रूप में भगवन्तराय ने पेशवा बाजीराव के साथ संधि की बातचीत चलाई थी।[५] इसीप्रकार उन्होंने सवाई जयसिंह के साथ अपने सम्बन्धों को सुदृढ़ कर लिया था। हिमालय की तराई से लेकर समुद्र-तटों का स्पर्श करनेवाली भारत-भूमि के राजनैतिक ठिकानों में संगठित होने की आकांक्षा का स्वरूप सामन्त वादी न होकर पूर्णरूप से जनवादी था। इस युग के इतिहास पर कालिख पोतने की भावना से प्रेरित लोग ही इसे सामन्तवादी कहेंगे। क्या गुरु गोविन्द सिंह के संघर्षों का स्वरूप सामन्तवादी था? यही बात दुर्गादास, भगवन्तराय और छत्रसाल पर भी घटित होती है। हमारे कथन की पुष्टि मालवा सूबे के एक कानूनगो नन्दलाल

---

१. इस आशय के अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिए १७–८–१७२८ का मराठा पत्र देखें। पेशवा दफ्तर जिल्द XIII पत्र सं० १० तथा XIV पत्र सं० ४७।

२. इस आशय के पत्रों का संकलन लेखक द्वारा "ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल" नामक ग्रन्थ में किया गया है।

३. "मारि रन फौजें चलाऊँ, जरैं दिल्ली की हलाऊँ"।

तथा

थाह लैलै थकिगो मलाह लौं दिली को कंत,
पावत न अंत भगबंत की दलेली को।

प्रस्तुत उद्धरण में प्रयुक्त 'दिली को कन्त' से तात्पर्य है— दिल्ली का बादशाह।

४. पेशवा दफ्तर, जिल्द XIV पत्र सं० ३९।

५. देखिए ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल तथा पेशवा दफ्तर जिल्द XIV, पत्र सं० १०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मांडलोई एवं वाजीराव के मध्य होनेवाले पत्र-व्यवहार से भी होती है। मांडलोई ने वाजीराव को नर्मदा पार करके उज्जैन प्रान्त पर अधिकार करने की प्रेरणा प्रदान की थी। पेशवा बाजीराव और नन्दलाल मांडलोई के बीच लेन-देन एवं तकाजों सम्वन्धी अनेक पत्र 'सेलेक्शन्स फ्राम पेशवा दफ्तर' की जिल्दों में मुझे पढ़ने को मिले हैं। इस सम्बन्ध में जिल्द संख्या XIII पत्र संख्या २० विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस सामग्री को आधार बनाने से उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में किए गए मेजर जनरल माल्कम की सर्वेक्षण रपटों में उल्लिखित तथ्यों की विश्वसनीयता पर मुहर लग जाती है। इस प्रश्न को लेकर महाराजकुमार डॉ रघुवीर सिंह जी ने 'मालवा थ्रू टॉजिशन आर ए सेंच्युरी आफ अनार्की (१६६८—१७६५ ई०) नामक ग्रन्थ के परिशिष्ट (पृ० १६६—१६८) में जो विवेचन प्रस्तुत किया है, उसकी संगति इतिहास के तथ्यों के साथ नहीं बैठती। इसी अंश को उन दिनों मौलिक मानकर उक्त ग्रन्थ की भूमिका में सरजदुनाथ सरकार ने 'The Hindi Mandloi letters are pure fabrications" लिखकर निश्चित रूप से एक भ्रामक निष्कर्ष की ही पुष्टि की है। जन-भाषा स्रोतों के प्रति व्याप्त हीन भावना के प्रवाह का अनुसरण करने के कारण ही उक्त विद्वानों के निष्कर्ष त्रुटिपूर्ण हो गए हैं।[1] पेशवा दफ्तर के उक्त मराठी पत्रों को दोनों व्यक्तियां ने नहीं देखा था तथा डॉ० रघुवीर सिंह जी के पास मॉडलोई के मूल पत्र नहीं हैं।

सूर्यमल मिश्रण के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वंश भास्कर' पृ० सं० ३२२८ में आगोंच नामक स्थान पर होनेवाले तत्कालीन राज-प्रमुखों के विशाल सम्मेलन का विवरण मिलता है। आगोंच मेवाड़ राज्य के अन्तर्गत है। वहीं इस सम्मेलन का आयोजन संवत् १७६१ (१७३४ ई०) के कार्तिक मास में किया गया था। इस सम्मेलन में बुन्देलखण्ड, मालवा और राजस्थान के समस्त राजठिकानों को आमंत्रित किया गया था। जयपुर के सवाई जयसिंह इसके प्रमुख संयोजक थे। राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दू शक्तियों के संगठित होने के इन लक्षणों को देखकर मुगल साम्राज्यशाही और उसको

---

१. मेरे विचार से सर जदुनाथ सरकार की ऐतिहासिक मान्यताओं में उत्तरोत्तर विकास होता रहा है और वे निरंतर जन भाषाओं में प्राप्त प्रमाणों की ओर आकर्षित होते गए हैं। मराठा इतिहास में उन्होंने जो संशोधन किए हैं, वे सर्व विदित हैं। "सरकार" सच्चे इतिहासकार थे। उन्होंने कालान्तर में "भारतीय इतिहास परिषद" की स्थापना करके "A New History of Indian People" की जो योजना बनाई थी, उसमें जन भाषा स्रोतों के ही महत्व को सर्वोपरि मान्यता प्रदान की गई थी। उक्त योजना के पहले भाग के प्राक्कथन का यह उद्धरण इस प्रसंग में विचारणीय है—In many different, languages and periodicals scattered over the country a foreigner however scholarly and detached in attitude can not possibly know all these, nor can he keep touch with the growing volume of printed books......etc.,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संपोषित करनेवाली मुगल नोविलिटी के पाँव थर थराने लगे थे। इस सम्मेलन में भी पृथकतावाद का लगाम खींचनेवाले निहित स्वार्थ तत्व अपनी कुचेष्टाओं से बाज नहीं आए थे। इन्हीं तत्वों ने देश की एकता में व्यवधान उपस्थित करने में सफलता व्याप्त की थी। भगवन्तराय ने इसी एकता के स्वप्न को साकार देखने की अभिलाषा से सभी जातियों को 'एक ठौर' बैठाने के लिए देवता का आह्ववान किया था। जो वर्ग यह चाहता था कि भारत में मुस्लिम साम्राज्य चिरस्थायी बना रहे तथा उस की आड़ में विदेशी लोगों के हाथों में व्यापार एवं उच्च नौकरियों का भविष्य सुरक्षित बना रहे, वही वर्ग इतिहास की इस नई करवट से आशंकित हो गया था। भारत में शाश्वत रूप से शासन करने की अभिलाषा रखनेवालों में अवध के नवाब सआदत खाँ का नाम उद्धृत किया जा सकता है। ईरान से भारत में नौकरी की तलाश में आने के पश्चात कुछ ही समय बाद उसने गवर्नरी प्राप्त कर ली थी। भाग्योदय के ऐसे सुअवसर तभी सम्भव थे, जब भारत गुलाम बना रहे। इन्हीं "गोरियों" ने प्रतिक्रियात्मक शक्तियों के प्रतिनिधि रूप में नादिरशाह को भारत पर आक्रमण करके इन नवोदित शक्तियों को कुचलने का निमंत्रण भेजा था। रहीम, मुनीम खाँ और सैय्यद बन्धुओं जैसे अधिकारियों की उदारतापूर्ण भाई चारे की नीति का अनुसरण करनेवाला मुहम्मद शाह का सेनापति 'खानदौरां' इन प्रतिक्रियावादियों के आक्रमण का मुख्य लक्ष्य था। 'वंश भास्कर' में प्रमाणिक रूप से इतिहास के इस कलंकित पक्ष पर प्रकाश डालनेवाली विस्तृत सामग्री विद्यमान है। इसी समय के पेशवा दफ्तर के पत्रों का अनुशीलन करके हमने सूर्यमल के विवरणों की पुष्टि भी की है। हमारे विचार में इतिहास की इस गुत्थी को सुलझाना इतिहास की प्रकृति-निरूपण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसी विघटनकारी प्रवृत्ति ने पाकिस्तान के निर्माण में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूपों में पृथकतावाद को प्रोत्साहन दिया है। आधुनिक इतिहास धारा का सही विश्लेषण करने की दृष्टि से ऐतिहासिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के इतिहास का सम्यकरूपेण अध्ययन करने से ही इतिहास-बोध की नई दृष्टि प्राप्त हो सकती है।

दुर्योग से नादिरशाह के आक्रमण के आगे-पीछे चार पाँच वर्षों के भीतर ही पेशवा बाजीराव, सवाई जयसिंह, भगवन्तराय खीची, महाराजा हिरदे शाह एवं मुहम्मद शाह के सेनापति खानदौरां जैसे राज-नयकों का निधन हो गया। इसके फलस्वरूप भारतीय जन-लोक नेतृत्व विहीन हो जाने से राष्ट्रीयता का जो उत्साह-उफान आया था, वह निराधार होकर धरती पर ही ढरक गया। इस युग के इतिहास की वास्तविकता यह है कि बाजीराव, हिरदेसाह और सवाई जयसिंह भीतर ही भीतर टूट गए थे और विफलता की घुटन में उनका जीवन असमय में ही काल-कवलित हो गया था। यद्यपि इस वज्रपात से राष्ट्रीय जागरण को गहरा आघात लगा था, फिर भी प्रकृति के नियमानुसार बीज का नास नहीं हो सका। भाषा-काव्य की क्यारियों में जहाँ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तहाँ राष्ट्रीयता की सुगंधि से परिपूर्ण पुष्पों का प्रस्फुटन जारी रहा है। कविवर पद्माकर के जिस कवित्त की चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं, उसको इसी भाव-धारा ने आसिंचित किया था।

भारतीय इतिहास का नाटकीयता से भरा हुआ यह परिच्छेद अँग्रेज व्यापारियों के सामने ही आलेखित हुआ था। इतिहास की यह परिणति होने तक समस्त राजनैतिक गतिविधियों के वे लोग प्रायः चतुर निरीक्षक के रूप में ही खड़े थे। भाषा-काव्य के रचयिता चारण-भाट कवियों ने मुग़लों के विरुद्ध जन-मानस में क्रान्ति-चेतना का संचार करने में जो भूमिका निभाई थी, उससे उन्होंने एक राजनैतिक पाठ पढ़ा था। अतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए भाषा काव्य को संपोषित और पल्लवित करनेवाली चारण और भाट-घरानों की सदियों पुरानी परम्परा को उपेक्षित करना आवश्यक समझा गया। इस दृष्टि से भारतवर्ष में अँग्रेजी शिक्षा-प्रणाली के ऐसे मोहरे बिछा दिए गए कि नवयुवक अपनी अतीत परम्परा से स्वयं ही अलग-थलग होते रहे हैं।

☐ भारतेन्दु युग की राष्ट्रीयता को अँग्रेज़ी शिक्षा की देन मानना तथ्य संगत नहीं है :

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राष्ट्रीय जागृति की दिशा में महर्षि दयानन्द सरस्वती, श्री केशवचन्द्र सेन, न्यायमूर्ति रानाडे और स्वामी विवेकानन्द जैसे महापुरुषों एवं आर्य समाज, ब्रह्मसमाज तथा प्रार्थना समाज[1] जैसी समाज सेवी संस्थाओं ने जो योगदान किया है, उस पंक्ति में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का स्थान बहुत ऊँचा है। वे अपने आप में एक व्यक्ति संस्था थे। उनके युग में हिन्दी साहित्य राष्ट्रीय पुनर्जागरण एवं जन-चेतना का प्रतीक बन गया था। प्रतापनारायण मिश्र, माधो प्रसाद मिश्र और बाबू बाल मुकुन्द जैसे व्यक्ति एक ही दिशा में चलते हुए भारतेन्दु जी की दृष्टि का विस्तार और प्रसार करने में संलग्न थे। जिस तरह भक्त कवियों ने अपने युग-संदर्भ में लोक जन्य व्याधियों के निवारणार्थ "एकहि साधे सब सधै" का प्रयोग उपयुक्त समझा था, उसी तरह भारतेन्दु जी ने बदले युग-संदर्भ में समस्त राजनैतिक एवं समाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए **"निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल[2]"** कहा था। भारतेन्दु जी की काव्य-चेतना के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को

---

१. हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया (डॉ० ताराचन्द) भाग दो में उक्त तथा कुछ अन्य ऐसी ही संस्थाओं पर समुचित प्रकाश डाला गया है। विशेष रूप से पृ० ३१०-४१५ देखें।

२. भारतेन्दु जी ने प्रयाग की एक सभा में अपना समस्त भाषण दोहों में दिया था और उसी भाषण में यह दोहा भी था। इससे स्पष्ट है कि वे समाज में यह चेतना जाग्रत करने में यत्नशील थे। छंद में भाषण देकर जन समाज को प्रबुद्ध करने की रीतिकालीन परम्परा को समझने के लिए यह तथ्य महत्वपूर्ण है। तुलना कीजिए, पृ० ९२—चतुर्वेदी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनदेखा कर देने के कारण ही हिन्दी साहित्य की प्रकृत-धारा से विच्छिन्न करके उन्हें नए युग का प्रवर्तक मान लिया गया है। इसी अविवेकपूर्ण दृष्टि का ग्रहण होने से आधुनिक हिन्दी साहित्य परम्परा की पटरी से हट गया है। अँग्रेजियत समर्थक व्याख्या के कारण भारतेन्दु का समस्त कृतित्व मूल प्रवाह से अलग एक कटे हुए टापू के रूप में ही शेष रह जाता है। भारतेन्दु जैसे महाकवि की भाव-चेतना इस दृष्टि के परिणामस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्यवाद की देन के रूप में इतिहास के साथ प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष छल करने में सफल हो जाती है। साहित्य और इतिहास दोनों ही क्षेत्रों में तथाकथित आधुनिक काल को मुख्य इतिहास-धारा से अलग करके उसे यूरोपीय संपर्क की देन मानने का व्यापक प्रचलन होने के फलस्वरूप लोक-जीवन की इतिहास-चेतना को भूल भुलैय्यों में भटका कर सामान्य शिक्षित जन को उसके इतिहास-गौरव से रहित कर दिया गया है।[१]

बहुमुखी व्यक्तित्व से सम्पन्न भारतेन्दु मूलतः ब्रजभाषा काव्य के रसिक और प्रशंसक ही नहीं वरन् उसके उत्कृष्ट रचनाकारों की पंक्ति में प्रतिष्ठित एक जाने माने रत्न हैं। जिस रीतिकालीन काव्य-शिल्प और सांस्कृतिक चेतना की चर्चा हम पिछले पृष्ठों में कर आए हैं, उसी से उनकी प्रतिभा का आलोड़न-विलोड़न हुआ था। उन्होंने हिन्दी जगत की समकालीन तंद्रिलता समाप्त कर उसे पुनर्जाग्रत करने तथा नई दिशा में आगे बढ़ाने में नेतृत्व प्रदान किया था। इतिहास की परिस्थितियाँ बदल गईं थीं, अतः इसके कारण उत्पन्न नई चुनौतियों का समुचित उत्तर देने के लिए उन्होंने साहित्य की नई रूप-विधाओं को मान्यता दिलाने में ही अपनी मौलिकता को सार्थक किया है। आवश्यक नए कलेवरों में साहित्यात्मा को पुनर्जन्म देने में ही भारतेन्दु की सबसे बड़ी सिद्धि है। जिस प्रकार तुलसीदास ने मानस के माध्यम से तत्कालीन युग-बोध को जन-चेतना में संप्रेषित करने के लिए भारतीय साहित्य-परम्परा का आश्रय ग्रहण किया था, उसी प्रकार भारतेन्दु-साहित्य में प्रस्फुटित राष्ट्रीयता का स्वर स्वजातीय संस्कारों से जुड़ा हुआ है।

अँग्रेजी जाति भारतीय जन की राष्ट्रीय चेतना से परिचित होते ही सतर्क हो गई थी। १८३८ ई० से १८५६ ई० के बीच के उपलब्ध कुछ लैंड रेवेन्यू रेकार्ड्स के अवलोकन से ज्ञात होता है कि कपास की खेती को नया रूप देने की दृष्टि से समस्त उत्तर भारत में यूरोपीय, खासकर अमेरिकन नागरिकों को प्रोत्साहन दिया

---

१. सुर सरि जलकृत बारुनि जाना, कबहुँ न संत करहिं तेहि पाना।
सुरसरि (परंपरा) मिले सो पावन जैसे, ईस अनीसहि अंतरु तैसें ॥—मानस

हमारे देश का समस्त चिंतन एवं साहित्य हमारे इतिहास-बोध से मंडित है, किन्तु विदेशी इतिहासकारों खासकर बिजेताओं ने यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारतीय समाज ऐतिहासिक यथार्थ-बोध से विमुख रहा है। इस दृष्टिकोण का प्रसार हमारी राष्ट्रीय संस्कृति के लिए घातक सिद्ध हो रहा है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जा रहा था। कंपनी के अनेक अँग्रेज अधिकारियों ने अपनी भू-संपत्ति बनाली थी। भू-संपत्ति बनाने का प्रारम्भ में अँग्रेज अधिकारियों को प्रोत्साहन दिया जा रहा था, किन्तु इस नीति के कारण प्रजा में असंतोष फैल रहा था, इसीलिए कुछ ही समय बाद सन् १८४४-४५ ई० में इस नीति को निरुत्साहित करने की चेष्टा की गई।[1] ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति में यह संशोधन जिन परिस्थितियों एवं उद्देश्यों से प्रेरित था, उस मर्म को समझने के लिए तत्कालीन जन संस्कारों का सम्यक् रूप से विश्लेषण करने की आवश्यकता है।

बूंदी के चारण इतिहासकार कवि सूर्यमल मिश्रण ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के प्रति जो प्रतिक्रिया व्यवत की है, उसका अनुशीलन करने से तत्कालीन जनाकांक्षाओं को समझने में पर्याप्त रूप से सहायता मिलती है। उक्त कवि के अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जिस प्रकार दयानंद सरस्वती की राष्ट्रीय भावनाओं को भारतीय परम्परा ने ही आसिंचित किया था, उसी प्रकार भारतेन्दु कालीन कवियों में प्रस्फुटित राष्ट्रीय पुनर्जागरण का स्रोत अपनी ही साहित्य-परम्परा की देन है। सूर्यमल के युग में औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप इंग्लैण्ड, अमेरिका एवं यूरोपीय देशों में स्थापित किए गए बड़े उद्योगों के लिए भारतीय कृषि द्वारा कच्चेमाल की पूर्ति का लक्ष्य निर्धारित किया गया था। इस व्यापारिक शोषण से उत्तर भारत की कृषक जनता, जिसके लिए ब्रिटिश संपर्क एक बिल्कुल नई बात थी, का असंतुष्ट और संगठित होना एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। यह बात हम कह आए हैं कि मुगलों के विरुद्ध वास्तविक रूप से जन आंदोलन ही खड़ा हुआ था, उसी तरह अँग्रेजों के विरुद्ध भी जो आक्रोश उभर रहा था, वह विशेष रूप से समाज के मध्यम वर्ग में ही संकुलित था। ऐतिहासिक संदर्भ ज्ञान को पृष्ठभूमि में रखकर कवि के उद्धृत दोहों का अर्थ और आशय समझने से हम तद्युगीन वस्तुस्थिति के समीप पहुँच सकते हैं—

इला न देणी, आपणी, हालरिया हुलराय।
पूत सिखावै पालणे, मरण बड़ाई माय॥

---

१. देहरादून का एक सिविल सर्वेण्ट अपनी जमींदारी वापस करने में आना कानी कर रहा था, इसीलिए 'कोर्ट आफ डायरेक्टर्स' ने १८ जनवरी १८४५ ई० में एक अध्यादेश जारी किया था। नेशनल आर्काइव्स नई दिल्ली में उपलब्ध लैण्ड रेवेन्यू रेकार्डस इण्डेक्स पृ० सं० ५८-६० में इस आदेश का उल्लेख है। संभवत: ऐसी ही परिस्थितियों को लक्ष्य करके लिखा गया था—

कट गए नर्कट कपास सत्यानास भई, ऊख गए उखरि उखरि गयीं रहरें।
आई अँग्रेजी जरखेजी गई राजन की, चलत चहूंधा बड़ी नई नई डहरें।
कुंजन कलित बन ललित बिलाने किते, गिरि गढ़ कोटन पै बिलाती ध्वजा फहरें।
कहै चिरजीवी कैसे धरों उर धीर बीर, त्रिविध समीर ए करेजे बीच लहरें।

—आ० हि० का आदिकाल, पृ० १६०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

(माँ अपने पुत्र को पालने पर झूला झुलाते समय ही यह शिक्षा देती है कि अपनी भूमि की रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर देना ही सबसे बड़ा सौभाग्य है)।

इण वेला रजपूत वे, राजस गुण रंजाट।
सुमिरण लग्गा वीर सब, वीरां रो कुल बाँट॥

(इस समय—१८५७— राजसी गुणों की शोभा बढ़ानेवाले राजपूत[1] मर मिटने की भावना से उत्साहित हो रहे हैं। कवि का आशय है कि इस स्वाधीनता संग्राम में राजपूतों को सक्रिय रूप से सर्वस्व न्यौछावर करने के लिए आगे आना चाहिए)।

टोटे सरका भीतड़ा, घाती जे ऊपर घास।
भावी जे भर झूँपड़ा, अधपतियाँ आवास॥

(सींक—सिरकी—से बने झोंपड़ों में यद्यपि सदैव अभाव ग्रस्तता बनी रहती है, किन्तु जीर्ण झोंपड़ों की छतों पर जमी हुई घास पर राजाओं के महलों को न्योछावर किया जा सकता है। अर्थात् कवि ने क्रांति की चिनगारी झोपड़ों में ही देखी थी, महलों में नहीं)।

काव्य में लक्षित उक्त राजनैतिक परिप्रेक्ष्य को समझने के लिए सन् १८८८ ई० में इलाहबाद में आयोजित 'इण्डियन नेशनल काँग्रेस' के अधिवेशन पर लिखी गई तत्कालीन गुप्तचर विभाग की रपट का अवलोकन करने का निवेदन है। विभिन्न पत्रों में प्रकाशित प्रतिक्रियाओं के सार-संक्षेप से स्पष्ट होता है कि लोक-मानस में अँग्रेज़ी भाषा, अँग्रेज़ी राज्य के साथ जन-संसर्ग होने के पहले से ही उसमें राष्ट्रीय-भाव का संचार रहा है। अँग्रेज़ी भाषा की शिक्षा और यूरोपीय संपर्कों द्वारा राष्ट्रीय भाव का बीजारोपण माननेवाले इतिहासकार मूलतः पश्चिमी देशों के विचारों की डुगडुगी पीटने का ही काम कर रहे हैं। ये लोग वस्तुस्थिति में जन समाज और जन भाषा से विमुख होकर उसका इतिहास लिखने की चेष्टा में उल्टी गंगा बहाने में ही दत्त चित्त हो गए हैं।

भारतेन्दु युग में गाँव के कच्चे घरों का निवासी किसान राष्ट्रीय प्रश्नों पर कितना जागरूक था, इसका एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

६ जनवरी १८८९ ई० तक काँग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन की जो रपटें एकत्र हुई थीं, उनका सार संक्षेप N. W. O. F., Oudh, Central India and Rajputana के गुप्तचर विभाग की ओर से ब्रिटिश सरकार की जानकारी के लिए

---

१. राजपूत से आशय युद्ध जीवी सैनिकों से ही लिया जाना चाहिए। छत्रसाल के पत्रों के अनुसार 'ठाकुर' सेना के सरदारों के लिए व्यवहृत होता था। यह शब्द जाति विशेष या कुल विशेष के अर्थ में सीमित नहीं था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

VERNACULAR NEWS PAPERS शीर्षक बुकलेट में मुद्रित किया गया था।[1] इस रपट में लिखे गए शब्दों को ही उद्धृत करना समीचीन होगा—A large population of the delegates were ignorant men (villagers ?) who did not even know where England is situated. They cheered or hissed in accordance with the signal given by the wire pullers. The Chief noticeable feature of the proceedings at the Congress was that, **the more violant was the attack made by a speaker against Government, the louder were the cheers, and plandits evoked by him**; and the greater was the praise bestowed by a speaker on Government (राजा शिवप्रसाद सी० एस० आई० की ओर लक्ष्य किया गया है). The more loudly was he hissed at (P. I & II). इसी अधिवेशन में राजा शिवप्रसाद द्वारा पारित राज-भक्ति पूर्ण प्रस्ताव को उक्त रपट में इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है—

Had the Congress accepted his (राजा शिवप्रसाद का) proposal it would have cleared its character from the charge of disloyalty, and won over many noblemen and women (अँग्रेजी शिक्षा सम्पन्न धनी वर्ग के लोग) and gentlemen to its side (P. II).

उक्त टिप्पणी से यही आशय निकलता है कि देशभक्ति का भाव भारतीय जन चेतना में अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रहा था। अँग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों की दृष्टि से अपढ़ और निरक्षर मानी जानेवाली जनता–किसानों–के हृदय में यह भाव कूट-कूट कर भरा हुआ था। मात्र अँग्रेजी शिक्षा और यूरोपीय संपर्क को ही इसका श्रेय देना इतिहास की दृष्टि से बहुत बड़ी भूल है। पढ़े लिखे लोगों ने इन भावनाओं का हर प्रकार से दोहन ही किया है। इसी वर्ग ने जनता के इतिहास को इस रूप में तोड़ा-मरोड़ा है कि सामान्य जन अपने इतिहास-गौरव से ही वंचित हो गया है। जो लोग न जनता की भाषा जानते हैं, न उसके बीच रहते हैं, ऐसे ही धुरंधरों को जनता का इतिहास लिखने का ठेका दिया जाता है। जब युग ही ठेकेदारी का है, तो साहित्य और इतिहास आदि का लेखन-कार्य किस रूप में अपवाद बन सकता है?

कांँग्रेस के उक्त अधिवेशन के दिनों में उत्तर भारत के हिन्दी भाषी प्रदेशों में काव्य-भाषा के रूप में ब्रजभाषा का एकछत्र साम्राज्य था। लोक-मानस में इसकी जड़ें इतनी गहरी गड़ी हुई थीं कि प्राय: प्रत्येक बड़े गाँव में इसके रचनाकार विद्यमान थे। भारतेन्दु जी के मित्र काशी नरेश ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह के विनोदार्थ कवि श्री मन्नालाल जी ने सन् १८८७ ई० में शृंगार सुधाकर' नामक ग्रन्थ का

1. Selections from the Vernacular News Paper, National Archives Book No. 35693.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निर्माण किया था। इस ग्रन्थ में जयपुर राज्य के आश्रित कवि चैनराय, नाभा दरबार के आश्रित कवि नवीन जी, जोधपुर नरेश जसवंत सिंह और काशिराज के यहाँ प्रतिष्ठित सरदार कवि के 'शृंगार संग्रह' को उक्त संपादक ने विशिष्ट ग्रन्थों की पंक्ति में रखा है। "सुधाकर में" ब्रजभाषा कवियों के छंदों का संकलन किया गया है। संपादक ने ग्रन्थारम्भ में 'विज्ञापन' शीर्षक के अन्तर्गत अनेक ब्रजभाषा ग्रन्थों के अवलोकन का उल्लेख किया है। बुन्देलखण्ड की रियासतों में रहनेवाले इसी युग के अनेक कवियों और उनके ग्रन्थों की सूची कृष्ण कवि ने संकलित की है, जिसे देखने का सौभाग्य हमें भी प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत प्रकरण में इतना ही प्रासंगिक है कि सम्वत् १९०० अर्थात् १८४४ ई० के आसपास रीति कालीन काव्य-धारा अत्यंत लोकप्रिय होने के साथ समस्त उत्तर भारत की भाषाओं के बीच सम्पर्क स्थापित करानेवाली साहित्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित रही है। अतः इसी के आस-पास रीति काल की समाप्ति घोषित कर देने से इतिहास पुरुष को जीवित रूप में ही जल-समाधि दे दी गई है। अवध और बुन्देलखण्ड के गाँवों में पुरानी पीढ़ी के ब्रजभाषा कवि अब तक अपनी काव्य-गोष्ठियों का आयोजन करते रहे हैं। हमें इन से परिचित होने का किंचित सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

महत्वपूर्ण प्रसंगों पर समाज का ध्यानाकर्षण करने के लिए ये कवि उपयुक्त समस्यायें दिया करते थे। इनकी पूर्तियों में कवियों की वैचारिक प्रतिक्रियाओं को समझने का अवसर भी मिल जाता था। भारतेन्दु के उत्तरकाल में फतेहपुर जिले के असोथर ग्राम की कवि गोष्ठियों का विवरण प्रस्तुत करनेवाला एक रजिस्ट्रर हमें देखने को मिला है।[1] प्रत्येक पूर्णमासी के दिन आसपास के गाँवों के कवि असोथर में एकत्र होकर स्वामी दयानन्द के क्रांति-दर्शी विचारों के प्रसार के लिए इस गोष्ठी को जन सम्पर्क और प्रचार का माध्यम बनाते थे। इस रजिस्टर के अवलोकन से स्पष्ट होता है कि ब्रजभाषा के तुक्कड़ कवि भी इस युग में देश और समाज की समस्याओं से अवगत एवं उनके निवारण की दिशा में सक्रिय योगदान कर रहे थे।

☐ इतिहास में भाषा-काव्य के अस्तित्व की अवहेलना :

१९वीं शताब्दी के अंतिम चरण और बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो-तीन दशकों में ब्रजभाषा काव्य चेतना में जो जागरूकता विद्यमान थी, उसका किंचित परिचय पं० श्री नारायण चतुर्वेदी के ग्रन्थ में उपस्थित किया गया है। उक्त ग्रन्थ के आधार पर हम कह सकते हैं कि पंडित माधव प्रसाद मिश्र के छोटे भाई राधा कृष्ण मिश्र जैसे कवि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का भी स्पर्श करने लगे थे। 'आधुनिक हिन्दी का

---

१. यह रजिस्टर असोथर निवासी श्री विश्वम्भर प्रसाद गुप्त के पास अब तक सुरक्षित है। गुप्त जी 'गुप्तबंधु' नाम से स्वयं भी काव्य रचते हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आदिकाल' ग्रन्थ में इस आशय को पुष्ट करनेवाली कविता "टोगो की विजय भेरी" प्रमाण देती है ।[1] उक्त कृति को सामने रखकर ब्रजभाषा काव्य के रचनाकारों पर विषयगत और दृष्टिगत संकीर्णता का आरोप नहीं लगाया जा सकता ।

ब्रज भाषा काव्य के प्रति अँग्रेजियत के संस्कारों से सम्पन्न हिन्दी आलोचकों ने उसे सदैव हीन भावना से देखा है । इसकी चर्चा और संवेदना को मध्यकालीन विषय वस्तु कहकर नव शिक्षित समाज को प्रिजुडिस्ट करने की प्रक्रिया निरंतर जारी रही है । अतः हर प्रकार से समर्थ और योग्य होते हुए भी इसका विपुल साहित्य पृष्ठ भूमि में चला गया है । आगरा के ब्रजभाषा कवि पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने काव्य-भाषा से संबन्धित इस प्रश्न को लेकर एक शोक गीत लिख कर लोगों का ध्यान आर्कषित करना चाहा था, किन्तु जब समस्त तंत्र ही उसके विपरीत था, तो कवि की वह करूण-पुकार भी सुनी अनसुनी कर दी गई । पं० श्री नारायण जी ने अपने उक्त इतिहास में इस शोक गीत को उद्धृत किया है—

बंग और महाराष्ट्र सुभग गुजरात देश में,
अटक कट पर्यन्त कहिय भारत असेस में ।
एक राष्ट्र भाषा की जो त्रुटि पूरत आई,
तथा
देखत तुम निश्चिंत जात ताके अब प्राना ।—इत्यादि ।

ब्रज भाषा काव्य के पक्ष धर बनकर सक्रिय रूप से साहित्य-क्षेत्र में नेतृत्व करनेवालों में उन्नाव जिले के यशस्वी कवि गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' को सदैव स्मरण रखा जाएगा । ब्रजभाषा काव्य की शृंगार और वीर दोनों भाव-धाराओं की कविता करने में सनेही जी को सिद्धि मिली थी । 'सनेही' उपनाम से वे शृंगार रस का और 'त्रिशूल' नाम से वीर रस-पूर्ण राष्ट्रीय भावनाओं का प्रकाशन करते थे । सनेही जी ने १६१८–२३ ई० के बीच 'कवि' नामक पत्रिका का संपादन किया था । उन्नाव से संपादित होकर यह पत्रिका गोरखपुर भेजी जाती थी और वहीं से प्रकाशित होती थीं । लगभग पाँच वर्षों के अन्तराल के उपरान्त १६२८ ई० में उन्होंने 'सुकवि' का संपादन प्रारम्भ किया । यह काव्य-पत्रिका १६५१ तक कानपुर से प्रकाशित होती रही है । सुकवि पत्रिका में रीतिकालीन सवैया और घनाक्षरी छंदों को ही प्रामाणिकता प्राप्त होती थी । भाषा-विषयक आग्रह शिथिल कर दिया गया था और खड़ीबोली को भी मान्यता दे दी गई थी । 'सनेही' जी अपने युग के सैकड़ों कवियों को प्रेरणा देने में समर्थ हुए थे । उन्होंने ब्रज भाषा काव्य प्रेम को जीवित बनाए रखने के लिए आन्दोलन रूप में ही 'कवि' एवं 'सुकवि' के प्रकाशन में अपने को

---

१. देखिए पृष्ठ सं० २१५-१७ ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समर्पित कर दिया था। 'सनेही' जी ने व्रज भाषा छन्दों और उसके काव्य शिल्प के समर्थन में एक संस्था के समान काम किया है। इस युग के कवियों में कानपुर के 'हितैषी' जी, 'शवरी' काव्य के रचयिता फरूखाबाद के बचनेश जी, कानपुर के ही पं० रूप नारायण पाण्डेय ; राय देवी प्रसाद 'पूर्ण', आगरा के सत्य नारायण 'कविरत्न' जैसे सैकड़ों कवि विद्यमान थे। सनेही-युग के अग्रज जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' की चूड़ान्त प्रतिभा से हिन्दी जगत् भली भाँति परिचित है। 'रत्नाकर' जी की रचनाओं में व्रज भाषा काव्य का जो उत्कर्ष प्रकट हुआ है, उसे आकस्मिक नहीं कहा जा सकता। अयोध्या नरेशों की साहित्य-सेवा सर्व विदित है। महाराज मानसिंह 'द्विज देव' की 'भणिति' में जिस सुकुमारता और प्रवाह का साक्षात्कार होता है, उससे प्रायः सभी काव्य-रसिक परिचित हैं। स्वयं 'रत्नाकर' जी के समय में अयोध्या के महाराज मानसिंह के पुत्र महाराज प्रतापसिंह का ग्रन्थ 'रस कुसुमाकर' प्रकाशित हुआ था। इसमें संकलित छंदों की निर्दोषता और उनका शब्द-गुंफ ध्यान देने योग्य है। अतः हम कह सकते हैं कि 'रत्नाकर' जी को अपने काव्य में परिष्कृति करने की प्रेरणा इसी वातावरण से मिली थी। इस काव्य प्रेमी समाज में कविता का अर्थ करने के लिए जिस पैनेपन की अपेक्षा होती थी, उसका प्रमाण 'बिहारी-रत्नाकर' नामक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि 'रत्नाकर' जैसे समर्थ कवि किसी भी काव्य युग में विरले ही हुआ करते हैं, किन्तु 'रत्नाकर' जी का युग तथ्यों की दृष्टि से इसका अपवाद था।

उस युग के व्रज भाषा काव्य से निकट का परिचय रखनेवालों की मान्यता है कि स्वयं 'रसाल' जी की काव्य-प्रतिभा 'रत्नाकर' जी के समकक्ष थी। (बाँदा जिले के कमासिन कस्बे के मिडिल स्कूल में मेरे स्वर्गीय पिता श्री हरपाल सिंह जी एवं 'रसाल' जी सहपाठी थे। 'रसाल' जी और उनके छोटे भाई रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' को व्रज-भाषा काव्य की प्रेरणा अपने पिता श्री कुंज बिहारी शुक्ल से मिली थी। श्री कुंज बिहारी उक्त स्कूल के हैड मास्टर थे और प्रत्येक विषय को छंदों में ही पढ़ाया करते थे।[1] भ्रमर गीत विषय को लेकर रसाल जीने कुछ छंदों की रचना की थी, जो किसी भी रूप में उद्धव शतक के छन्दों से हलके नहीं थे। किन्तु उदासीनता वश 'रसाल' जी ने उनके लेखन-प्रकाश की ओर ध्यान ही नहीं दिया। मथुरा के श्री नवनीत चतुर्वेदी की कविताओं की प्रौढ़ता भी खूब प्रसिद्ध है। संभवतः आयु में कुछ बड़ा होने के कारण चतुर्वेदी जी के प्रपौत्र डॉ० मालारविंदम चतुर्वेदी अपने बाबा को 'रत्नाकर' जी का काव्य-गुरु भी बताते हैं। उनके अनुसार अयोध्या नरेश के सम्पर्क

---

१. याको हामा नागासाकी और मलाया कोबी।
जो कोउ याको याद न राखै ताको बाप धोबी॥

—"नाम माला" शैली में बन्दरगाहों के नाम

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में श्री रत्नाकर जी पं० नवनीत चतुर्वेदी के माध्यम से आए थे। जो भी हो, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के सुपुत्र डॉ० रामगोपाल चतुर्वेदी जैसे ब्रज-भाषा काव्य रसिकों को नवनीत चतुर्वेदी के अनेक छंद कंठस्थ हैं तथा उनकी समस्या पूर्तियों की वे भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। नवनीत जी के कुछ छोटे ग्रन्थ प्रकाशित भी हुए हैं, जिनमें 'कुब्जा पच्चीसी' का उल्लेख करना उपयुक्त होगा। इन्हीं के समकालीन कवियों में जालौन जिले के काली कवि[1] की रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। इनका वसंत वर्णन कवियों के बीच विशेष रूप से लोक-प्रिय हुआ था। इसी युग के अल्ले-पल्ले ख्याति अर्जित करनेवाले ब्रज भाषा कवियों में लाला भगवानदीन जी दीन, सीतापुर के लाला हरदयाल सिंह, श्री वियोगी हरि एवं दुलारे लाल भार्गव जैसे व्यक्ति ब्रज-भाषा काव्य-धारा का गौरव बढ़ा सके हैं। इस तरह के कितने ही नाम हमारे स्मृति-पटल पर उभर रहे हैं, किन्तु उनकी गणना कराने से कोई लाभ नहीं होगा। प्रसंगतः हमें यही कहना है कि कार्य और कारण के बीच सदैव एक गहरा सम्बन्ध रहा करता है। इन्हीं सम्बन्धों का तथ्यात्मक एवं युक्ति संगत निरूपण करने में इतिहास की सार्थकता हुआ करती है। ब्रज भाषा क्यों और किस प्रकार मार दी गई, इस प्रश्न पर चर्चा छेड़ कर इतिहास की वस्तुस्थिति से जन सामान्य को अवगत कराना भाषा-साहित्य के इतिहास की प्राथमिक आवश्यकता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम चार पाँच दशकों तक ब्रजभाषा का रचना-प्रवाह अटूट बना रहा है, किन्तु हिन्दी साहित्य के आलोचकों और इतिहास लेखकों, खासकर आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी एवं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की प्रतिशोधात्मक (यह शब्द पं० श्री नारायण जी का ही है) दृष्टियों ने इस युग के कृतित्व को तिरस्कृत करने में कोई कसर नहीं रखी है। अँग्रेजी भाषा और साहित्य-ज्ञान के अहंकार ने प्रतिशोध की अग्नि में घी का काम किया है। शुक्ल जी ने ब्रज भाषा के जीवन-काल में ही अपने इतिहास में सन् १८४४ ई० के आस-पास ही रीतिकाल अथवा ब्रज भाषा काव्य के दिवंगत होने की पोस्ट मार्टम रपट प्रकाशित करके रचनाकारों और काव्य-प्रेमियों को निरस्त कर दिया था। साहित्य पर निर्णय देनेवाले न्याय पीठ रूप में जो विश्वविद्यालय खुलते गए, उन सब में व्यक्तिगत रूप से 'कमिटेड' लोगों की ही नियुक्तियाँ हुईं। शुक्ल जी के अनैतिहासिक बयानों को ब्रह्म वाक्य माननेवालों की ऐसी 'कुल' बुद्धि हुई कि हिन्दी का इतिहास शुक्ल जी की मान्यताओं के चक्रव्यूह में अभिमन्यु की तरह अपना सिरपीट रहा है।

अँग्रेजी भाषा के संस्कारों से प्रभावित आलोचना-दृष्टि ही ब्रज भाषा एवं

१. काली कवि अपने युग के प्रसिद्ध तांत्रिक भी थे। इनकी अनेक रचनाएँ उस युग के काव्य-प्रेमियों को कंठस्थ हो गई थीं। काली कवि के सभी ग्रन्थ डॉ० रमा शंकर द्विवेदी ऐडवोकेट इलाहाबाद हाई कोर्ट के पास सुरक्षित हैं। 'खट बारा' (राजापुर) के बल्देव कवि भी इसी कोटि के थे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतिकालीन साहित्य की सबसे बड़ी शत्रु साबित हुई है। यदि महाबीर प्रसाद द्विवेदी के नेतृत्व में इसे पत्र पत्रिकाओं से वहिष्कृत करने की पहल की गई थी, तो शुक्ल जी ने अध्यापक आलोचकों को यह बताकर 'ब्रेन वाश' कर दिया कि यह काव्य शृंगारिकता, विलासिता एवं ऐन्द्रियता आदि से संपृक्त होने के कारण अच्छे संस्कारों के अनुकूल नहीं है। फलतः उसके प्रति उदासीनता एवं बेरुखी की ऐसी संकाक्रम की बीमारी लगी कि उसका जीवन भी दूभर हो गया। हम कह आए हैं कि इस चक्रव्यूह का जयद्रथ वास्तविक रूप से लार्ड मैकाले ही था।

ब्रज भाषा काव्य-चेतना ने आधुनिक काल के राष्ट्रीय आन्दोलन को गहराई से प्रभावित किया है। भारतेन्दु युग इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। इसी युग से दृष्टि ग्रहण करके मैथिली शरण गुप्त एवं माखनलाल चतुर्वेदी ने परवर्ती काल में आन्दोलन कारियों को प्रेरणा प्रदान की थी। मदन मोहन मालवीय, ब्रज भाषा काव्य के ही माध्यम से भारतेन्दु जी के सम्पर्क में आए और तत्पश्चात राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने में संलग्न हुए थे। बाबू राय कृष्णदास के संस्मरणों में यह तथ्य प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार डॉ० संपूर्णा नन्द वर्मा भी ब्रज भाषा के ही रसिक थे। "द्विजेश-दर्शन" नामक ब्रज भाषा काव्य के प्राक्कथन में उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि ब्रज भाषा काव्य में रस ग्रहण करना ही उनके लिए सुगम एवं स्वाभाविक है। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण ढूंढ़ने पर मिल सकते हैं। तात्पर्य यह है कि ब्रजभाषा काव्य में इस युग में भी जीवन शक्ति का क्षय नहीं हुआ था। मेरे विचार में बाल कृष्ण शर्मा 'नवीन', सूर्य कान्त त्रिपाठी 'निराला' प्रभृति हिन्दी कवियों को भारतेन्दु जी के इन शब्दों ने अवश्य ही प्रभावित किया होगा—**"कवि तू क्यों न वीर रस गावै।"**

उपर्युक्त विवेचन से यही सिद्ध होता है कि बीसवीं सदी में भी ब्रज भाषा में सजीवता के साथ राष्ट्रहित साधन की ऊर्जा अविकल रूप में विद्यमान थी। काव्य की आत्मा के रूप में भगवान श्री कृष्ण ने जीवन को बल देने वाली कविता को ही सच्ची कविता की संज्ञा प्रदान की थी—**कवीनामुशनाः कवि**[1] की कसौटी पर अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने के साथ ब्रज भाषा काव्य के प्रशंसकों के अन्तः करण में भारतीय धर्म-संस्कृति के प्रति निष्ठा का सतत् संचार भी इसी के माध्यम से हुआ है, जिस जिजीविषा के कारण **हिन्दू धर्म-साधना में देवता के किशोर रूप का ही ध्यान करने का विधान किया गया है, उसी मूल दृष्टि से प्रेरित होकर रीतिकालीन कवि यौवन की उपासना में रत रहे हैं।** श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी, शुक्ल जी एवं उनके शिष्य वर्ग ने इसी पक्ष को तिरस्कृत करने का मार्ग दर्शन किया है। कुएँ की जगत पर खड़े होकर श्वेत केशोंवाले केशवदास द्वारा अपने विगत यौवन का सहज स्मरण आलोचकों के पूर्वाग्रहों के कारण अपराध मान लिया गया है। आलोचक और इतिहासकार को

---

१. देखिए 'मेरे कुछ मौलिक विचार' पृ० सं० १८ श्री किशोरी दास बाजपेयी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को अधिक से अधिक वस्तुनिष्ठ होने की आवश्यकता होती है। यदि वह पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हो जाता है, तो निर्णय की पवित्रता नष्ट हो जाती है। यौवन की जीवन्तता से सराबोर रीतिकालीन साहित्य के सम्बन्ध में हम यही कहेंगे कि केशव की चिर कुमार बने रहने की स्पृहा, उक्त काल के कवियों के लिए सजीवन मूर की तरह जीवन-दायिनी रही है। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु युगीन किन्ही सेवक कवि का निम्नांकित कथन प्रमाण रूप से उद्धृत किया जा रहा है—

"कवि सेवक बूढ़े भए तो कहा
पै हृय रोज है ओज मनोज ही को।"

व्रज भाषा कवियों की मस्ती और उनके जीवट का प्रमाण देखने के लिए भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जीवनी को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। उनका समस्त जीवन साहस, मस्ती, कर्मठता और निस्पृहता के दस्तावेज के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। मृत्यु शैय्या पर लेटे लेटे उन्होंने तत्कालीन काशिराज ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह के पास जो छंद लिख कर भेजा था, उससे प्रायः सभी परिचित हैं—

प्यारे जु है जग की यह रीति,
विदा के समय सब कंठ लगावैं॥

इस छंद की रचना प्रमाणित करती है कि रीतिकालीन काव्य-परम्परा आँसू की नुमाइश लगाने की स्त्रैणता का प्रदर्शन करने के स्थान पर बड़ी से बड़ी पीड़ा को हँसते और मुस्कराते हुए झेलने का आत्मबल प्रदान करती थी। नरहरि, बीरबल रहीम, गंग, भूषण गुरुगोविन्द सिंह, भगवंतराय खीची और रसलीन जैसे वीरोपासक और युद्ध जीवी कवियों की परम्परा में उत्पन्न भाषा कवि ही एक ओर चट्टानी दृढ़ता और दूसरी ओर आत्मीयता की तरलता का समन्वित परिचय दे सकता था। उथल पुथल, संघर्षों और रक्तपात की पीड़ा को शताब्दियों उत्साह पूर्वक झेलने की शक्ति प्रदान करनेवाले काव्य को अपमानित करके हमने अपने इतिहास की गंगोत्री को ही दूषित करने की अदूरदर्शिता की है। जो जाति अपने इतिहास-बोध से वंचित हो जाती है, उसका भविष्य अंधकारमय हो जाता है। रीतिकालीन काव्य अपने युग की रुग्णताओं के लक्षण उपलक्षण-इकट्ठे करने के स्थान पर तत्कालीन जन-जीवन को विषमताओं में महौषधि देने का काम कर रहा था, आलोचना संबंधी यही दृष्टि वस्तुनिष्ठ कही जा सकती है।

☐ रीतिकाल के गुन-गाहकों की एक झलक :

ज्ञात तथ्यों के अनुशीलन द्वारा अनुमेय पद्धति से हम अलोच्य युग के काव्य रसिकों की मानसिकता का परिचय देना उचित समझते हैं। इस दृष्टि से हम आचार्य

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी 'दीन' के सम्बन्ध में सुनाए गए एक संस्मरण का उल्लेख करना उचित समझते हैं। पं० श्री नारायण चतुर्वेदी सारस्वत समारोह, प्रयाग (१६७६ नवम्बर) के अवसर पर आचार्य जी ने बताया था कि स्वर्गीय दीन जी मृत्यु शैय्या पर लेटे-लेटे महाकवि देव के एक सवैया में इस तरह डूब-उतरा रहे थे कि उन्हे अपनी पीड़ा और मृत्यु भय का ध्यान ही नहीं रह गया था—

"ऐसी रसीली अहीरी अहै, कहो क्यों न लगै मन मोहनै मीठी"

इस चरण पर पहुँचकर दीन जी मुस्कराते हुए अर्थ संगति की दृष्टि से देव के 'मनमोहन' शब्द प्रयोग की त्रुटि लक्षित करते हुए अपने समाधान के रूप में गोपाल शब्द की उपयुक्तता पर ध्यान आकृष्ट करने लगे। मृत्यु कष्ट में भी 'काव्य-रसायन' का सेवन करने में जो सुख दीन जी को मिल रहा था, उसी का अनुभव करनेवाली स्थिति के लिए भाव-तल्लीनता संज्ञा का विधान किया गया है। काव्य में रस का चर्वण भी ऐसे ही साधकों को सुलभ होता है। इस स्थिति को जिस औपचारिक रूप से पाठ्य क्रमों में वाक् जाल के घटाटोप में पढ़ाया जाता है, वह रस का उपहास मात्र ही है। आचार्य किशोरी दास बाजपेयी ने ठीक ही लिखा है कि **'रस' शब्द का अर्थ झमेले में डाल दिया गया, सो तो हुआ ही, परन्तु 'रस' का रूप समझने में तो बहुत बड़ा 'गोरख धंधा' खड़ा कर दिया गया है, जिसमें छात्र ही नहीं विद्वान भी डूबते उतराते रहते हैं और आनन्द उतना ही आता है जितना समुद्र तट पर खारे तथा रेतीले पानी की लहरों में स्नान करके प्राप्त करते हैं।..........'यह रस ब्रह्मास्वाद सहोदर' है—ब्रह्म का सा आनन्द है 'रस' में। ब्रह्मानंद तो सभी को सुलभ है ही, सब उस आनन्द से परिचित हैं, बस वैसा ही काव्य-रस है।'**

—मेरे कुछ मौलिक विचार, पृ० २७

जिस कोटि के काव्य-रसिक श्री दीन जी थे, उसी तरह के एक अन्य काव्य-प्रेमी बड़ौदा विश्व विद्यालय के स्वर्गीय प्रोफेसर जी० बी० पंड्या थे। अध्यक्ष तो इतिहास-विभाग के थे, किन्तु चित्त रीतिकालीन कवियों के छंदों के संसार में ही रमण करने को समुत्सुक रहता था। दुर्भाग्य से उन्हे रक्त कैंसर रोग ने जकड़ लिया था। यद्यपि उन्हें अपने निकट अंत का पता था, किन्तु इस दशा में भी वे देव और घनानन्द के छन्दों में ऐसे डूब जाया करते थे कि मृत्यु की आसन्नता से उनका चित्त कभी डाँवा डोल नहीं होता था। यह काव्य-सुधा उनके लिए 'ट्रैंक्युलाइजरों' का काम करती थीं। जब कभी उनके साहित्यिक मित्र श्री कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह उनके सन्निकट हुआ करते थे, तब वे अक्सर यही फर्माइश किया करते थे कि देव का अमुक छन्द सुनाओ। देव के वे विशेष प्रेमी थे तथा उनकी दृष्टि में देव जी की काव्य-शक्ति और प्रतिभा महाकवि सूरदास एवं तुलसीदास के निकटस्थ थी। किसी किसी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षण जब उनके मन में निराशा का झटका उभर आता था, तब आँखें बन्द करके वे अक्सर घनानन्द का यह छंद गुन गुनाने लगते थे—**चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को।**'

रीतिकालीन काव्य प्रेमियों की स्मरण शक्ति भी आश्चर्यजनक होती थी। इसका एक उदाहरण देने के लिए मैं बाँदा जिले के सधुँवा गाँव के स्वर्गीय नन्दलाल सिंह का उल्लेख उचित समझता हूँ। आयु में बहुत बड़े अन्तर के बावजूद काव्यानुराग का किंचित लक्षण देखकर उन्होंने मुझे अपना मित्र मान लिया था और घेर घेर कर हजारों रीति कालीन कवियों के हजारों छंदों का श्रवण (आस्वादन नहीं) कराया था। उनके पास मैंने कभी किसी कवि की किताब नहीं देखी है। घर पर भी उन्होंने कभी कोई किताब रखने का लोभ नहीं किया था। इस सम्बन्ध में वे संग्रह के लोभ से रहित एक उदासी साधु की तरह थे। किताब पढ़कर लौटाने से वे कभी नहीं चूकते थे, किन्तु पढ़ी हुई किताब के छन्द उनकी स्मृति और जिह्वा पर नाचने लगते थे। यदि किसी ने कोई छन्द पढ़ा और उनका ध्यान अटक गया, तो बड़ी मिठास से यही कहते थे **"भइया बहुत नीक है कहाँ सुन्यो रहै तनी एक दा अउर न सुनइहौ"** और दूसरी बार सुनते ही छन्द का इतिहास और छन्द उनका हो जाया करता था। इस तरह यदि उनकी वाणी को 'हजारा' या 'दस हजारा' नाम दिया जाय, तो अत्युक्ति न होगी। मेरे विचार में ब्रज भाषा काव्य के प्रत्येक सच्चे रसिक की जिह्वा पर उसका अपना 'हजारा' विद्यमान रहता था।

प्रस्तुत ग्रन्थ में उनका नाम जोड़ते समय मेरे मन में यह संदेह उठा कि कहीं ऐसा न हो कि नन्दलाल भइया स्वयं भी छंद रचना करते रहे हों और आत्म विज्ञापन से दूर रहने की प्रवृत्ति के कारण ही किसी अन्य को अपने कवि-कर्म के विषय में कुछ भी नहीं बताया हो। अतः इन पंक्तियों को पूरा करने के पूर्व मैंने गाँव जाकर उनसे सीधा सवाल किया कि आपने कभी कविता लिखी है या नहीं? उन्होंने हाथ जोड़कर रोग शैय्या पर पड़े-पड़े अपनी अस्फुट वाणी में ही कहा 'न मैंने कभी नहीं लिखा'। फिर बोले कि बाबा इन्दरजीत सिंह जरूर लिखते थे, लेकिन किसी को बताते नहीं थे। मुझे ही (अपने को) बताया था। तत्पश्चात गाँव में ही लगनेवाली अपने बाबा की अन्तरंग काव्य-गोष्ठी के अनेक कवियों के नाम गिना दिए। कवियों के उदाहरण भी सुनाते गए। इन कवियों में बाँदा के गंगा प्रसाद की वे सदैव बड़ी प्रशंसा करते रहे हैं। गंगाप्रसाद जाति के कहार थे और कविता में अपना नाम 'वृजेश' अथवा 'वृजनाथ' लिखा करते थे। इनकी रचनाओं के उदाहरण प्रस्तुत करते समय हमेशा यही कहा करते थे 'अब इस विषय में कहार बाबा को सुनो।'

उक्त प्रसंग का उल्लेख करने का उद्देश्य यह बताना है कि ब्रज भाषा काव्य की समस्त चेतना लोक पर आधारित थी और उसने ग्रामीण समाज को काव्य सेवी, काव्य जीवी और काव्य-धर्मी बना दिया था। साहित्य की सृजनशीलता और उसकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लोक-प्रियता को विकसित करने की दिशा में अनेक स्वयंभू व्यक्ति-संस्थाएँ सर्वत्र क्रियाशील थीं। इस दृष्टि से इन संगोष्ठियों को समाज में काव्य का प्रचार और प्रसार करनेवाली अनौपचारिक पाठशालाएँ कहा जा सकता है। ब्रज भाषा के बाहरी क्षेत्रों में ब्रज भाषा की जड़ों को विकसित करने में जिस अन्तर्दृष्टि और निस्वार्थता से काम लिया गया था, **जब तक उसका अनुसंधान करके वर्तमान काल में हम उससे सुपरिचित होकर उसे अपनी प्रेरणा का विषय नहीं बनाएँगे, तब तक हम हिन्दी और राष्ट्र-भाषा संबंधी आसन्न समस्याओं का समुचित समाधान नहीं ढूंढ़ सकेंगे।** यदि ब्रज भाषा जैसी साहित्य भाषा एवं उसके साहित्य युग के इतिहास प्रश्न पर जन समाज की आँखों में धूल झोंकी जा सकती है, तो शेष इतिहास जिसकी संवेदना हमारे लिए दूर का विषय बन गई है, उसको मन चाहा रूप देनेवालों के प्रयत्नों को समझ पाना कितना कठिन है। देश की हित-चिंता करनेवालों को इसे समझने की आवश्यकता है। आज का खड़ीबोली काव्य अभी तक ग्रामीण क्षेत्रों में प्रवेश पाने में असफल सिद्ध हुआ है, जबकि ब्रज भाषा का रीतिकालीन काव्य ग्रामीण जनता का कण्ठ स्वर एवं कंठहार बनकर ही जीवित रह सका है। मेरे ही गाँव अर्की के अल्हैत गज्जू बाबा पठान हमारी ही चौपाल पर जब बियारी करने के पश्चात् आल्हा गाने बैठ जाते थे, तो कथा प्रसंग में अनेक सवैया और घनाक्षरी छंदों को ऐसे चस्पा कर देते थे कि श्रोता मंत्र-मुग्ध हो जाते थे। वस्तुतः वाचक और श्रोता दोनों ही वर्ग पूर्णतः निरक्षर होते थे, किन्तु उनकी साहित्य-संवेदना के विकास की जब मैं आज कल्पना करता हूँ, तो काव्य मर्मज्ञता पर आश्चर्य चकित हो जाता हूँ। अँग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण ब्रज भाषा काव्य की इस परम्परा को कितना घातक धक्का लगा है, इस प्रश्न पर उचित रीति से ध्यान ही नहीं दिया गया है। 'श्रृंगार सुधाकर' की भूमिका में कवि मन्नालाल ने १८८७ ई० में ही इस वस्तुस्थिति को इंगित कर दिया था। कवि के शब्दों में ब्रज भाषा कवियों की पूर्व परम्परा का परिचय भी सन्निहित है। अतः हम उसे उद्धृत करने का लोभ नहीं संवरण कर पा रहे हैं—**"इन दिनों बहुधा लोग बिना समझे बूझे जोई चाहते हैं वही ग्रन्थ लिखने पढ़ने लगते हैं और बिना उत्तम काव्य के पढ़े गुने ग्रन्थ बना के छपवा देते हैं परन्तु उसे काव्य नहीं कहते × × × × क्योंकि —**

जाके लागत तुरत ही सिर ना डूलै सुजान।
ना वह गीत न कबित रस, ना वह तान न बान॥

रीतिकालीन कवियों की चिरकाल तक युवा बने रहने की स्पृहा का उल्लेख किया जा चुका है। इस भाव-ग्रन्थि के संपोषक 'काम' अथवा 'सेक्स' के माध्यम से दाम्पत्य जीवन को श्रृंगार रसान्वित करते हुए रीतिकालीन कवियों ने व्यक्ति एवं समाज को कुंठा मुक्त रखने की दिशा में स्वस्थ जीवन-दृष्टि का संचार किया था।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आजकल के लेखन में आम आदमी के मनोविश्लेषण की धुन में जिस संशय ग्रस्तता एवं अनिर्णय जन्य पीड़ा तथा मानव स्वभाव की विश्रृंखलता को हवा दी जा रही है, उसके सेवन से रसिक समाज में उत्फुल्लता का संचार होने के स्थान पर धुएँ जैसी घुटन का ही अनुभव किया जा रहा है। आज की इस स्थिति के विपरीत रीतिकालीन परिवेश में सहृदय वर्ग शंकर की तरह दुख के दंश को स्वयं में सीमित रख कर सामान्य सामाजिक के लिए मनोविनोद और सुखात्मक भावों की उपलब्धि कराने में संलग्न रहता था। रीतिकाल की इस समाज-साधना की अवहेलना करके उस युग के साहित्य को घिसी पिटी और आयातित मान्यताओं के आधार पर मूल्यांकित करना भारतीय परम्परा को निषिद्ध समझने जैसा है। उस युग की कविता दोनों हाथों से सुख का वितरण करती रही है—**"दास कवित्तन की चरचा गुनवंतन को सुख देति सदाई।"**

वस्तुतः रीतिकालीन कवि-समाज जीवतन्ता का प्रतीक और साहस शीलता का अधिष्ठान रहा है। उस युग के अधिकांश कवि जिन्दगी को सम्पूर्ण रूप और स्वाभिमान के साथ जीने की साधना में रत रहनेवाले 'नाहर' अथवा नर पुरुष थे। उन्हें 'कापुरुष' कहना सरासर अन्याय है। लाख लाख मुद्राओं का स्वर्ण पसाव (पुरस्कार) पाने पर जिस हर्षित मन से वे लोग काव्य-प्रेमी का यशोगान करते थे, उसी तरह छन्द भनते हुए आसन्न मृत्यु की ओर से बेपरवाह रहते हुए हाथी के पाँव से कुचले जाने की प्रतीक्षा में अडिग भाव से खड़े रहते थे [गंग]। इस हाथ से लिया और उस हाथ से लुटा दिया [बीरबल और रहीम], यही उनका स्वभाव रहा है। भूषण और ठाकुर जैसे अनेक ठसकदार कवि उस युग में विद्यमान थे। बादशाह के प्रतिनिधि रूप में ताज पहनकर दक्षिण में सूबेदारी करना और अपदस्थ हो जाने पर चित्रकूट में भार झोंक कर जीविकार्जन करने में जीवन के उतार-चढ़ाव और उसकी विषमताओं को भोग कर भी रीतियुग के अधिकांश कवियों ने किसी प्रकार की कुंठा को पास नहीं फटक ने दिया था।[1] उस युग के काव्य में स्वाभिमान और पुरुषोचित गुणों की ही स्वीकृति होती थी। आलोच्य युग में लोगों के हृदय में भय जन्य जड़ता का प्रसार नहीं था। रण क्षेत्र में होनेवाली मृत्यु को सौभाग्य मानते हुए उसका आलिंगन करने के लिए कवि-गण निर्भीक रूप से आगे बढ़ते थे। कवि अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए जिन सपनों को सँजोते थे, उसकी एक झलक रहीम के दोहे में देखी जा सकती है—

---

१. प्रश्न तुलसीदास का— 'जाके सिर पर भार अस, सो किमि झोंकत भार ?
उत्तर रहीम का— रहिमन उतरे पार, भार झोंक सब भार में ॥
तथा
दर दर डोलत दीन ह्वै, माँगि मधुकरी खाँहि।
यारो यारी छोड़िए, ये रहीम वै नाँहि ॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रहिमन धर ते जुदा ह्वै, हँस्यो सीस धरि खेत।
काकहूँ काकहूँ नमित हम, अपन पेट के हेत।।

रीतिकालीन कवियों की उक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र नख से लेकर शिख तक सम्पूर्णतया रीतिकालीन जीवन्तता के ही प्रतीक थे। इसी तरह सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में भी रीतिकालीन अर्थात भारतीय काव्य-चेतना का ही रूपान्तरण (ट्रांसफार्मेशन) हुआ है। 'जूही की कली' का अध्ययन करते समय यदि किसी रीति-कालीन कवि की—"मृगछौना सी बाल विछौना पै लोटति" का स्मरण हो आता है, तो 'बादल राग' जैसी कविता के अंत:करण में भूषण जैसे कवि का व्यक्तित्व झाँकता मिलता है। केशवदास के हृदय में विद्यमान कवि सहज स्वाभिमान को अपने अंतस में निर्निमेष भाव से जाग्रत रखने के लिए ही 'निराला' जी ने 'बन बेला' की रचना द्वारा साहित्य साधना को जीवन साधना से अभिन्न मानते हुए साहित्य साधना को असिधार पर दौड़ने की परीक्षा मानकर उस पर खरा उतरने का संकल्प किया था। यही नहीं मेरे परम हितैषी मित्र बड़ौदा विश्व विद्यालय के ध्रुवपदीय वीणाकार श्री भरत जी व्यास ने मुझे बताया है कि 'निराला' जी की खड़ीबोली में 'ध्रुवपद' छंद रचने की उत्कट इच्छा थी। इस दिशा में उन्होंने समुचित प्रयत्न भी किए थे, किन्तु भरत जी भी एक ऐसे टेढ़े गुरु हैं कि उन्होंने 'निराला' जी को अपने विषय में कभी फर्स्ट क्लास नहीं दिया। अत: निराला जी इस मार्ग से स्वयं हट गए। 'निराला' जी के ही समान प्रसाद जी की काव्य सृष्टि में भी रीतिकालीन रूप छवियों ने अपने प्रतिबिम्बों द्वारा रमणीयता के साथ साथ उनके काव्य को विभूति मय बनाया है। अत: रीति कालीन काव्य वैभव को प्रकट करने के लिए हम तुलसी के शब्दों में कह सकते हैं कि यह काव्य मंजुल, मंगल प्रद (लोक-कल्याण का साधक) और आह्लाद उत्पन्न करने वाला है—

सुकृति संभुतन विमल विभूती।
मंजुल, मंगल, मोद-प्रसूती।।

❑ साहित्य में तंत्रोन्मुख लक्षणों का विकास :

भारतीय (वैदिक ?) साहित्य में तंत्र-विद्या और तंत्र साधना का प्रवेश क्यों और कैसे हुआ, यह अत्यन्त जटिल एवं गूढ़ विषय है। उक्त समस्याओं में उलझने के स्थान पर तंत्र-विद्या के व्यावहारिक पक्ष में ही सीमित रहना प्रासांगिक होगा। सामान्य रूप में तंत्र साधना द्वारा साधक अपने तथा अपने यजमान के ऊपर आने वाली विभिन्न आपदाओं का निवारण करने के लिए इसका उपयोग करता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इसलिए 'तंत्र' को मानव का **'परित्राणक'** माना गया है। यही नहीं तंत्र-विद्या मनुष्यों की प्रसुप्त एवं गुप्त क्षमताओं का विस्तार करती हुई उनकी सुख-समृद्धि के मार्ग को प्रशस्त भी करती है। इसप्रकार तंत्र साधना को भौतिक विषयों के शिखर पर पहुँचानेवाली सीढ़ी कहना ही उचित होगा। इसी उपयोगिता के कारण सामाजिक रीति रिवाजों में अनेक रूपों में तांत्रिक मान्यताएँ घुल मिल गई हैं।

रीतिकालीन समाज एवं मान्यताओं में तांत्रिक प्रभाव की चर्चा करने के पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'तंत्र विद्या' को अंध विश्वास एवं मध्यकालीन संस्कारों के रूप में ही सीमित कर देना उचित नहीं हैं। इसे अँग्रेजी भाषा के 'टैबूज एवं टोटम' का पर्याय भी नहीं समझा जा सकता। शताब्दियों की साधना द्वारा इस विद्या को विज्ञान की तरह प्रामाणिक बनाने की दिशा में काम करते हुए ज्ञान विज्ञान के अनेक विषयों के साथ इस विद्या को 'इंटीग्रेट' करने का ही काम किया है। इसके मूल में अंध विश्वास के स्थान पर तर्क की प्रतिष्ठा को भी लक्ष्य किया गया है। यही वजह है कि आज का पढ़ा लिखा समाज भी लुक छिप कर 'मंत्र' और तंत्र की शक्तियों पर विश्वास करता है। भारतीय संविधान में 'साइंटिफिक टेंपर' का आग्रह करनेवाले बहुत से संसद सदस्य अपने राजनैतिक अभ्युदय एवं अपने प्रतिद्वन्द्वियों के पराभव के लिए तांत्रिकों के आगे पीछे भागते देखे गए हैं। इसी आधार पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि रीतिकालीन समाज में इसकी जड़ें बहुत गहरी रहीं होंगी।

हिन्दू राजाओं में तांत्रिकों की मान्यता का प्रभाव मुग़ल बादशाहों पर भी हुआ है। अकबर की धार्मिक उदारता की आलोचना करता हुआ इतिहासकार बदायूनी इस संबंध में पर्याप्त प्रकाश डालता है। उसके अनुसार अकबर ने सूर्य की उपासना करने के लिए दिन में चार सूर्य संख्याओं का समय निश्चित कर दिया था। वह स्वयं भी सूर्य के सहस्र नामों का जप करने लगा था। हिन्दी भाषा के कवि उसे सूर्य का अवतार अथवा प्रतिरूप मानकर ही उसके लिए **'अक्क'** (अर्क) नाम का व्यवहार करते थे। आगरा नगर में उसके पास योगियों की इतनी भीड़ बनी रहती थी कि उनके निवास के लिए 'जोगीपुरा' नामक एक मोहल्ला बसाना पड़ा था। इसीतरह जहाँगीर को भी तांत्रिकों की सिद्धि पर विश्वास था। उसने 'कृष्णदत्त' नामक तांत्रिक भाषा कवि को बुन्देलखण्ड के हमीरपुर जिले में एक गाँव की माफी प्रदान की थी। कालांतर में इसी वंश में मोहनलाल मिश्र (संवत् १८८५–१६४४ विक्रमी) नामक कवि उत्पन्न हुए हैं। मोहनलाल ने ही लिखा है कि—

तिनको (कृष्णदत्त को) साह जँघीर ने,
कीन्हो अति सनमान।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दान दाम दै कै कियो,
मिसिर खिताब सुखान ।।

अकबर और जहाँगीर का अनुसरण करते हुए दारा शुकोह ने अनेक हिन्दू तांत्रिकों को मान्यता प्रदान की थी। कंधार के घेरे के समय उससे संपर्क स्थापित करनेवाले अनेक तांत्रिकों का वर्णन प्रोफेसर कानून गो के ग्रन्थ 'दाराशिकोह' में उपलब्ध होता है। १६५३ ई० में कंधार के घेरे में 'इन्द्र गिरि' नामक एक तांत्रिक उपस्थित हुआ था जो कहता था कि वह ४० प्रेतों को अपने वश में रखता है। हिन्दुओं की तरह मुसलमान भी इस तरह की सिद्धि में विश्वास रखते थे। 'दारा' से मिलनेवालों में एक हाजी भी था, जो कहता था कि वह मंत्रों के बल से तोपों और बन्दूकों का मुख एक 'पस' (पहर) तक बंद रख सकता है। इसी युग में शिवाजी के राज्यारोहण में तांत्रिकों की उपेक्षा करके जो भूल की गई थी, उसको सुधारने के लिए शीघ्र ही तांत्रिक पद्धति के अनुसरण पूर्वक छत्रपति को अपने अभिषेक के लिए दूसरा आयोजन करना पड़ा था।

इसी युग के महाराजा जसवंतसिंह के विषय में 'अजित विलास' नामक ग्रन्थ से यह सूचना मिलती है कि 'हिंगुलाज' के जोगियों के आशीर्वाद से ही उन्हें जमरूद थाने में पुत्र लाभ हुआ था। इसी पुत्र का नाम अजित सिंह रखा गया था। अजित सिंह के पत्रों में शीर्ष स्थान पर जैहिंगुलाज' का श्रीनामा अंकित किया जाता था। ऐसे पत्रों को 'वीर विनोद' नामक ग्रन्थ में देखा जा सकता है। अतः इनसे 'अजित विलास' में आए उल्लेख की प्रमाणिकता की पुष्टि होती है।

इसी तरह दशम गुरु गोविन्दसिंह जी ने भी चंडी यज्ञ कराने के साथ स्वयं भी 'चंडी चरित्र' अथवा 'उक्ति विलास' नाम से मार्कण्डेय पुराण की कथा का सुललित छंदों में छायानुवाद किया था। यह रचना सकाम भावना से ही की गई थी, इसका प्रमाण अंतिम छंद में निवद्ध है। रचना की पूर्ति होने पर कवि ने एक सवैया में आराध्य के समक्ष निर्भय होकर शत्रु से युद्ध करने और युद्ध में विजयी होने की याचना की थी—

देहि शिवा वर मोहि यहै, शुभ कर्मन ते कबहूँ न टरौं।
न डरौं अरि सों जब जाय लरौं, निहचै करि आपनि जीति करौं ।।
औ सिख हों अपने मन को यह लालच है गुण तौ उचरौं।
जब आयु कि औध निदान बने अतिही रण में तब जूझ मरौं ।।

जिन दिनों गुरु गोविन्द सिंह जी चंडी चरित्र की रचना में संलग्न थे, लगभग उन्हीं दिनों आमेर के कछवाहा घराने पर औरंगजेब की शनि-दृष्टि लगी हुई थी। कछवाहा राजा विष्णु सिंह राजकोप के निवारणार्थ अपने राजकवि कुलपति मिश्र से

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

'दुर्गा भक्ति चंद्रिका' नाम से चंडी चरित्र अथवा दुर्गा सप्तशती का अनुवाद करा रहे थे। यही नहीं उन्होंने चंदेरी के बुन्देला राजा देवीसिंह के आश्रय में रहनेवाले शिवानन्द नामक तैलंग तांत्रिक को बुन्देलखण्ड से बुलाकर आधुनिक जयपुर से १० मील पश्चिम की ओर 'महापुरा' नामक ग्राम में प्रतिष्ठित किया था। इस गाँव में शिवानन्द जी ने कामेश्वर एवं कामेश्वरी की अर्धनारी नटेश्वर की मूर्ति स्थापित की थी। यह मूर्ति कामना युक्त भक्तों की इच्छाओं को पूरा करती थी। इस गाँव को उस युग में तांत्रिक शिक्षा के लिए विद्यापीठ के समान विकसित किया गया था—

काशीति लघ्वी गदिताहि लोके।
ह्यनेक शास्त्राभ्यसनेन साकम्॥
मन्त्राद्यनुष्ठान विधान दीक्षा।
परम्परा यत्र जनाः लभन्ते॥

इसी प्रसंग में हम महाराज छत्रसाल के एक पत्र का उल्लेख करना उचित समझते हैं। इसके अवलोकन से यह ज्ञात होता है कि उन्होंने धामौनी दुर्ग पर अधिकार करने के पहले प्रयास में सेना की बहुत बड़ी क्षति उठाई थी। युद्ध में स्वयं भी बुरी तरह घायल हो गए थे। इस विफलता के पश्चात 'मऊ' आकर उन्होंने 'आशा देवी' का अनुष्ठान करने के उपरांत जब दूसरी बार आक्रमण किया, तब उन्हें पूरी तरह सफलता मिल गई। इसी युग में सुखदेव मिश्र जैसे तांत्रिक भाषा-कवि विद्यमान थे। दौलतपुर निवासी उनके वंशज श्री फूल चन्द मिश्र से हमें ज्ञात हुआ है, मिश्र जी बावन राजाओं के मंत्र गुरु थे। फूल चन्द जी ने प्रमाणों के आधार पर अड़तालीस राजाओं और उनके ठिकानों की सूची बनाई है। इन शिष्यों में डौंड़ियाखेरे के बैस राजा राव मर्दन सिंह का नाम विशेष रूप से विख्यात है। एक अवसर पर राव साहब इतने बीमार हो गए कि उनके जीवित रहने की आशा नहीं रह गई। इस संकट-काल में मिश्र जी अमेठी में थे और वहीं पर उन्होंने दुर्गा का अनुष्ठान करने के पश्चात कुछ कवित्तों की रचना की। ये कवित्त भी फूल चन्द मिश्र को प्राप्त हुए हैं। छंदों का श्रवण करते ही मृत्यु शैय्या पर पड़े हुए राव मर्दन सिंह उठकर बैठ गए। इस काव्यगत अंतर्साक्ष्य को प्रमाणित करनेवाली अनुश्रुति भी इस क्षेत्र में विद्यमान है, जिसकी चर्चा आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'प्राचीन पंडित और कवि' नामक ग्रन्थ में की है। उदाहरण के रूप में सुखदेव मिश्र के दो छंद उद्धृत किए जा रहे हैं—

गौरी तू गिरा तू मोद मदिरा तू,
जल थल में थिरा रुचिरा सर्वाणी है।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

नाग पालिनी जग-बाग मालिनी तू,
दुर्गा कपालिका महामाया मघवानी है।
ईश धरिणी तू चारिउवेद वरणी तू,
कलिकी कतरनी तू धरिणी जग जननी है।
गरे परे रहौं औरके न नेरे भयों,
जगदंब अवलंब मेरे एक तू भवानी है।[1]

इस तरह के स्तुति परक छंदों के उपरांत राव मर्दन सिंह को संबोधित करते हुए जो छंद लिखा गया था, वह इस प्रकार है—

अरि मंडल फोरि फतै करिकै,
अरि फौजन फारि कै नाखिबे है।
बहु संख्यक छंद प्रबंध बनाय,
हमैं जस रावरो भाखिबे है।[2]
अकुलाने कहा मरदाने अबै,
रस श्रौनन ते तुम्हैं चाखिबे है।
रघुनायक राम की नाईं तुम्हैं,
जग में रहिबे जग राखिबे है।[3]

महाकवि भूषण, मतिराम, शिवाजी और शंभू जी के आश्रय में स्थायी रूप से रहने वाले कवि 'कलश', कुलपति मिश्र, गुरु गोविन्दसिंह, भगवंतराय खीची, सुखदेव मिश्र, पद्माकर, ग्वाल, चरखारी के 'मान' आदि कवियों की जीवनी एवं रचनाओं में प्राप्त अन्तर्साक्ष्यों के अवलोकन से इन कवियों के ऊपर तांत्रिक प्रभावकी पुष्टि होती है। अतः तथ्यों पर दृष्टि रखकर कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में विद्यमान तांत्रिक आग्रहों की पृष्ठभूमि को हृदयंगम किए बिना आलोच्य युग के साहित्य का समुचित रूप से मूल्यांकन संभव नहीं हो सकता है। रीतिकाल के संगीत एवं चित्र कला में प्रगट होनेवाले तांत्रिक प्रभाव की अपेक्षा साहित्य को तंत्र ने अधिक गहराई से प्रभावित किया है। उक्त कलाओं में प्रस्फुटित होनेवाले प्रभावों की तुलना में साहित्य में प्रतिबिम्बित प्रभाव जटिल रूप में ही घटित होते हैं। तंत्र-चेतना अन्तःकरण के मार्ग से शब्द और अर्थ का विषय बनकर ही काव्य में सुशोभित हो सकती है। अतः इसके स्वरूप को निरूपित करने के लिए सूक्ष्म अन्त

१. श्री फूल चन्द मिश्र से प्राप्त
२. श्री सुखदेव मिश्र ने संभवतः इसी घटना के बाद मर्दन रसार्णव की रचना की होगी।
३. इस पंक्ति में रीतिकालीन काव्य नायकों के लोक रक्षक आदर्श का सशक्त चित्र प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं विशेषताओं को इतिहासकारों ने अनदेखा कर दिया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दृष्टि की अपेक्षा है। रीतिकालीन साहित्य के अन्तर्गत परलोक के स्थान पर इहलोक का वरण होने से साहित्य की यह परिणति स्वाभाविक थी।

काव्य-कला के अन्तर्गत छन्द-विधान के संघटक तत्व 'वर्ण' 'मात्रा' और 'ध्वनि तरंगों' पर आधारित रहते हैं। मंत्र शास्त्र के अन्तर्गत भी इन्ही शक्तियों का आश्रय लेकर बीजाक्षरों का अनुसंधान किया जाता है। उक्त तत्वों को आधार बनाकर मंत्र शक्ति के अधिष्ठान बीजाक्षरों का निश्चय किया गया है। छंद-रचना में 'गणों' की शुभाशुभता की तुलना आंशिक रूप से मंत्र-शक्ति के साथ हो सकती है। रीतिकालीन मान्यताओं के अनुसार वर्ण और गण प्रयोग में असावधान कवि स्वयं के साथ अपने आश्रयदाता के लिए भी घातक एवं विनाशकारी माना जाता था। इसके विपरीत सावधानी पूर्वक 'शुभ' गणों से निर्मित छंदों की उचित ध्वनि-तरंगों द्वारा कर्ता और आश्रयदाता के सभी मनोरथों की सिद्धि की आशा की जाती थी। इसीलिए उस युग में पिंगल शास्त्र का सम्यक अध्ययन करने के उपरांत ही काव्य रचना के क्षेत्र में प्रवेश करने की परम्परा विदयमान रही है। वस्तुतः उस युग में 'पिंगल की पढ़ाई' मुहावरे के रूप में प्रचलित रही है। काव्य क्षमता को प्रतिभा का विषय माने जाने के फलस्वरूप उसे अभ्यास साध्य ही माना जाता था ; जबकि पिंगल विषय को शिक्षा-साध्य माना जाता था। इसी विशेषता के कारण ब्रज भाषा को 'पिंगल' संबोधन प्राप्त हुआ था। रीतिकालीन कवियों के आश्रयदाता प्रायः अपने आश्रित कवियों से मंत्र दीक्षा भी लिया करते थे क्योंकि ये कवि छंद-शक्ति के सिद्ध माने जाते थे।

एतद्विषयक तथ्यों पर दृष्टिपात करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा काव्य की लोकाभिमुखता और तांत्रिक प्रभाव की वृद्धि में एक प्रकार का ताल मेल है। कबीरदास और तुलसीदास की रचनाओं के अन्तर्साक्ष्यों की तुलना करने से प्रकट होता है कि कबीरदास पर तुलसी की अपेक्षा वैष्णव संस्कारों का प्रभाव अधिक गहरा था। शाक्त मतावलम्बी तांत्रिकों के प्रति अपनी वितृष्णा प्रकट करने के लिए ही कबीरदास ने कहा था कि—

वैष्णव की कुटिया भली,
ना साकत बड़ गाँव।

किन्तु इस भावना के विपरीत तुलसी दास ने रामचरित मानस में शाक्त सिद्धान्तों को आतमसात करने का भरपूर प्रयत्न किया है। 'निगमों' के ही समान उन्होंने 'आगम' ग्रन्थों को भी मान्यता प्रदान की है। 'मानस' के मंगलाचरण में सीता विषयक **"उद्भव स्थिति संहार कारणीम्"** श्लोक तंत्र ग्रन्थों में वर्णित आद्य शक्ति सम्बन्धी धारणा का ही रूपान्तरण प्रतीत होता है। सुन्दर काण्ड की रचना शुद्ध तांत्रिक दृष्टि से ही की गई है। इस जटिल प्रश्न को यहाँ न छेड़कर हम बाल काण्ड से सीता विषयक धारणा को उद्धृत करना ठीक समझते हैं—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाम भाग सोभति अनुकूला, आदि शक्ति छवि निधि जग मूला।
जासु अंस उपजहिं गुन खानी, अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।
भृकुटि बिलास जासु जग होई, राम बाम दिसि सीता सोई ।।[१]

वस्तुतः इस युग के लोकप्रिय देवी देवता राधा, सीता और हनुमान की उपासना को तांत्रिक विचार धारा ने गहराई से प्रभावित किया है। "राधार क्रमिक विकास" ग्रन्थ में डॉ० शशि भूषण दास गुप्त ने राधा तत्व के मूल में प्राचीन शक्ति तत्व का ही संप्रवेश स्वीकार किया है। उक्त देवी देवताओं के अतिरिक्त काली अथवा 'चंडी' की उपासना स्वाभाविक रूप से शाक्त परम्परा के साथ जुड़ी रही है।

रीतिकाल के महाकवि देव के ग्रन्थ "देव माया प्रपंच नाटक" का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि उन्होंने विभिन्न तांत्रिक परम्पराओं का गहरा अध्ययन किया था। तंत्र शास्त्र के अध्ययन का प्रभाव उनके साहित्य में सर्वत्र लक्षित होता है। "सुख सागर तरंग" में गौरी विवाह मंगल तथा जानकी सौभाग्य जैसे प्रकरणों में इसी दृष्टि का समावेश हुआ है। संप्रति 'देव माया प्रपंच' के अन्तर्गत सुलभ तंत्र मंत्र और इन्द्रजाल सम्बन्धी जो परिभाषाएँ देव ने प्रस्तुत की हैं, उनको उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

तंत्र

इष्ट देव बस करन को, सूत्र सु कहियत तंत्र।
साधक ताकी सिद्धि करि, त्रिभुवन करै सु तंत्र ।।—५/७५

मंत्र

इष्ट देव जासों बँधै, बाँधै जगत समंत्र।
चलि न सकै जासों बंध्यो, सो कहियत है मंत्र ।।—५/७८

इन्द्रजाल

माया के बल सों करै, अद्भुत कर्मन कोय।
अचरज मानै मोहि जगु, इन्द्रजाल कहि सोय ।।—५/८१

देव के इस ग्रन्थ के अनुसार जगत की उत्पत्ति का कारण स्वयं जगन्माता ही हैं। सांत के दूतों ने इस ग्रन्थ के अंत में यही कहा है कि जगन्माता सब प्रकार से वंद्य हैं, फिर भी उन्होंने समझ बूझ कर सृष्टि रचना का काम नहीं किया है। सांत के मुख से कवि कहलाता है कि—

---

१. तुलना कीजिए गौरी विषयक तुलसी दास का कथन—

"नहिं तब आदि मध्य अवसाना।
अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।।"

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तातें श्री जग जननि जू, समुझि न कीनो कामु।
नित्य सत्य चैतन्य सुख, भयो दुख को धामु ॥

देव का उक्त ग्रन्थ रीतिकालीन धर्म-संप्रदायों मतमतांतरों एवं साहित्य और समाज जैसे जटिल विषयों का अध्ययन करनेवालों को अंर्तदृष्टि प्रदान कर सकता है। इसी का अनुसरण करते हुए उनके साहित्य की व्याख्या की जा सकती है। 'प्रेम चंद्रिका' नामक रचना में राधिका विषयक कवि की मान्यता इस प्रसंग में विचारणीय है :

जो सुभ बानी बसै बिधि संग, सदा सिव अंग लसै सु भवानी।
जो कमला कमलापति के संग, देव सचीस सची सुखदानी ॥
दीप सिखा ब्रज मंदिर सुंदर, जागत जोति सबै जग जानी।
साधु की साधिका सिद्धि समाधिका, सो ब्रजराज की राधिका रानी ॥

रीतिकाल की संभोग शृंगार सम्बन्धी रचनाओं का प्रश्न भी उलझा हुआ हैं, अतः उनके सम्बन्ध में चर्चा करना उचित होगा। तंत्र पद्धति में 'वर्जनाओं' के सिद्धांत की उपेक्षा की गई है। इसीलिए पूजा और ध्यान के स्थल मंदिर जैसी जगहों में भी संभोग रत मूर्तियों को स्थापित करने की छूट रही है। खजुराहो और कोणार्क के मंदिरों का नामोल्लेख इस दृष्टि से प्रासंगिक होगा। इसी परिप्रेक्ष्य के प्रकाश में श्री अजित मुकर्जी के प्रसिद्ध ग्रन्थ TANTRA ART में प्रकाशित चित्र संख्या ६५ एवं तत्संबंधी विवेचन का अवलोकन करने का निवेदन है। भारत कला भवन वनारस में प्राप्त छिन्न मस्ता देवी का मूल चित्र कांगड़ा शैली में ईसा की अट्ठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में निर्मित हुआ था। चित्र फलक के केन्द्र में छिन्न मस्ता देवी खड़ी हैं, जो मस्तक काटकर उसे अपने बाएँ हाथ में लिए हुए हैं। देवी के दोनों पार्श्वों में दो देवियाँ हैं, जिनके हाथों में खप्पर हैं। चित्र के अधः फलक में रति और काम अष्टदल कमल के आसन के मध्य में अंडाकर बिछौने पर संभोग की मुद्रा में अंकित किए गए हैं। चित्र की रंग-रेखाओं में कांगड़ा कलम की कोमलता और स्वच्छता का भरपूर प्रकाशन हुआ है। विपरीत रति में संलग्न युग्मों के माध्यम से जीवन और मृत्यु के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों द्वारा यह व्यंजित किया गया है कि नाशमान कुछ भी नहीं है। संभोग ही शुक्राचार्य की वह संजीवनी विद्या है, जो नाश को अमरत्व प्रदान करती है। सृष्टि के अजस्र प्रवाह का उद्गम स्थल यही संभोग है।

इस चित्र को परिप्रेक्ष्य में रखकर देव की रचनाओं में उपलब्ध शृंगार का एक छंद प्रस्तुत कर रहे हैं। इसके अंकन में संभोग क्रिया में मानसिक उत्फुल्लता का प्रकाशन ध्यान देने की बात है। दो विपरीत लिंगवाले व्यक्तित्वों का ऐसा समीकरण

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्या किसी अन्य प्रकार से संभव हो सकता है ? सृष्टि का जनक होने के साथ साथ यही संभोग गार्हस्थ जीवन की सुख समृद्धि एवं उसकी परिपूर्णता की कुंजी भी है। तत्वतः इसकी निंदा करके हिन्दी आलोचना ने जीवन की सहज और स्वाभाविक ऊर्जा से अपने को विमुख कर लिया है—

ओठनि ओठ दै कंठनि कंठ हिए में हियो दै खए निखए खँगि ।
जानु में जानु भुजानि भुजा परजंक में अंकु थिरै थँगि ।।
एहो लजीली अहो गरबीली रँगीली नयो हित नातो लयो अँगि ।
संगही संग छ्वै अंगही अंग, लाल लई अपने रंग ही रँगि ।।

रीतिकालीन कविता का अनुशीलन करने के लिए उस युग की तांत्रिक पृष्ठ भूमि का ग्रहण होने से उसके अध्ययन को एक नई दिशा मिल सकती है। कविवर बिहारी की प्रसिद्ध सतसई का मंगलाचरण इस दृष्टि से उद्धरणीय है। उक्त दोहे में 'राधा' को भगवान कृष्ण की अर्धांगिनी शक्ति और उनकी चेतना के रूप में ही स्मरण किया गया है। राधा की छाया (मुहावरे के रूप में ही इस शब्द का प्रयोग हुआ है) पड़ने पर ही कृष्ण में उत्फुल्लता अथवा जीवन का संचार होता है। यदि तांत्रिकों की शब्दावली में इसी बात को प्रकट करना चाहें, तो यह कहना पड़ेगा कि शक्ति की प्रेरणा होने से ही महाप्रलय में विष्णु की महा निद्रा (श्याम रंग तमोगुण का प्रतीक) और निश्चेष्टता दूर होती है। मधु कैटभ को सामने देखकर ब्रह्मा ने शक्ति की प्रार्थना करके निद्रा-वशीभूत विष्णु में नई चेतना का उन्मेष कराने में सफलता प्राप्त की थी। दुर्गा सप्तशती में उपलब्ध एतद्विषयक श्लोकों को ध्यान में रखने पर बिहारी के चर्चित दोहे को पढ़ने से कवि का आशय समझने में आसानी हो जाती है। 'सोय' शब्द में जिस तत्व को इंगित किया गया है, उसे समझने के लिए बिहारी की व्यंजना प्रधान शैली को ध्यान में रखने की आवश्यकता है। (मन ह्वै जात अजौं वहै 'वा' जमुना के तीर)। इसी प्रकार 'जा' शब्द में निहित व्यंजना भी अर्थ तत्व की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मोती का मूल्य उसके पानी पर निर्भर करता है। इसी पानी के आधार पर एक मोती का दूसरे मोती से भेद स्थापित होता है, किन्तु इस पानी को मोती के संघटक अन्य तत्वों से अलग नहीं किया जा सकता। इसी तरह तांत्रिक अर्थ-चेतना मोती के पानी की भाँति छन्द के शब्दों में विद्यमान है। रीतिकालीन कवियों के कवि कुल-गुरु बिहारी को अपनी शब्द-साधना का प्रमाण देने के लिए मंगला चरण से बढ़कर क्या कोई अन्य विषय भी हो सकता था। बिहारी की इसी मुहावरेदानी ने फारसी को मात दे दी थी—

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोय ।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होय ।।[1]

---

१. उपर्युक्त अर्थ किसी टीका से नहीं ग्रहण किया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उक्त पृष्ठ भूमि में हम भगवन्त राय खीची के पूर्वोद्धृत छंद का स्मरण कराना उचित समझते हैं। **"आनि कै बहोरि शिव-शक्ति को मिलाय दे"** पद्यांश का संदर्भ यह है कि देश के वातावरण एवं जन-जीवन तथा राजनैतिक विसंगतियों के मूल में जो भी कारण विद्यमान थे, उन सब को तांत्रिक भाषा के शब्द-प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। तन्त्र-साधना की लोकोन्मुखता के लिए यह प्रमाण महत्वपूर्ण है। इस अंश का आशय स्पष्ट करने के लिए हम अजित मुकर्जी के ग्रन्थ 'तंत्र आर्ट' से एक टिप्पणी उद्धृत कर रहे हैं। स्कन्द पुराण के आधार पर लेखक ने शिव और शक्ति सम्बन्धी मान्यताओं को इस टिप्पणी में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—"Ling according to Skand Puran is the space in which the whole universe is in process of formation and dissolution. Shiva ling the all pervading space, thus symbolizes a cosmic form serenely detached and self sufficient, where as the Shakti the 'Sabda Brahma' is the creative impulse in the cosmic process. Gauri Patta represents the Adya Shakti, the energy quanta Maha Maya, the power, the power of Manifestation, Yoni the primal root or the source of objectivation, hence Shiva ling within the Gauri Patta is the embodiment of both inaction and action."

उक्त उद्धरण के प्रकाश में भगवन्त राय के समकालीन एवं उनके आश्रय में रहनेवाले महाकवि देवकृत 'देव माया प्रपंच नाटक' का यह दोहा तांत्रिक प्रभाव को विशेष रूप से स्पष्ट करता है—

परमेसुर तो भगलिंग सही, सबही यहि को भग शक्ति कही।
भग लिंगहिं को सबु सर्ग कहौ, मदनादिक दोष निवारन है॥

अतः तांत्रिक-दृष्टि का आश्रय लेने से ही भगवन्त राय के उस पद्यांश का अर्थ और आशय स्पष्ट हो सकता है। चर्चित उद्धरण से यह भी प्रकट होता है कि तांत्रिक अनुष्ठानों के माध्यम से रीतिकाल के अंतर्गत लोकोदय और राष्ट्रोदय का स्वप्न साकार करने का प्रयत्न भी हो रहा था। रीतिकाल की मूल चेतना को हृदयंगम करने के लिए तत्कालीन तंत्र साधनाओं को प्रकाश में लाने की दिशा में ध्यान देने की आवश्यकता है।[1]

☐ नायिका भेद विषयक साहित्य और उसका सामाजिक औचित्य :

सामान्यतया रीतिकालीन कविता को अवमूल्यित करने की भावना से ही

---

१. इस विषय में उदय शंकर दुबे से मुझे पर्याप्त सूचनाएँ मिली हैं। 'मान', पद्माकर, ग्वाल, काली और खटवारा के बलदेव प्रसाद आदि कवियों की चर्चा का समावेश न कर पाने का हमें खेद है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हिन्दी आलोचकों ने भाषा कवियों के 'नायिका भेद' विषय को विकृत रूप में प्रस्तुत करते हुए पूरे युग को लांछित करने के लिए एक साधन के रूप में स्तेमाल किया है। इस नकारात्मक एवं ध्वंसात्मक आलोचना-दृष्टि की ऐसी चक्रवृद्धि हुई है कि सामान्यतया तथ्यों के पुर्ननिरीक्षण तथा पूर्व निष्कर्षों पर पुर्नविचार करने का प्रश्न खटाई में पड़ गया है। पिष्टपेषणों से ग्रसित आलोचना-दृष्टि के गत्यावरोध को तोड़ने की दिशा में श्री प्रभुदयाल मीतल ने ही 'नायिक भेद' के प्रति विद्यमान पूर्वाग्रहों को आंशिक रूप से कम करने का प्रयत्न किया है। खेद है कि डॉ० राकेश गुप्त के अप्रकाशित शोध-ग्रन्थ जिसका उल्लेख 'हिन्दी साहित्य कोश' में किया गया है, अवलोकन हम नहीं कर सके हैं। इस सीमा के बावजूद जहाँ तक हम सोच समझ सके हैं, उससे यही स्पष्ट हुआ है कि हिन्दी-आलोचना दृष्टि तथ्यों से विमुख एवं पूर्वाग्रहों की नींव पर ही प्रतिष्ठित है।

उक्त कथन के प्रमाण स्वरूप पिछले पृष्ठों में उद्‌धृत विलियम बायर्स की टिप्पणी का अवलोकन करना उचित होगा। बायर्स महोदय के कथन से ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध अर्थात् आधुनिक हिन्दी आलोचना का जन्म होने के लगभग एक शताब्दी पूर्व, यूरोपीय देशों के प्राच्य विद्या-विशारदों की दृष्टि में नायिका भेद सम्बन्धी कविता की कीर्ति फैलने के साथ उसकी धाक भी जम गई थी। प्राच्य विद्वानों के अनुसार नायिका भेद के माध्यम से प्रस्तुत किए गए भारतीय गार्हस्थ जीवन में पति पत्नी के सम्बन्धों की ऐसी झाँकी मिलती है, जो अन्य देशों के साहित्य में प्रायः दुर्लभ है। वस्तुस्थिति के अनुसार नायिका भेद को आधार मानकर रीतिकालीन साहित्य से संसार की समृद्ध भाषाओं के साहित्य के साथ तुलना करते हुए तत्कालीन सामाजिक एवं पारिवारिक परिवेश के अवगाहन का प्रमाणाधार बनाया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह युग अनवरत रूप से युद्धों एवं लामबंदियों का रहा है। **अतः इसी वातावरण को संतुलित करने के लिए 'घर' को सरस, सुखी एवं प्रेरणा-प्रद बनाने की आवश्यकता थी।** वस्तुतः नायिका भेद संबंधी ग्रंथों को काव्य-कला एवं दाम्पत्य जीवन की शिक्षा देने के उद्देश्य से ही विभिन्न वर्ग की किशोर किशोरियों के लिए आलेखित कराया जाता था। इन ग्रंथों के अन्त में दी गई पुष्पिकाएँ उक्त आशय का प्रमाण हैं।

तद्‌युगीन जन समाज 'नायिका भेद' सम्बन्धी रचनाओं को शिष्ट, मर्यादित एवं साधु श्रेणी के साहित्य रूप में ही समादृत करता रहा है। महाकवि देव के प्रसिद्ध ग्रंथ 'सुजान विनोद' के एक दोहे में इस विषय के विवेचन कर्ताओं के लिए **'संत'** शब्द का व्यवहार किया गया है। यह शब्द हमारे लिए दिशा निर्देशन करने में सहायक सिद्ध होता है—

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुग्धादिक वय भेद अरु, मान सुरत सुरतांत ।
बरने मत साहित्य के, उत्तम कहे जु संत ।।

'सेक्स' की स्वस्थ चर्चा को निषिद्ध करके शारीरिक क्षुधा के निवारण एवं मानसिक वेग के विरेचन के मार्ग को रुद्ध करनेवाली संकुचित दृष्टि ने तब तक भारतीय समाज को आक्रान्त नहीं किया था। कम से कम भाषा काव्य की परम्परा से हमें यही ज्ञात होता है। चित्त की सरलता और मन की निष्कपटता को ही भारतीय जन-जीवन में आदर्श माना जाता था। तुलसी जैसे मर्यादावादी कवि भी कितने उदार थे, इसे 'रामचरित मानस' में देखा जा सकता है। राम और लक्ष्मण जनकपुर घूम कर जब अपने गुरु विश्वामित्र के पास वापस लौटे, तब राम ने स्पष्ट शब्दों में जानकी के प्रति अंकुरित प्रेम की चर्चा की थी। राम की इस चर्चा से तपस्वी विश्वामित्र ने राम को अभद्र नहीं समझा था। तुलसी दास की टिप्पणी तद्युगीन सामाजिक मान्यताओं के सन्दर्भ में विचारणीय है—

हृदयँ सराहत सीय लोनाई, गुर समीप गवने दोउ भाई।
राम कहा सबु कौसिक पाहीं, सरल सुभाव छुआ छल नाहीं ।।

राम की इस सरलता से प्रसन्न होकर विश्वामित्र ने उन्हें आशीर्वाद का पात्र बनाया था—

सुफल मनोरथ होंहि तुम्हारे।
रामलखन सुनि भए सुखारे ।।

अतः नायिका भेद को समुचित सामाजिक पृष्ठ भूमि में समझने की आवश्यकता है। समाज में इस विषय की व्यापक माँग होने के मूल में कौन सी प्रेरणा और कौन-सा प्रयोजन काम करता रहा है, इसी जिज्ञासा का उत्तर ढूँढ़ने के प्रयत्न में रीतिकालीन साहित्य की आलोचना को सही दिशा मिल सकती है।

प्रत्येक सामाजिक प्राणी में यह प्रवृत्ति स्वाभाविक रूप में विद्यमान रहती है कि वह दो पैसे की वस्तु क्रय करते समय भी सावधानी रखता हुआ अपने पैसों के बदले में अधिक से अधिक लाभ और संतोष प्राप्त करने में सफल हो। इस सामान्य सिद्धान्त को मनुष्य चिरंतन काल से जानता रहा है। विनिमय के इसी सिद्धान्त पर आश्रित मुहावरे का आश्रय लेकर महाकवि सूरदास ने कहा था—**नन्द ब्रज लीजै ठोंक बजाय'**—अतः विवाह रूप में संपन्न होनेवाले जीवन के सबसे बड़े सौदे को ध्यान में रख कर रीतिकाल के कवियों ने सावधानी बरतते हुए यदि जन-समाज का मार्ग दर्शन किया था, तो किस न्याय से इसे दोष-पूर्ण मान लिया जाय? इन कवियों की दृष्टि में सृष्टि की सुन्दरतम वस्तु नारी ही थी। पुरुष की प्रकृति के

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुसार नारी के सम्मुख होने पर संसार के अन्य सभी पदार्थों की सुन्दरता फीकी पड़ जाती है। इस सहज एवं स्वाभाविक बात के लिए ही केशव ने कहा था—

देखे मुख भावै अनदेखेई कमल चन्द,
तातै मुख मुखै सखि कमलौ न चन्दरी ॥[1]

पारिवारिक ज़ीवन में नारी की विशिष्टता एवं सौन्दर्य-संवेदना जगाने में उसकी अनुपमता को ध्यान में रखकर लिखा गया रीतिकाल का नायिका भेद वस्तुतः नारी स्वभाव की समालोचना ही है। वस्तुनिष्ठ विवेचन के सम्मुख होने पर सहृदय एवं विदग्ध सामाजिक इसके गुण-दोषों को समझते हुए नारी विषयक प्रश्नों में अधिकाधिक विवेकपूर्ण बने रहें, यही भावना इस साहित्य के निर्माण में काम करती रही है।

आलोच्य युग में यंत्रीकरण ने मनुष्य की ज्ञानेंद्रियाँ कुंठित नहीं की थीं। उस युग के वैद्य नाड़ी पकड़ते ही रोग के लक्षणों का बखान शुरू कर देते थे। राग, तान और ताल सुनते ही रसिक अन्वेषक घरानों के ठेठ तक पहुँच जाते थे। पक्षी की बोलियों और उनके स्वर-भेद से ही शकुन अपशकुन का अनुमान कर लेते थे। अश्वों के रंग रोओं और उनकी कनौटियों, सुम और पूँछ की चेष्टा से ही घोड़ों की जाति तथा उनके स्वाभाविक गुण दोषों की तुलनात्मक तालिका उपस्थित कर देना उस युग के आदमी के लिए सामान्य सी बात थी। इसी युग प्रवृत्ति के अनुसार काव्य के क्षेत्र में छन्द सुनते ही अलंकार और अर्थ इत्यादि तत्वों पर चर्चा करना आलोच्य युग में काव्य-रसिकों का सुखद मनोविनोद माना जाता था।

इसी प्रकार दाम्पत्य एवं पारिवारिक जीवन के समस्त सुखों की अधिष्ठात्री नारी के लक्षणों को निरूपित करना उस युग के लिए एक स्वाभाविक बात थी।

जो लोग यह मान बैठे हैं कि नारी स्वभाव के अन्तर्विश्लेषण के प्रयास में निमग्न होने के कारण पुरुषों में पुरुषोचित गुणों का ह्रास हो रहा था, वे इतिहास की वस्तुस्थिति से सुविज्ञ नहीं प्रतीत होते। ऐसे लोगों के लिए 'मेमायर्स आफ देहली' नाम से प्रकाशित फ़रह बख्श के इतिहास से एक प्रसंग उद्धृत किया जा रहा है।

खजुहा के युद्ध में शुजा की विशाल सेना के साथ औरंगजेब अपने जीवन का निर्णायक युद्ध लड़ रहा था। मारवाड़ के महाराजा जसवंत सिंह ने इस संकट-काल में उसकी सेना का साथ छोड़ कर उसका साज़ सामान लूटा और युद्ध वेला में जोधपुर का रास्ता पकड़ लिया था। संयोग से इस विषम परिस्थिति में औरंगजेब के सम्मुख एक जौहरी उपस्थित हुआ। जौहरी ने बादशाह के समक्ष अनेक बहुमूल्य रत्नों को पेश किया। बादशाह औरंगज़ेब ने उन्हें देख कर अलग अलग प्रत्येक रत्न के गुण-दोष, उनकी शुद्ध तौल तथा उनकी वास्तविक मूल्य-दर बता कर जौहरी को चकित कर

१. केशवदास की इस साफ़गोई पर शुक्लजी को कितना बुरा लगा था, यह उनके इतिहास के पाठकों को विदित है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दिया था। औरंगज़ेब की इस बौद्धिक सुस्थिरता[1] का परिचय पाते ही जौहरी ने भविष्य वाणी की कि जहाँपनाह आप ही इस युद्ध में विजयश्री का वरण करेंगे। चारों ओर आसन्न संकटों के सम्मुख जिसका मानसिक संतुलन अडिग बना रहता है; वही व्यक्ति अपने मस्तक पर सफलता का मुकुट धारण कर सकता है। तात्पर्य यह है कि प्रायः सभी रीतिकालीन नायकों का व्यक्तित्व वैविध्य से परिपूर्ण रहा है। उनके सामने जो भी विषय उपस्थित होता था, उसमें वे पूर्ण रूप से तल्लीन होकर अपने को आत्मविस्मृत कर देते थे। गोकुल और महाभारत के कृष्ण का उच्चादर्श ही इस युग में लोक-मान्य हुआ था। इसी से प्रकट होता है कि नायिका भेद विषयक चर्चाओं में कवि-समाज की निमग्नता से उनकी स्त्रैणता का नहीं वरन् पुरुषोचित गुणों का ही प्रकाशन हुआ है।

आलोच्य युग में पुरुषों की दृष्टि में नारी और अश्व इन्हीं दो को सर्वाधिक महत्व प्राप्त था। नारी अगर उसके घर को सरस और संतोष-प्रद बनाते हुए कर्म की प्रेरणा प्रदान करती थी, तो अश्व की पीठ पर आसीन होकर वह अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता था। इन्हीं कारणों से अश्वों के लक्षणों का ज्ञान करानेवाली रचनाएँ इस युग में वैसी ही लोक-प्रिय रही है जैसी नायिका भेद विषयक थीं। तुलसीदास ने 'बालकांड' में राम की बारात-प्रकरण में अश्वों के गुण-स्वभाव के वर्णन में जो विम्ब उपस्थित किए हैं, वे परम्परा और परिवेश से ही कवि को मिले होंगे—

"अय इव जरत धरत पग धरनी।

तथा—

नाना जाति न जाहि बखाने॥"

जैसे कथन इस के प्रमाण हैं। वस्तुतः आलोच्य युग में प्रत्येक अश्वारोही सैनिक अथवा 'बारगीर' को 'शालिहोत्र'[2] ग्रंथ प्रायः कंठस्थ रहा करते थे। मेरे पिताजी तक यह परम्परा मेरे ही घर में विद्यमान रही है। सरधुवा के हमारे सम्बन्धी ठाकुर बच्ची सिंह और ठाकुर बरजोर सिंह की जिह्वा में यह विषय अब तक नाचता रहता है। फुलवामऊ (फतेहपुर) के गुरदीन कवि के शालिहोत्र ग्रंथ में अश्वों के लक्षण-भेद करने में वैसे ही प्रस्तार का आश्रय लिया गया है, जैसा नायिका भेद के अन्तर्गत किया जाता है—

---

१. लाल कवि ने छत्र प्रकास में औरंगजेब का उल्लेख करते समय इस बौद्धिक विशेषता का सदैव उल्लेख किया है। इसी से भाषा कवियों की ऐतिहासिक वस्तुपरकता का अनुमान किया जा सकता है। 'ज्यौंत विसाल बुद्धि के डारे'—'बिलसाई वर बुद्धि प्रवीनी' तथा 'विमल बुद्धि में चंपत दीने' जैसे प्रयोग इसके प्रमाण हैं—अध्याय ४।

२. अश्व विज्ञान से सम्बन्धित।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रंग तुरंग अनेक हैं, तदपि बहत्तर रंग।
बरनै कवि गुरदीन सो, पहिचानौ लखि अंग।।

रंगों के आधार पर किये जानेवाले वर्गीकरण को अल्हैत लोग आल्हखंड में जोड़कर जिस रूप में गाया करते थे, उसका एक उदाहरण दिया जा रहा है—

सब्जा तेरे रंग में, सबै रंग बदरंग।
अब की बेर निबाहियो, कुम्मैतन के संग।।

ललछौहीं लिए हुए अलसी जैसे रंग के घोड़े को तेलिया (तेली के कोल्हू के रंग का) अथवा कुम्मैत कहते थे। कुम्मैत को सबसे ज़्यादा उग्र और बलिष्ठ माना जाता था। इस तथ्य को जाननेवाला व्यक्ति ही उक्त दोहे में रस ग्रहण कर सकता है।

अब उक्त गुरदीन कवि के अनुसार अश्वों के देश-भेद का उदाहरण दिया जा रहा है—

काछी दरियायी बहुरि नुक्की ऐराकी।
थरा थंभरा खुरासानी, कंधारी अरबी।।
सुनिए घाटन जंगली और मुसज्ज बखान।
एकादस गुरदीन कहि, बरने हरि (अश्व) अनुमान।।

अश्वों एवं नायिकाओं के गुण स्वभाव के विश्लेषण की प्रवृत्ति एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान है। सिक्के के एक ही पहलू को देखकर लिया गया निर्णय वस्तुतः भ्रामक हो गया है। चर्चित युग की चेतना वीर और शृंगार रसों में समान रूप से रमण करती थी। उस युग में पुरुषों के लिए स्वास्थ्यप्रद भोजन, शय्या का सुख और शत्रु पर विजय, इन्हीं बातों का सबसे अधिक महत्व था। गंग कवि का यह दोहा रीतिकाल के अन्तर्गत वस्तुतः लोकोक्ति के रूप में ही प्रचलित रहा है—

पान पुराना घी नया, औ कुलवंती नार।
चौथी पीठि तुरंग की, स्वर्ग निसानी चार।।

दोहे में गिनाए गए विषयों का गुण-स्वभाव निरूपण करने की उक्त युग में व्यापक प्रवृत्ति रही है। 'पान', नायिका और अश्वों के वर्गीकरण के ही समान घी को सूँघ और देखकर उसकी विशेषताएँ बताने की परम्परा भी रही है।[1]

रीतिकाल के अन्तर्गत नायिका भेद को व्यावहारिक जीवन-दृष्टि से

---

१. गरे हेवाल सोह दुइ कंठा।
कलुई कै दूध न भूरी कै मंठा।। इत्यादि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जोड़ने के जो प्रयत्न किए गए थे, उस पक्ष पर ध्यान ही नहीं दिया गया है। पद्माकर और ठाकुर के ही समकालीन रीवां के सुकवि श्री रामनाथ प्रधान ने राजनीति और प्रशासन की उपयोगिता की दृष्टि से अनेक उपयोगी विषयों पर एक लक्षण ग्रंथ का निर्माण किया था। इस ग्रंथ में उन्होंने जीवन के विविध व्यापार क्षेत्रों से पात्रों का चयन करके उनके शुभ-अशुभ लक्षणों का निरूपण किया है। प्रधान जी ने ग्रंथ में राजा, मुसद्दी, चुगल, चटोर, कायर और नकटा आदि के लक्षणों का वर्णन करते हुए अपने प्रतिपाद्य विषयों को उसी तरह प्रस्तुत किया है, जिस तरह तुलसी दास ने मानस के प्रारंभ में संत और असंत का अन्तर स्पष्ट किया है। प्रधान जी की उक्त रचना से सुलच्छना और कुलच्छना इन दो प्रकार की स्त्रियों का चित्रण उपस्थित किया जा रहा है। नायिका भेद के अन्तर्गत यही कथ्य व्यंजित किया गया है, जबकि व्यवहार शास्त्र में वही विषय कथित अर्थात् अभिधा में चित्रित किया गया है। यथा—

सुलच्छना स्त्री

भोरहिं ते उठि गाय दुहावत, आनत है गगरी दस पानी।
रूप सुरूप अनूप पतिव्रत, सुव्रत प्रीतम को सनमानी।
खाब सँभार बनावनत है, विद्धाजुत पौरुख को सनमानी।
पानी के माँगत दूध परोसत, नारि नहीं घर नौ निधि आनी।

कुलच्छना स्त्री

सास के देखे सिंहनी सी जम्हाई लेतीं,
ससुर के देखे बाघिनी सी मुख बावतीं।
ननद के देखे नागिनी सी फुफकार बैठें,
देवर के देखे डाकिनी सी डर वावतीं।
भाखत 'प्रधान' मूछें जारतीं परोसिन की,
खसम के देखे खाँव खाँव कर धावतीं।
कर्कसा, कसाइन, कुबुद्धिनी, कुलच्छनी,
करम के फूटे घर ऐसी नारि आवतीं॥[1]

रीतिकालीन कवि अपने युग संदर्भ को सँवारने और यथार्थ जीवन में व्याप्त कटुता को मधुर बनाने की दिशा में जो प्रयत्न कर रहा था, उसे सहानुभूति पूर्वक नहीं देखा गया है। उक्त युग के कवियों के कृतित्व पर विचार करने से प्रकट होता है कि सामाजिक स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंधों पर व्यंग्य करने में आज के लेखकों से ये

---

१. प्रधान कवि का विवरण हमें कृष्ण कवि से प्राप्त हुआ है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कवि गहरे और पैने भी थे। ऊढ़ा (परकीया) नायिका और ऊढ़ा नायक के प्रेम सम्बन्धों का चित्रण करने में कविवर बिहारी ने जिस पैनी दृष्टि का परिचय दिया हैं, उसमें कवि की वस्तु संयोजना और शिष्ट व्यंग्यात्मकता का साक्षात्कार सहृदय को विस्मय-विमुग्ध कर देता है। एक ही दोहे की सीमा में वर्ण्य विषय के प्रबन्ध जैसे फैलाव को समेट लेना आसान बात नहीं है!

कविवर बिहारी लाल ने चर्चित दोहे की शब्द-सीमा के अन्तर्गत व्यास-पीठों पर आसीन होकर आदर्श वाक्यों का मौखिक प्रवचन करनेवालों की कलई खोलने में अपने काव्य-कौशल से कवियों-लेखकों और व्यंग्यकारों के कान काट लिए हैं। ढेर सारे विचारों को एकही छंद में उपस्थित करके नायिका भेद की विषयगत गरिमा में महाकवि ने किस तरह चार चाँद लगा दिए हैं--

परतिय-दोषु पुरान सुनि, लखि मुलकी सुखदानि।
कसु करि राखी मिश्रहू, मुहँ आई मुसकानि॥

बिहारी और मतिराम की रचनाओं में इस तरह के अनेक दोहे उपलब्ध होते हैं। कर्ण-प्रिय और मधुर वाक्यों में ऐसी तीखी आलोचना उन्ही कवियों के बल-बूते की बात थी। उक्त दोनों कवियों की ऐसी रचनाओं के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि नायिका भेद का उपबृंहण करनेवाले रचनाकारों ने इस साहित्य को व्यक्ति और समाज की आकांक्षाओं के अनुरूप ढालने में पूर्ण सतर्कता दिखाई थी।

साहित्यिक गरिमा की दृष्टि से महाकवि देव कृत 'नायिका भेद' रीति कालीन रचनाओं के अन्तर्गत मानक रूप में उपस्थित किया जा सकता है। वय भेद एवं दाम्पत्य जीवन के दैनिक सम्बधों पर आश्रित नायिकाओं के भेद-प्रभेद का विस्तार करनेवाली परम्परा को प्रायः सभी कवियों ने ग्रहण किया था। इस लोक-मान्य परम्परा का निर्वाह करने के अतिरिक्त देव ने 'प्रान्त भेद' के आधार पर भी नायिकाओं के रूप-गुण-कथन का प्रस्तार किया है। इस विषय का देव जैसा गांभीर्य अन्यत्र दुर्लभ है। प्रान्त भेद के आधार पर नायिकाओं के रूप एवं गुण-कथन में प्रान्तों की सीमाओं के आधार पर साहित्य-संवेदना की दृष्टि से एक संघीय राष्ट्र की कल्पना का भौगोलिक स्वरूप भी लक्षित किया जा सकता है। इस पक्ष का उल्लेख यथावसर हम पिछले पृष्ठों में कर चुके हैं। 'भगवन्तराय खीची और उनके मंडल के कवि' (पृ० १२८-१३१) में देव कवि की 'जाति विलास' और 'रस विलास' नामक रचनाओं में उपलब्ध होने वाली एतद्विषयक सामग्री का अपेक्षाकृत विस्तार से परिचय दिया गया है, अतः यहाँ इस पक्ष का उल्लेख मात्र ही संभव है।

नायिका भेद की सीमा में अनेक प्रकार के व्यवसायों पर आधारित विभिन्न जातियों की कर्मगत विशेषताओं को आधार बनाकर उक्त विषय का निरूपण करने

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

में रीति कवियों की मूल भावना क्या थी, इसी तत्व को जानने समझने की आवश्यकता है। इन कवियों ने प्राय: सभी प्रकार के व्यवसायों को ऊँच-नीच कही जाने-वाली परिभाषाओं से दूर रह कर उन्हें मानवीय संवेदना के धरातल पर सम संवेदना एवं एकात्मरूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। जातिगत कर्म-व्यवसायों में संलग्न स्त्रियों को अपने काव्य का वर्ण्य-विषय निर्धारित करने में रीति कालीन कवियों ने जिस सामाजिक समभाव का प्रकाशन किया है, उससे सामाजिक सौहार्द्र स्वयं ही अनुस्यूत होता है। सामाजिक प्रश्नों में इन कवियों की दृष्टि प्रचारात्मक एवं ध्वंसात्मक होने के स्थान पर संपूर्ण रूप से निर्माणात्मक सिद्ध होती है।

वस्तुत: जाति भेद के आधार पर किए गए चित्रण में 'आम' वर्ग की नायिकाओं को साहित्य का कथ्य बनाने की पहल की गई है। इस भगीरथ प्रयत्न में उनके व्यावसायिक जीवन के सौंदर्य को उजागर करने में कवि कितने दत्त चित्त रहे हैं, इसे सहज में ही देखा जा सकता है। इस विषय के रूपांकनों में स्त्रियों के रंग-रूप, गुण-स्वभाव तथा उनके व्यवसाय को संश्लिष्ट रूप में उपस्थित करने का प्रयत्न किया जाता था। कर्म और कर्म जन्य गुणों में रूप-संपत्ति को बिम्ब प्रतिबिम्ब रूप में उपस्थित करते हुए तत्कालीन समाज को भावना के स्तर पर समता और सौहार्द्र का पाठ पढ़ाना ही कवियों को इष्ट था---**'एक से देखु कछू न विशेष हैं एकै उन्हार कुम्हार के भाँड़े'** (देव) जैसी मानवता वादी दृष्टि को रीति परम्परा के माध्यम से भाव गम्य रूप में प्रस्तुत किया गया है।

रीति कालीन कवि अपने युग में कलागत मूल्यों को ही आधार बनाकर सामाजिक विसंगतियों को सुधार ने की लड़ाई लड़ रहा था। इस भाव-चेतना पर संदेह करनेवाले आलोचकों को देव की निम्नांकित पंक्ति का स्मरण करादेना उचित होगा। इस साक्ष्य के अनुसार ये कवि अपने युग की सामाजिक विसंगतियों और सामाजिक अन्यायों के प्रति पूर्ण रूप् से सजग सिद्ध होते हैं—

वेदन मूंद करी इन दूंद कि,
सूद अपावन पावन पाँड़े।। —देव

आलोच्य युग के कवियों ने सामाजिक सौहार्द्र के प्रश्न को राजनैतिक नारे के रूप में नहीं उछाला था। राजनीति के खिलाड़ी जिस संकुचित दृष्टि से प्रेरित होते हैं, उसकी असलियत से प्राय: सभी परिचित हैं। अत: उसका बयान करने की आवश्यकता नहीं है। रीतिकाल में देव जैसे कवियों ने सामाजिक सम्बन्धों को राजनीतिज्ञों की भाँति विषाक्त करने के स्थान पर अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा प्रेम-पूर्ण ढंग से हल करने का उद्योग किया था। इन कवियों ने विसंगतियों के अन्तराल में सौंदर्य का संवादी स्वर ढूँढ़ने का प्रयत्न ही श्लाघ्य माना था। सुन्दरता की

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिभाषा करते हुए महाकवि देव ने लिखा है कि सुन्दरता की सत्ता ही सर्वोपरि है। रूप की भाषा संसार के समस्त प्राणियों के लिए बोधगम्य है। यह भाषा इतनी सशक्त होती है कि अपनी मोहिनी से दर्शकों को अपना अनुचर बना लेती है। विविध जातियों के रूप-गुण की चर्चा द्वारा सर्व साधारण वर्ग की नायिकाओं की इसी मोहिनी को उजागर करना इस धारा के कवियों का लक्ष्य रहा है। "देव माया प्रपंच नाटक" में उपलब्ध दोहों में रूप और गुण की परिभाषा इस दृष्टि से अवलोकनीय हैं—

रूप

देखत ही जो मन हरै, सुख आँखिन को होइ।
रूप बखानौ ताहि जो, जग चेरो कर लेइ॥ ४। १३

गुण

कायक वाचक कर्मकरि, बाँधै सबको चित्त।
राय रंक मानै गुनै, होइ जगत को मित्त॥[1] ४। १५

महात्मा तुलसीदास जैसे मर्यादा वादी कवि ने भी यौवन और रूप दोनों को विश्व-विजयिनी शक्ति के रूप में ही प्रस्तुत किया है—

"मानहुं मदन दंदुभी दीन्ही, मनसा विश्व विजय चह कीन्ही"

वास्तव में नायिका भेद सम्बन्धी साहित्य तद्युगीन सौंदर्योपासना एवं यौवनावस्था के स्वाभाविक क्रिया-कलापों का चितेरा रहा है—

अभिनव जोबन जोति सों जगमग होत विलास।
तिय के तन पानिप बढ़ै, पिय के नैननि प्यास॥—मतिराम

यौवन का अवसान हो जाने पर शरीर जिस दशा में पहुँच जाता है, वह दशा इन कवियों का वर्ण्य विषय नहीं बनी है। ऐसा दृष्टिकोण क्यों अपनाया गया है, इसके उत्तर के लिए 'दोहा सार संग्रह'[2] नामक एक हस्तलिखित ग्रंथ से एक दोहे को उद्धृत किया जा रहा है—

चौंप चटक छवि छीन गति, दृग विसाल रस भोग।
काम नृपति नगरी तजी, उजरि जात भए लोग॥

---

१. तुलना कीजिए— दच्छिन नायक एक तुम, मन मोहन ब्रज चंद।
फुलए ब्रज वनितान के, दृग इन्दीवर वृंद॥

२. उक्त ग्रन्थ कैप्टेन शूरवीर सिंह के संग्रह में है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रीतिकाल का नायिका भेद यौवनावस्था अर्थात् नारी की ३५ वर्ष की मांगलिक अवस्था के चित्रण में ही संलग्न रहा है। इस काव्य धारा के संवर्धक कवियों ने उदसी हुई बाजार में काँकरी बीनने के काम को विशेष महत्व नहीं दिया है। जीवन के प्रति स्वस्थ दृष्टि के ग्रहण के कारण ही यह काव्य मुख्य रूप से संभोग परक है। यौवन की सार्थकता संभोग में ही सिद्ध होती है। संभोग श्रृंगार ही सृष्टि का प्रजापति है।

"सभा में सोहै मोरे पिय की कलंगिया,
सेजवा पै वेंदिया हमार।"

की भावना से रंगी हुई सामाजिक चेतना ही इस काव्य द्वारा संपोषित हुई है। जिन दिखावटी (स्वांगी ?) लोगों को यह दृष्टि नहीं सुहाती थी, उन्हीं को लक्ष्य करके मतिराम ने यह दोहा लिखा था—

"राधा मोहन लाल को, जिन्हैं न भावत नेह।
परियो मुठी हजारदस, तिनकी आँखिन खेह।"

उक्त विवेचन की संगति में महाकवि देव के 'सुखसागर तरंग' में उपलब्ध जातिगन आधार पर किए गए नायिकाओं के चित्रों का अवलोकन करने का निवेदन है। इन चित्रों में सौंदर्यगत विशिष्टता को प्रकट करने के लिए नारियों के जातिगत कार्य व्यापारों को ही आधार बनाया गया है। यदि कोई मूर्तिकार अथवा चित्रकार ऐसे भावपूर्ण-सजीव चित्रों का निर्माण आज के युग में कर सकता, तो मनमाने मूल्यों के साथ उसे संसार में ख्याति भी मिल जाती। किन्तु रीतिकालीन कवियों का वही गुण; आज दोष बन गया है। उदाहरण के रूप में छीपिन, धोबिन और अहीरिन नायिकाओं के चित्र यहाँ उपस्थित किए जा रहे हैं—

छीपिन

सोहने सोहने गातन सोहै, सुहागिनि के अति सूही सुहाई।
'देव' जु आवै लगी अँखियान में, देखत ही मुख की अरुणाई॥
ज्यों ज्यों रंगै पट रंग निचोरति, त्यों निचुरै अँग अंग गुराई।
दै छवि छीपे करै मनु छीट सु, छीपिनि छैल छिपै न छिपाई॥

—सुखसागर तरंग, २६३

धोबिन

घाट पर ठाढ़ी बाट पारत बटोहिन की,
चेटकी सी डीठि मन काको न हरति है।
लटकि लटकि छी करनि खुले भुज मूल,
झुकि झुकि स्वेद कण फूल से झरति है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यौवन की ऐंठ अठिलात सी उठोंहैं कुच,
ओठन अमेठि पट ऐंठि पकरति है।
धोबिन कहा धोय, धोवति अनोखीकर,
सूधु मुख राखति न ऊधमु करति है ॥—वही

अहीरिनि

माखन सो मन दूध सो जोबन,
है दधिते अधिकै उर ईठी।
छांछि पुकारत आछी लगै सुनि,
फीकी सुधा बसुधा सब सीठी।
नैनन नेह चुवै कहि 'देव,
बुझावत बैन वियोग अंगीठी।
ऐसी रसीली अहीरी अहै,
कहौ क्यों न लगै मन मोहनै मीठी ॥—वही

वस्तुतः रीतिकालीन कवियों का नायिका भेद कृष्ण भक्त कवियों के परकीया प्रेम के आदर्श की तुलना में सामाजिक दृष्टि से औचित्यपूर्ण एवं संतुलित सिद्ध होता है।[1] इन कवियों ने आठगुणों[2] से संपन्न उत्तम स्वभाव वाली स्वकीया को ही रस का आधार स्वीकार किया है। सुख की प्रगाढ़ता, अबाधता और अखंडता के लिए सामाजिक मान्यताओं के स्वीकरण (औचित्य ?) को इन कवियों ने समुचित रूप से महत्व दिया है। अधिकांश कवियों की रस-विषयक मान्यता (स्थापना नहीं) अलौकिक रूप से चित्रित किए जाने के स्थान पर पूर्णतः लौकिक अनुभूतियों के विषय-व्यापार में ही प्रतिबिम्बित की गई है।

रस का स्वरूप निरूपित करने में दार्शनिकों के साथ होड़ और उनकी नकल करने के स्थान पर इन रचनाकारों ने कवियोचित दृष्टिकोण का ही पल्लवन किया था। कवि के छंदो में प्रयुक्त होनेवाले शब्द अरूप अनुभूतियों को भी रूपायित करने में समर्थ होते हैं। अतः इन लोगों ने दाम्पत्य साहचर्य के सरस चाक्षुष बिम्बों के माध्यम से ही काव्य में शृंगार रस को अनुस्यूत करने की परम्परा डाली थी। ये कवि यही मानते रहे हैं कि दाम्पत्य जीवन की परिधि में प्रेमोल्लास के प्रस्फुटन को ही काव्य-विषय बनाकर रस की अनुभूति का अनुसरण संभव है। इसी से यह जटिल

---

१. गुप्ता विदग्धा लच्छिता, कुलटा मुदिता जानि।
अनुसयना षट भेद ए, परकीया रस हानि ॥
२. जा कामिनि में देखिए, पूरन आठहु अंग।
ताही बरनै नायिका, त्रिभुवन मोहन रंग ॥——रस विलास

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय व्यावहारिक एवं सामान्य जन के लिए बोधगम्य हो सकता है। इस काव्यादर्श के अनुसार दाम्पत्य जीवन की सिद्धि और साधना ही सबसे महत्वपूर्ण रंगस्थली है। इसी भावना से प्रेरित होकर उक्त कवियों ने पति पत्नी के बीच स्थापित होनेवाले सम्बन्धों को मधुर से मधुरतम बनाने की दिशा में स्वयं को संलग्न किया था।

महाकवि देव ने रस और प्रेम का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करने में गहरी अन्तर्दृष्टि का प्रमाण दिया है। 'प्रेम' रस की पूर्वावस्था है। प्रेम साधना है और रस उसकी सिद्धि। परकीया में उत्पन्न होनेवाला प्रेम ऐसा होता है, जिसकी उपमा डाल के कच्चे और कसैले फलों से दी जा सकती है। किन्तु सामान्य रूप से फल पकने पर ही रस सुलभ होता है—सामाजिक औचित्य को तिलांजलि देकर किया जानेवाला परकीया-प्रेम सामाजिक मान्यताओं से अन्तर्विरोध होने के कारण रस की सिद्धावस्था (परिपक्वता) तक नहीं पहुँच सकता है। इसी विक्षेप के कारण परकीया प्रेम की भक्तिकालीन मान्यता को रीतिकालीन कवियों ने खोटे सिक्के की तरह अमान्य कर दिया था। उक्त तथ्य को 'देव' के शब्दों में उद्धृत किया जा रहा है—

तातें स्वकिया सुद्ध रस, परकीया रस प्रेम।
गुप्तादिक षट भेद तिहिं, तहाँ न रसको नेम।।

नायिका के जिन आठ गुणों को मान्यता दी गई थी, उनकी चर्चा करना समीचीन होगा। देव आदि कवियों के अनुसार यौवन, आभूषण, रूप (सौंदर्य), गुण, शील, वैभव, कुलीनता और प्रेम, इन आठ गुणों से सम्पन्न नायिका को ही अष्टांगवती माना गया है। इन में से पाँच बातें स्थूल तथा शील, कुलीनता और प्रेम को सूक्ष्म गुणों के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। सूक्ष्म मानने का आधार यह है कि उक्त तीनों की रूप गत सत्ता न होकर वह स्वभाव गत होती है।

सबसे पहले हम 'कुल' अथवा कुलीनता की चर्चा करना उचित समझते हैं। वस्तुतः यह विषय जितना ही स्थूल एवं प्रकट दिखाई देता है, तत्वतः उतना ही सूक्ष्म एवं जटिल है। विज्ञान की नई खोजों ने कुल का निश्चय करने के लिए मातृ और पितृ कुल की आठ आठ पीढ़ियों का महत्व प्रमाणित किया है। रीतिकालीन कवि आज की वैज्ञानिक मान्यताओं से वहुत दूर नहीं रहे हैं। प्रेम तथा रूप आदि विषयों में उनके अनुभवजन्य ज्ञान की झलक देखी जा सकती है। तत्कालीन मान्यताओं के अनुसार कुलीनता का सम्बन्ध सीधे चरित्र में प्रतिबिंबित होता है और यही गुण, कुल-शील का आधार बनता है। इस संदर्भ में पिछले पृष्ठों में उद्धृत नरहरि कवि के छप्पय का स्मरण करा देना उचित होगा—

"को सिखवत कुल-बधुन लाज, (शील) गृह-काज रंग अति।"

सामान्यतया कुल अथवा कुलीनता को ही नायिका के समस्त गुणों में वरीयता प्राप्त होती थी। इस एक गुण के न रहने पर शेष सभी गुण मिट्टी में मिल जाते

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे। परतिय और पर पति के प्रेम में प्रेम सहित सभी गुण विद्यमान हो सकते थे, किन्तु इस दोषाचरण से कुलीनता संदिग्ध हो जाती थी। चरित्र ही कुल का सबसे बड़ा लक्षक मना जाता था। उस युग की स्त्रियाँ अपने चरित्र की रक्षा के लिए ऐश्वर्य भोग की अपेक्षा मृत्यु को श्रेयस्कर समझती थीं। अतः चरित्र और शील की कमी होने के कारण परकीया को नायिका भेद के अन्तर्गत प्रतिष्ठा नहीं दी गई थी। **'कुलवन्तीनार'** उस युग की मान्यताओं के अनुसार एक ऐसा शब्द-बिम्ब था जिसमें शेष आठ गुण स्वयं व्यंजित हो जाते थे—

पान पुराना घी नया, औ 'कुलवन्तीनार'।
चौथी पीठि तुरंग की, स्वर्ग निसानी चार ।। गंग—४२५

कुल और शील जैसे उत्कृष्ट गुणों का संश्लिष्ट चित्रण करने में महाकवि मतिराम ने जिस क्षमता का परिचय दिया है, उसे निम्न दोहे में देखा जा सकता है—

जानति सौति अनीति है, जानति सखी सुनीति।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीति ।।

कुलीनता के उपरांत नायिका के हृदय में प्रस्फुटित प्रेम-तत्व को ही नारी की महत्ता का प्रमाण माना जाता था! प्रेम तत्व की न्यूनता अथवा इसके अभाव में नायिका को वेश्या की श्रेणी में परिगणित करने की परम्परा रही है। **"प्रेमहीन तिय वेस्या, है सिगारा भास"** में प्रस्फुटित होनेवाली दृष्टि सम्पूर्ण रीतिकाल और प्रायः सभी कवियों द्वारा मान्य रही है। रीतिकालीन काव्य में सुलभ होनेवाले वेश्या विषयक उदाहरण उक्त कथन को पुष्ट करते हैं।

उक्त इतिहास-परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि नायिका भेद सम्बन्धी रचनाओं द्वारा उनके कर्ता कवि-गण प्रेम-पूर्ण जीवन के वरण की प्रेरणा प्रदान करते रहे हैं। देव कवि के निम्न उदाहरण से प्रकट होता है कि कुल शील के उपलक्षण रूप में प्रस्तुत प्रेम-तत्व की न्यूनता हो जाने पर नायिका के शेष समस्त गुण व्यर्थ हो जाते थे। इसका अभाव नायिका के भविष्य को अंधकारमय एवं जीवन को दूभर कर देता था। प्रसंगानुसार इसी तथ्य की व्यंजना करने के लिए नायिका की सखी मानवती को समझाते हुए कहती है—

बारियै बैस बड़ी चतुरै हो, बड़े गुन 'देव' बड़ीये बनाई।
सुन्दर औ सुघरी हो सलोनी हो, सील भरी रस रूप सनाई ।।
राज बहू बलि राज कुमारि, अहो सुकुमारि न मानो मनाई।
नैसिक नाह के नेह बिना, चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई ।।

उक्त सवैये में विषय के अनुरूप जिस वैज्ञानिक एवं संतुलित शब्दावली का

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चयन किया गया है, वह ध्यान देने योग्य है। कवि ने प्रकट रूप में नायिका के लिए 'राजबहू' और 'राजकुमारी' कहा है, किन्तु एक ही पुश्त के बड़प्पन से नायिका की कुलीनता नहीं सिद्ध की जा सकती थी। परम्परा से परिचित लोगों के अनुसार विवाहादि के अवसरों पर वर और वधू के कम से कम तीन पुश्तों का लेखा-जोखा किया जाता था। ऐसा इसलिए होता था कि लोकोक्तियों में व्यक्त कुलीनता सम्बन्धी आग्रहों से जन सामान्य और उनकी जीवन-पद्धति पूर्णतः जुड़ी हुई थी। इन मान्यताओं का समाज पर गहरा प्रभाव था—

बापै पूत परापत घोरा, नाहीं ढेर तो थोरै थोरा।

तथा

नानी के आगे ननियवरे की बातें॥

तत्कालीन लोक मान्यताओं के उचित संदर्भ में ही देव के उपरोक्त सवैये की समीक्षा का औचित्य सिद्ध हो सकता है। महाकवि देव ने प्रकट रूप में अकलुषित दिखनेवाली नायिका पर उसके कुल की संदिग्धता की ऐसी गूढ़ व्यंजना की है कि उसे छंद में प्रस्फुटित प्रसंग-ध्वनि में ही समझा जा सकता है। नव विवाहित नायिका अपने पति के प्रति जैसा कठोर हठ और मान प्रदर्शित कर रही है, उसके माध्यम से चर्चित नायिका के अन्तःकरण में 'कुल-शील' गुण का वैसा साक्षात्कार नहीं होता, जैसे कुल-शील को उस युग में आदर्श माना जाता था। मतिराम ने अपने एक दोहे में नायिका के अन्तर्मन में इस गुण को जिस स्वाभाविक रूप में लक्षित किया है, उसे प्रस्तुत प्रसंग में उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

करौ कोटि अपराध तुम, वाके हिए न रोष।
नाह सनेह समुद्र में, बूड़ि जात सब दोष॥

रहीम के एक बरवै के अनुसार एक 'कुल-शीलवती' नायिका अपने पति से ऐसा प्रेम करती है कि उसे जीवन में कभी कोई त्रुटि ही नहीं मिली—

करत न हिय अपरधवा, सपनेहुँ पीव।
मान करन की बिरियाँ, रहिगा हीव॥

देव ने प्रेम-तत्व के आधार पर ही एक नायिका को दूसरी नायिका से भिन्न बताया है। इस तरह प्रेम तत्व के मानदण्ड के अनुसार प्रत्येक स्त्री अपने आप में एक स्वतन्त्र 'टाइप' होती है। जैसिंह विनोद[1] में उपलब्ध दोहा इसका प्रमाण है—

१. 'जैसिंह विनोद' नामक ग्रंथ का उल्लेख किसी भी ग्रंथ में नहीं मिलता था। इसकी एक मात्र हस्तलिखित प्रति मुझे असोथर के निकट बेरुई ग्राम के वैद्य जी के यहाँ मिली थी। सबसे पहले इस ग्रंथ की चर्चा 'भगवन्तराय खीचीं और उनके मंडल के कवि' ग्रंथ में ही हुई है। कई वर्ष तक अपने पास प्रति रखने के बाद मैंने उसे ग्रंथ स्वामी को लौटाल दिया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एकै सुख सब तियन में, पै रसु प्रेम-विवेक।
पानी पैनी धार में, खग्ग खग्ग सब एक॥

यद्यपि देव ने अपने ग्रंथों में नायिकाओं के वर्णन-प्रसंग में दो विभिन्न मापदंडों को अपनाते हुए अपने को तीन सौ चौरासी और तीन सौ चवालीस संख्या तक ही सीमित रखा है; किन्तु 'रस रतन'[1] नामक एक ग्रंथ में इस संख्या को चार लाख पैंतीस हज़ार चार सौ छप्पन तक पहुँचा दिया गया है। ग्रंथकार ने ग्रंथ के नामकरण का आधार भी स्पष्ट किया है। उसके अनुसार नायिकाओं का वर्गीकरण समुद्र जैसा अथाह विषय है। दोहों में लिखे ग्रंथ में कवि ने केवल चौदह कवित्तों का ही समावेश किया है। किन्तु ये कवित्त समुद्र मंथन के उपरांत उससे प्राप्त होनेवाले रत्नों के समान हैं—

चौदह हू सब कवित ये, चौदह रतन प्रमान।
याते नाम सुग्रंथ को, है रस रतन सुजान॥[2]

रीतिकालीन कवियों ने रस की चर्चा-प्रसंग में अनेक प्रकार से शृंगार की ही श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। कविता (नाटक से भिन्न) के क्षेत्र में रस का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए नट-नटी की रंग-शाला को सामने लाने के स्थान पर सहृदय के समक्ष नायक नायिकाओं को आलम्बन बनाकर इस भावगत विषय को चाक्षुष और इंद्रिय गम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। शृंगार रस के प्रकरण में नायिका भेद के सन्निवेश का एक मात्र यही प्रयोजन स्वाभाविक प्रतीत होता है। भाषा साहित्य की अपनी परम्परा के अनुसार ये कवि रस जैसे विषय को दार्शनिकों के 'भुज्यते योगिभिर्हियः' जैसी मान्यता से स्वतन्त्र करना चाहते थे।

संस्कृत काव्य शास्त्र में अभिनव गुप्त जैसे दार्शनिकों ने रस तत्व को ब्रह्मानन्द सहोदर बताकर जिस जटिलता की ओर मोड़ दिया था, उससे रीतिकाल के प्रायः सभी कवि उदासीन रहे हैं। ये कविगण अपने चिंतन में व्यावहारिक और वस्तु परक थे। उन्होंने अधपचे सिद्धांतों के घटाटोप में सामान्य सहृदय को चकित करके साहित्य-सेवन से उदासीन बनाने का वाक्छल न करके वस्तुपरकता का परिचय दिया है। स्थूल वस्तु के माध्यम से सूक्ष्म की ओर ले जानेवाले "स्थूलारुंधती' न्याय के अनुसार भाषा कवियों ने अपने को स्पष्ट एवं 'टू द प्वाइंट' रखने का ही प्रयत्न किया

---

१. उक्त ग्रंथ की टीका सहित प्रतिलिपि मुझे श्री उदयशंकर दुबे साहित्यान्वेषक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्राप्त हुई है। मूल ग्रंथ दतिया राज्य के संग्राहालय में विद्यमान था, जो अब वहीं के राजकीय कालिज के संरक्षण में दे दिया गया है।

२. रीतिकालीन छन्दगत वैशिष्ट्य को स्पष्ट करने में यह दोहा सहायक होता है। यह चर्चा पिछले पृष्ठों में हो चुकी है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। उक्त रस रतन ग्रंथ में रस की मान्यता विषयक दोहा और उसकी टिप्पणी द्वारा इस प्रसंग पर उचित प्रकाश पड़ता है—

नव रस आदि सिंगार पुन, हास करुन रुद्र वीर।
भय वीभत्स अद्भुत बरन, सांत परम गुन धीर॥

टीका—

"सिंगार में नव रस हैं। तिनमै प्रथम सिंगार है। सिंगार रस तो यह॥
जो नायक नाइका की प्रीति पूरन काम केल सम्बन्धी..................॥

उक्त टीका में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि शृंगार रस काम-केलि सम्बन्धी है। काव्य में काम केलि के चाक्षुष बिम्बों के चित्रण माध्यम से ही काव्य रस के बोध का द्वार खुलता है। शृंगार की भाषा को सभी जीवधारी जानते-समझते हैं, अतः इसकी आस्वाद्यता सबसे ज्यादा व्यापक एवं सहज विषय है। शृंगार की इसी व्याप्ति के कारण उसे 'रस-राज' कहा गया है। अतः भाषा कवियों ने जीवन-क्षेत्र से **काम-केलि** सम्बन्धी ऐसे मधुर चित्रों के चयन को महत्व दिया था, जिनके माध्यम से अर्थ और भाव का संप्रेषण सहज स्वाभाविक रीति से घटित हो जाए।

भाषा कवियों की इस अन्तर्दृष्टि का विसर्जन करके संस्कृत काव्य शास्त्र का अंधानुकरण करते रहने से काव्य जैसे सुबोध विषय का अध्ययन अध्यापन करते हुए दिन में ही तारे ढूँढ़ने पड़ते हैं। किशोरी दास वाजपेयी की जिस टिप्पणी को पिछले पृष्ठों में उद्धृत किया जा चुका है, उसका स्मरण कराते हुए काव्यशास्त्र को अनावश्यक तूल देनेवाले आचार्यों के सम्मुख हम महाकवि तुलसीदास के काव्यादर्श को प्रस्तुत करना उचित समझते हैं। तुलसीदास जी ने नाटक और काव्य की आस्वाद्यता में स्पष्ट भेद करते हुए भरत मुनि के नाट्य सिद्धान्त से काव्य के रस-बोध को भिन्न बताते हुए यही कहा था कि काव्य का रस मुख्य रूप से 'अर्थ' और 'आखर बल' (शब्द शक्ति) पर ही निर्भर करता है। इसके विपरीत मंच पर अभिनय करनेवाले नट-नटी, ताल और गति जैसे स्थूल विषयों का आश्रय लिया करते हैं—

कबिहि अरथ आखर बल साँचा।
अनुहरि ताल गतिहि नट नाचा॥

रीतिकालीन कवियों ने रंगमंच में प्रकट होनेवाले रस के स्थान पर घर-आँगन के रंगमंच को ही रस की रंगस्थली के रूप में स्वीकार किया था। यदि कोई सहृदय चार पाँच वर्षों तक नाटक नहीं देखता, तो इसका यह अर्थ नहीं कि इस बीच उसमें रस का स्फुरण ही नहीं हुआ होगा। काव्य में दाम्पत्य जीवन-रूपी रंग मंच

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का विकल्प उपस्थित करने के लिए अर्थ और आखर बल को साधन और माध्यम रूप में ग्रहण करने की आवश्यकता है।

'सुखसागर तरंग' नामक ग्रंथ में महाकवि देव ने शृंगार रस के मंगलाचरण के रूप में एक सवैया लिखा है, जो रस चर्चा को स्पष्ट करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। कवि ने अपने विचारों को व्यावहाहिक और वस्तुनिष्ठ रूप में जिस तर्क-पद्धति से नियोजित किया है, वह ध्यान देने योग्य है। रसास्वाद के लिए सहृदय के जीवन में आर्थिक निश्चिन्तता को पहली शर्त के रूप में स्वीकार किया गया है। **'घर में नहीं दाने बीबी चलीं भुनाने'** जैसी मूर्खता वे लोग नहीं कर सकते थे। तथाकथित वस्तुवादियों की तरह इस प्रश्न को इति न मान कर देव जैसे महाकवि ने इस बिन्दु पर जीवन और रस-भोग का श्रीगणेश ही माना था। इसके वाद दाम्पप्य जीवन की प्रेम-पूर्ण आदर्श करनी और रहनी की सरसता को रस का पाथेय मानते हुए 'देव' कृष्ण और राधा के आदर्श प्रेम की ऊँचाई तक इस आसानी से पहुँचा देते हैं कि ब्रह्मानन्द जैसी आनन्दानुभूति का द्वार स्वतः उन्मीलित हो जाता है—'सुमन माल निज कंठते, गिरत न जानइ नाग' की सी दशा काव्य रसिक की भी हो जाती है। इसी बिन्दु पर पहुँचकर रीतिकालीन कवियों की 'सुरत' और कबीर की 'सुरत' का भेद-विरोध विलीन हो जाता है। रस की इस परिणति पर पहुँचाने वाले सोपानों को महाकवि देव ने अचूक वाणी में निबद्ध कर दिया है :—

'देव' सबै सुखदायक संपति, संपति को सुख दंपति जोरी।
दंपति दीपत प्रेम प्रतीति, प्रतीति की रीति सनेह निचोरी॥
प्रीति जहाँ गुण-गीत विचार, विचार की बानी सुधारस, बोरी।
बानी को सार बखान्यो सिंगार, सिंगार को सार किसोर किसोरी॥

—देव : सुखसागर तरंग

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट—अ

ग्रंथानुक्रमणिका

अ

अकबरी दरबार के हिन्दी कवि ६२
अजंता (गुफा चित्र) ७३
अजित विलास २२४
अमरूशतक २६
आलीजाह प्रकाश १६३
आईन-ए-अकबरी २३, १५४
आल्ह खंड ८०, ८१, ८२, ८३, ८४, २३६
आधुनिक हिन्दी का आदिकाल ५१, ५५, ५६, ८०, ९७, १०१, ११३, १४७, १४९, २०९

इ

इंडिया १६४
इंपीरियल गजेटियर आफ इंडिया १५९
इब्राहीम नामा २९, ४६, ७२, ७३, ८७, ९२, १५३

ए

ए गोल्डेन ट्रेजरी आफ पर्शियन पोएट्री ३५
ए हिस्ट्री आफ द चर्च आफ इंगलैंड इन इंडिया १४१
ए हिस्ट्री ऑफ पर्शियन लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर ऐट मुगल कोर्ट ९४, ९५, ११२
'पर्शियन पोएट्री एट द मुगल कोर्ट' उक्त ग्रंथ) ३७, १५६
ए हिस्ट्री आफ क्रिश्चियनिटी इन इंडिया १५०
ए हिस्ट्री आफ हिन्दू मुस्लिम प्राबुलम इन इंडिया १५०
ए न्यू अकाउण्ट आफ ईस्ट इंडिया एण्ड पर्शिया १६९
ए न्यू हिस्ट्री आफ इंडियन पीपुल २०५

ऐ

ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल ९३, १८५, २०४

क

कवि प्रिया ९०, ९८, १०८
क़यामत नामा १८१
कवीन्द्र चन्द्रोदय ३०, १२७
कवीन्द्र कल्पलता ३०, ३२, ७३, ७४, ७५, ११२, १२७
कामायनी ७६
काव्य निर्णय ३८
काव्य मीमांसा ३९
काव्य प्रकाश ३९
कुब्जापच्चीसी २१५
क़ुरआन शरीफ़ २३, ३१, १८१
कुलजम स्वरूप १८, १२४, १३०, १३३, १३८, १७९, १८०, १९२
कोंकणाख्यान (उल्लेख पर आधारित) १५०
कोर्ट पोएट्स आफ ईरान एण्ड इंडिया ३५, ८७
कोणार्क (मंदिरों की मूर्तिकला) २६, २२९
कृष्णावतार ६५, १३७, १४५
क्लासिकल पर्शियन लिटरेचर ६३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ख

खजुराहो (मंदिरों की सूर्तिकला) २६, २२६

खड़िया जागारी बचनिका १८६

ग

गंग कवित्त ५४, ७७, ६६, १६०

गुरु ग्रंथ साहब १६, ६६, ७७, ११६, १२०, १६८

गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य २६

गुलिस्ताँ ३५

गुजरात की हिन्दी काव्य परंपरा तथा गोविन्द गिल्ला भाई २६, ३०

गूजरी चरित्र (अप्र०) ४६

गोसाई चरित ५६

च

चंडी चरित्र (उक्ति विलास ?) ६५, १४५, २२४

चौर पंचाशिका २६

छ

छत्रप्रकास ३७, ६४, ८३, ८४, १२३, १५६, १७३, १७४, १६३, १६५, २५३

छत्रविलास १३०

छत्रसाल के खरड़ा (बहियों में लिखा छत्रसाल का इतिहास-साक्ष्य पर आधारित) १३२

ज

जफ़र नामा ६६, १२७, १८२, १८३

जार्ज नामा ६५

ज्ञाति विलास २३८

जीच मुहम्द शाही (उल्लेख साक्ष्य) २७

जैसिंह विनोद २४५

जोधपुर राज्य का इतिहास १८६

ट

ट्रवेल्स आफ टैर्वनियर २६, १८०

ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ सैंट्रल प्राविंसेज आफ इंडिया ६२

ढ

ढोला मारूरादूहा २८

त

तंत्र आर्ट २२६, २३१

तबक्कात-इ-अकबरी ११२

द

दशमग्रंथ १४५

दारा शुकोह (व्य०-एवं ग्रंथ) २५, ३१, ४२, ६६, १२७, १२८, १४४, १५४, १७२, १७६, १८६, २२४

दास बोध १७७, १८६, १८७, १६०

दि हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेंट इन मध्य प्रदेश १६१, १६३

दि हिस्ट्री आफ फ्रीडम यूवमेंठ इन इंडिया २०७

दि डिक्शनरी आफ़ इस्लाम २२, २३

दिनमान (सा०) १३६

द्विजेश दर्शन १६४, २१६

देव और उनका काव्य ५४

देव ग्रंथावली (नवीन सं०) १४५

देवल देवी खिज्र खाँ १६६

देव माया प्रपंच नाटक १४४, १४५, २२८, २३१

दुर्गा भक्ति चन्द्रिका २२५

दुर्गा सप्तशती २२५, २३०

देहली पास्ट एण्ड प्रेज़ेण्ट १६१

दैलवारा लेख १७, १७२, १७३

दोहावली ४१, ११८, १३५, १३६

दोहा सार संग्रह २४०

ध

धर्मयुग (साप्ता०) १६३, १६७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

न

नलदमन ५०
नीति हज़ारा ६०, ७०
नीति छप्पय ७०
नूह सिपहर १६७
नौ रस ७४, ७५, ६१, ६२

प

पंजाब पास्ट एण्ड प्रेज़ेण्ट (जर्नल) १३६
पद्मावत ८४
पार्वती मंगल ६३
प्राचीन पंडित और कवि २२५
प्रेम चंद्रिका २२८
पृथ्वीराज रासो ६४, ८०, ८१

फ

फतेह प्रकाश ७५, १६१, २००
फाज़िल अली प्रकाश ११२
फुतुहुस्सलातीन (या शाहनामा-हिन्द) ८१, ८२
वरवै नायिका भेद ५१, १०८
बाबर नामा ८६
वाघ (गुफा चित्र) ७३
विहार के हिन्दी कवि २६
बिहारी रत्नाकर ४६, २१४, २३०
बिहारी और उनका काव्य १५६
बीसल देव रासो ८०
बुन्देल खंड के कवि १७१, १८६
बुन्देल खंड का इतिहास, १३३
वेलि क्रिसन रूकमणी री २८
वोस्ताँ ३५
बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन ६८
वृत्तान्त मुक्तावली ४२, १३६, १७६

भ

भरत मुनि २४७
भगवंतराय खीची और उनके मंडल के कवि १०३, १५७, २०२, २३८
भारत कला भवन बनारस २३६
भूषण और उनका साहित्य १८७, १६५
भूषण (व्य० एवं ग्रं० देखिए व्यक्ति)
भोंसले दरबार के हिन्दी कवि २८

म

मतिराम ग्रंथावली २४, १८८
मआसिरे आलमगीरी ६४, १३७, १८०, १८२
मर्दन रसार्णव २२६
महाभारथ ६४
मनुस्मृति १४२
मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति १६६
मालबा थ्रू ट्रांजिशन २०५
मानस (रामचरित) ३०, ३६, ५६, ७१, ८४, ११८, १३५, १३६, २०८, २२६, २३३, २३७
मेरे कुछ मौलिक विचार २१६, २१८
मेमायर्स आफ देहली २३४

य

यंत्र राज रचना २७

र

रस कुसुमाकर २१४
रस रहस्य १७४
रस रतन १३४
रस रतन (अन्य ग्रंथ) २४६, २४७
रस विलास २३८, २४२
रसोल्लास ३६
राइज आफ दि मराठा पावर १४३
राधार क्रमिक विकास २२८
रासो १४८
राजस्थान का इतिहास १३४
रायल एसियाटिक सोसाइटी १५४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजरूपक १६६, १७६, १७८, २०३
राजस्थान भारती (पत्रिका) १७८
रिकलेक्शन्स फ्राम दि नार्दर्न इंडिया विद आब्जर्वेशन्स आन दि ओरिजिन आफ कस्टम एण्ड मारल सेंटीमेंट आफ हिन्दुस्तान (विलियम वायर्स कृत) ८०

ल

लालदास की बीतक ४२, १३३, १८१
लाइफ एण्ड लेटर्स आफ लार्ड मैकाले १५३, १५५
लिगेसी आफ पर्शिया ७१, ६५
लैंड रेवेन्यू रेकार्ड्स २०६

व

वंश भास्कर २२, ८५, ६८, १२८, १२६, १६६, २०३, २०६
वर्नाक्युलर न्यूज पेपर्स २११
वाणी गुरु गोविन्द सिंह ७५, १८५
वार्हस्पत्य तंत्र १५५
विनय पत्रिका १३५
विष्णु सहस्रनाम १४२
विनोद शर्मा अभिनदन ग्रंथ ४८
विजय मुक्तावली ६४
विचित्र नाटक १८, ६७, १२२, १४५
वीर विनोद १६६, २२४
वीर मित्रोदय (अथवा बीर मित्रोदय) ११८, १७२
वैराग्य शतक ५६

श

शवरी २१४
शस्त्रनाम माला पुराण ६७
शब्द रसायन ३८, ३६
शाहनामा ८१, ८२, १०४
शुक्रनीति १५५

स

संगीत पारिजात ७३
सरस्वती (पत्रिका) ११३
साहित्य दर्पण ६०
सर्व सम्मत शिक्षा (उल्लेख पर आधारित) १५८
सुकवि (पत्रिका) २१३
सुखसागर तरंग २२८, २४१, २४२, २४८
सूरज प्रकाश १७६
सेहनस्र ६२
सुजान विनोद २३२
सेलेक्शन्स फ्राम दि एजूकेशनल रिकार्ड्स १५१, १५२, १५३, १५४, १६५
सेलेक्शन्स फ्राम वर्नाक्यूलर न्यूज पेपर्स २११
सेलेक्शन्स फ्राम दि पेशवा दफ्तर १६६, २०४, २०५, २०६
स्टोरिया डु मुगर ६६, ८४
स्कन्दपुराण २३१

ह

हनुमत पचासा २०१
हम्मीर रासो ८२
हिन्दी साहित्य का इतिहास ७६
हिन्दी साहित्य का अतीत ३४, ४८, ८०, ११६
हिंदी साहित्य कोष १२०

श्र

श्रृंगार संग्रह २१२
श्रृंगार सुधाकर २११, २२०
श्री गुरु प्रताप सूरज ग्रंथ १२१, १२२, १२४, १२५, १२६, १३०, १३२, १३६, १८६
श्रीमद्भगवद् गीता १८३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नामानुक्रणिका

अ

अकबर १८, २१, २२, २३, २४, २५, २८, २९, ३१, ३२, ३४, ३५, ४२, ४६, ४८, ५०, ६०, ६२, ६३, ६९, ७०, ७१, ७२, ७८, ७९, ८१, ८६, ८७, ८८, ८९, ९८, १०९, ११०, १११, ११३, ११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १३४, १४०, १४४, १४७, १५४, १७६, १९७, २२३, २२४

अकबर (औरंगज़ेब का पुत्र) १७५

अजित मुकर्जी २२९, २३१

अर्जुन देव (गुरु) ६५, ७८, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १३६, १४०

अजीतसिंह १३४, २२४

अनसूरी १०४

अप्पा साहेब भोंसले १६१

अभिनव गुप्त २४६

अबुलफ़ज़ल २५, १११

अब्दुल ग़नी ११२, १५६

अब्दुल देहलवी ७२

अभय सिंह १३४

अमर सिंह (राठौर) १२८

अमीचंद (सेठ) ८०

अमीर खुसरो २८, ३५, ४९, ९२, १६६, १६७

अम्बा प्रसाद (डॉ०) १४९

अलाउद्दीन (खिलजी) २२, २८, ८१, ८२

अहोबल ७३

असजदी १०४

आ

आग़ामेहदी हुसैन ८२

आलम (कवि) १०३, १०८

आल्हा-ऊदल ८०, ८२, ८३

आसफ खाँ ९२

ओ

ओझा (गौरीशंकर हीराचन्द) १३४

ओटो ट्रवेलियन १५३, १५४

औ

औरंगज़ेब २२, ३१, ३२, ६४, ६९, ७८, ७९, ८५, ९३, ९९, १०१, ११२, १२७, १२८, १२९, १३०, १३२, १३७, १५४, १६९, १७१, १७२, १७३, १७४, १७५, १७६, १८१, १८२, १८३, १८४, १८६, १९७, १९८, २२४, २३४, २३५

इ

इन्द्रगिरि २२४

इन्द्रजीत सिंह ९०, ९१, ९८, १०९

इन्दरजीत सिंह २१९

इब्राहीम आदिलशाह ७४, ९१

इसामी ८१, ८२

ई

ईश्वर (कवि) ९८

ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह २११, २१७

उ

उग्र (पाण्डेय बेचन शर्मा) ४८

उदयनाथ कवीन्द्र ४६

उदय चंद ५१, १०८

उदय शंकर दुबे ५१, ९३, २०२, २३१, २४६

ए

ए० जे० अर बेरी ६३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एलिजबेथ ११०
एहते शाम हुसैन (डॉ०) ६२

क

कबीरदास १८, २५, २८, ४३, ६६, ६७, ७६, ११६, १२०, १३४, १४४, २२६
करन (कवि) ४०
कर्णावती परमार (रानी) १२६, १२७, १३२
कवि 'कलश' ३२, १८५, २२६
कवीन्द्राचार्य सरस्वती ३०, ३१, १०१, १२७
कानूनगो (डॉ०) कालिका रंजन २५
कालिदास (कवि) ४६, १६८
काली कवि २१५, २३१
कार्ल मार्क्स ६८
काही (मौलाना कासिम) ३५, ८७
किशोरीदास वाजपेयी (आचार्य) २१६, २१८, २४७
कुँभनदास ५८
कुंज विहारी शुक्ल २१४
कुँवर चन्द्र प्रकाश सिंह (डॉ०) ३०, २१८
कुलपति मिश्र १७४, १८६, १६४, २२४, २२६
केशव (कवि) २७, ४३, ५६, ७५, ८६, ६०, ६१, ६८, १०८, १०६, १७२, २१६, २१७, २२२, २३४
केशव चन्द्र सेन २०७
के० एस० थापर १३६
केशरी सिंह १७४
कैप्टेन गुरबीर सिंह १३२, १७५, १६३, २४०
कौसरी ३७, ६३, ६४, ६५, १५६
कृष्ण कवि ४५, ४६, ६०, ६२, ७०; ८८, ११२, ११३, ११४, १३१, १३३; १३५, १६४, १७१, १७३, २३७
कृष्णदत्त ४६, २२३

ख

खॉन दौराँ (मुहम्मद शाह रंगीला का समकालीन) २०६

ग

गणेश शंकर विद्यार्थी १५०
गज्जू बाबा पठान २२०
गंगा प्रसाद 'वृजेश' (कवि) २१६
गंग २२, ५८, ५६, ६०, ७०, ७१, ७५, ७७, ७६, ८६, ६१, ६३, ६४, ६५, ६६ ६६, १००, १०१, १०२, १०३, ११६, ११७, १३४, १४०, २१७, २४४
गुरदीन (कवि) २३५, २३६
गुरु गोबिन्द सिंह जी १८, ३२, ६४, ६५, ६६, ६७, ६६, ७५, ७८, ६६, १०१, १२२, १२७, १३७, १३८, १३६, १४५, १७५, १८२, १८३, १८४ १८५, १६४, १६६, २०४, २१७, २२४, २३६
गुरु तेग बहादुर ७८, १३७, १८२, १८४
गुरु हर गोविन्द जी ७८, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५, १२६, १३२, १६३, १७६
गौतम बुद्ध ४१
ग्वाल कवि ६६

घ

घनानंद २१८, २१६, २२६, २३१
घाघ १०६, ११०

च

चंद (कवि) ८१, ६८
चंदू (जहाँगीर का मुंशी) १२१, १२३, १३६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चंपतराय ४६, १२५, १२७, १३१, १३२, १७१, १७२, १७३
चंगेज़ खाँ -६२, ९२, १६७
चतुर्वेदी (पं० श्री नारायण) ४८, ५१, ५६, ७१, १०१, ११३, ११४, १४७, १४९, १६४, ०७, २१३, २१५, २१८
चतुर्वेदी मालरविंदम २१४
चतुर्वेदी रामगोपाल (डॉ०) २१५
चिंतामणि (कवि) ६४
चैतन्य १४०
चैनराय (कवि) २१२

छ

छत्रसाल (बुन्देला) १८, ३२, ६०, ६५, ६७, ६९, ८३, ८४, ९८, १०१, ११८, १२२, १२७, १३०, १३३, १३४, १३९, १७१, १७३, १७४, १८०, १८१, १८२, १८५, १८६, १८९, १९४, १९५, १९६, २००, २०४, २२५
छत्रसाल (हाड़ा) १२७
छोटेलाल (कवि) ४९

ज

जगतराज (छत्रसाल का पुत्र) २००
जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' २१४
जगन्नाथ जोशी २७
जदुनाथ सरकार (सर) १७४, १९७, २०५
जय शंकर प्रसाद २२२
जयचंद ८०
जयसिंह (सवाई) २७, ६०, १३३, १९६, २०४, २०५, २०६
जयसिंह (मिर्ज़ाराजा) ९३, १२७, १३३, १७१, १७३, १७४
जयदेव १२०
जल्हण ८१
जसवंत सिंह राठौर १२७, १८६, २१२, २२४, २३४
जहाँगीर ४६, ५९, ७७, १०९, १२१, १२३, १२४, १२५, १२९, १५६, २२३, २२४
जहाँआरा (बेग़म साहिबा, शाहजहाँ की पुत्री) १०९, १२७, १८०
जायसी २९, ८४
जुझार सिंह बुन्देला १२५, १७२
जुहूरी ७४, ९२
जैनुल आब्दीन ६३
ज़ैबुन्निसा १०९

ट

टीपू (सुल्तान) १५३

ठ

ठाकुर (कवि) १६२, २३७
ठाकुर बच्ची सिंह २३५
ठाकुर बरजोर सिंह २३५

त

तहव्वर खाँ ८३
तानसेन २२, १४०
तारा चन्द (डॉ०) २०७
तुलसी दास १८, २५, ३०, ३९, ४१, ५३, ५६, ५७, ५८, ५९, ६०, ६३, ६४, ६५, ६६, ६७, ७०, ७१, ७६, ७७, ८४, ९७, १०९, ११२, ११३, ११४, ११७, ११८, ११९, १३४, १३५, १३६, १४०, १४१, १४५, १७१, १८७, २०२, २०७, २१८, २२०, २२२, २२६, २३३, २३५, २४०, २४७
तैमूर २२

द

दंडी (आचार्य) ३९
दयानन्द (सरस्वती) ७७, १३१, १४६, २०७, २०९, २१२
दलपतराव ८५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दादू २६, १४०
दानिश मंद खाँ (फ़ाज़िल अली वाक़यात इ-आलमगीरी से पुष्ट) ११२
दारा शुकोह (देखिए ग्रंथानुक्रम)
दिनकर (रामधारी सिंह) ३६
दिलेर खाँ १७४
दुरसाजी (चारण) ७९
दुर्गा दास राठौर १७५, १७८, १८९, १९४, १९६, २०४
दूलह (कवि) ४६
देवीसिंग व्यं० चौव्हाण २९, ७२, १५३
देव (महाकवि) ३९, ४९, ५१, ५९, १२१, १४४, १४५, १६७, २१८, २२८, २२९, २३१, २३२, २३८, २३९, २४०, २४१, २४३, २४४, २४५, २४६, २४८
देवी प्रसादपूर्ण (राय) २१४
देवीसिंह (बुन्देला) २२५
देव चन्द्र जी (प्राणनाथ जी के गुरु) १३१, १३९, १८१
दौलतराव सिंधिया १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६३, १६४
द्विजेश, बलराम प्रसाद मिश्र (कवि) १६४
द्विवेदी, (डॉ०) रमाशंकर २१५

ध

धर्मयुग (साप्ता०) १९३, १९७

न

नंदलाल सिंह २१९
नगेन्द्र (डॉ०) ५४
नज़ीरी ९५
नरहरि महापात्र २२, ४६, ५८, ६०, ६१, ६२, ६३, ६९, ७०, ७७, ७९, ८९, ९५, १०१, १४०, १५६, १९७, २४३
नरहरि देव (स्वामी) १३१, १८२
नरसी मेहता १४०
नव नीत चतुर्वेदी २१४, २१५
'नवीन' बाल कृष्ण शर्मा २१६
नरोत्तमदास (कवि) ७५
नल १२०
नवाब सआदत खाँ २०६
नादिरशाह २०६
नानक देव (गुरु) २६, ६६, ६९, ११९, १२०, १२१, १३४, १३६, १३७, १४०, १६८
नाम देव १२०, १४०
नाहर सिंह १६२
निराला (सूर्य कान्त त्रिपाठी) ४८, २१६, २२२
नूरजहाँ १०९, १५६
नैपोलियन १४८

प

पंड्या जी० बी० २१८
पद्माकर ७३, १०१, १५७, १५८, १५९, १६०, १६१, १६२, १६४, १६६, २०७, २२६, २३१, २३७
पद्म सिंह शर्मा १५६
पाठक (श्रीधर) १४९
परिपूर्णा नन्द वर्मा ९३
पहाड़ सिंह १२७, १७२
पीपाजी (संत) १२०
पुरुषोत्तम सिंह ८८
पुष्पा रानी जायसवाल (डॉ०) १४५
पोहकर (कवि) ४६, ७५, १३४
प्रताप नारायण मिश्र २०७
प्रताप सिंह (कवि) २१४
प्रवीणराय १०८, १०९
प्रभुदयाल मित्तल २३१
प्रभा दीक्षित (डॉ०) १३६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रिंसेप एच० टी० १५२, १५७
प्राणनाथ (स्वामी संत, महामति, निष्कलंक बुद्ध) ४२, ६५, ७८, १२४, १३२, १३३, १३८, १३९, १७५, १७६, १७८, १८१, १८२, १८९, २०३
पृथ्वीराज (चौहान) ८०, ८२, ८३, ९८
पृथ्वीराज राठौर (कवि) ७९, १७७

फ

फ़तेह शाह १९३
फरह वखश २३४
फ़रीद (संत) १२०
फ़रुखसियर २२
फ़ारुखी १०४
फ्रायड २७
फ्रायर १६९
फ़िरदौसी ८१, ८२, १०४, १०४
फूलचंद मिश्र २२५, २२६
फैज़ी २५, ५०, १११, ११२

ब

बंदा वैरागी १३७
बखत बली (कवि) ४६
बचनेश (कवि) २१४
बदायूनी (अकबर का समकालीन इतिहास लेखक) २३, ६२, १५४, २२३
बलदेव (खटवारा, राजापुर) २१५
बलभद्र मिश्र ७५, १७२
बल्लभाचार्य २५
बहादुर शाह (शाह आलम I) ३१, ८५, १७४
बनारसी दास चतुर्वेदी २१५
बर्नियर ३०, ८५, ११२
बाबू राय कृष्णदास २१६
बाबर २२, ६९, ८०, ८१, ८६, १६३, १९७
बिहारी (महाकवि) ४९, ७३, ७४, ८५, ८६, १०३, १५६, २३०, २३८
बीरबल (ब्रह्म कवि) ३८, ५८, ५९, ७९, ८८, ८९, ९०, ९१, ९३, १२१, १४०, १९७, २१७
बेकन (लार्ड) ११०
बौट्रस एफ० १५५
ब्रज भूषण ४२, १३९
बृंद (कवि) ४६
बृज किशोर मिश्र (डॉ०) १४५
भंगी-झंगी ९२

भ

भगवान दीन जी दीन (लाला) २१५, २१८
भगवान दास ९२
भगवंतराय खीची ३२, ६५, ६९, १०१, १०३, १९६, २००, २०१, २०२, २०३, २०४, २०६, २१७, २२६, २३१
भरत सिंह उपाध्याय (डॉ०) ६८
भरतजी व्यास ५४, १२२
भव भूति ४३
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ७७, १०१, ११७, १४७, २०७, २०९, २११, २१२, २१६, २१७
भाल चंद राव तैलंग ४६
भानु भट्ट ४६, १७१
भाई मनीसिंह १४५
भिखारी दास ३८, ५८, ५९, २२०
भूषण (परमानंद ?) २२, २९, ३२, ३७, ६७, ७९, ९८, ९९, १०१, १०३, १२३, १२६, १३०, १४०, १६२, १६९, १७४, १७५, १८३, १८६, १८७, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९७, १९८, १९९, २००, २१७, २२२, २२६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

म

मतिराम ७३, ७४, १०१, १०३, १८६, १६४, २२६, २३८, २४१, २४४, २४५
मनूची (शाहजहाँ और औरंगजेब का समकालीन) ६६, ८४
मन्नालाल (कवि) २११, २२०
मम्मट (आचार्य) ३८
मदन मोहन मालवीय (पं०) २१६
मसानी आर० पी० ३५, ८७
मर्दन सिंह (राव) २२५, २२६
महमूद ग़ज़नवी १०४
महद पाई पर देसाई १५०
महावीर प्रसाद द्विवेदी (आचार्य) ११३, ११४, १४६, २१५, २१६, २२५
माखन लाल चतुर्वेदी २१६
माधव १२०
माधव पसाद मिश्र २०१, २६२
मानसिंह कछवाहा (राजा) ११७
मान (कवि) १७५
मानसिंह तोमर ५५
मानसिंह (राजा जोधपुर) १६१
मानसिंह (कवि) २१४
मान कवि (चरखारी वाले) २२६, २३१
मामून (खलीफ़ा) १५३
मार्टिन लूथर १२१
मालारविंद गोविन्द चतुर्वेदी ३०
मिश्र मिश्र ११८, १७२
मिश्र पं० कृष्ण बिहारी १८८,
मिल्टन (जॉन) १४७
मीराबाई १४०
मुंशी देवी प्रसाद १८६
मुनीम खां (खानखाना बहादुर शाह के समय में) २०६
मुराद १७२
मुल्ला वाहिद १११, ११२
मुल्ला फ़िरोज़ ६५
मुहम्मद गोरी ८०, ८३, २०३
मुहम्मद शाह (रंगीला) २७, २०६
मेदनी शाह १६३
मेजर थार्न १६१
मेजर जनरल माल्कम २०५
मैकाले (लार्ड) १४६, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६, १५७
मैथिली शरण गुप्त २१६
मोहनलाल मिश्र (कवि) ४६, २२३

य

यूसुफ़ हुसैन (डॉ०) १६६, १६७

र

रघुवीर सिंह (डॉ०) महाराज कुमार १७८, १८६, २०५
रतनू वीर भाण १६६, १७०, १७८
रणजीत सिंह १६१
रविदास १२०
रसलीन २१७
रहीम (खान खाना) ३७, ५०, ५१, ६३, ७५, ८६, ६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६६, १००, १०८, ११२, ११३, ११४, १५६, २०६, २१७, २२०, २२२, २४५
रसाल (कवि) २१४
रसलीन १०३
राजशेखर ३६
रानाडे (एम० जी०) १४३, १६०, २०३
राजमल बोहरा (डॉ०) १८७, १६५
रामसिंह (कुँवर) १७४
रामनाथ प्रधान २३७
राममोहन राय (राजा) ४२, १४६, १५१
राधाकृष्ण मिश्र २१२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रायसिंह (राव बीकानेर) ७२
राणा प्रताप ७९, ११६, ११७, १७७
राणा राजसिंह १८०, १९८
राकेश गुप्त (डॉ०) २३२
राबर्ट डी० नोविले १४१
रूपनारायण पाण्डेय २१४
रोशन आरा बेगम (शाहजहाँ की पुत्री) १०९

ल

लक्ष्मण सिंह (राजा) ६०
लार्ड लेक १६१
लाल कवि ३७, ६४, ७९, ८३, ८४; १०१, १३०, १७२, १७४, १७५, १८७, १९३, २३५
लालदास ४२
लाखन राना ८०
लीलाधर (कवि) ४०

व

वंशीधर ४०
वास्कोडिगामा १४९
बिद्‌यापति ४३, ६९
विद्‌या निवास मिश्र ६०
वियोगी हरि २१४
विलियम वार्यर्स ७६, २३२
विलियम बैंटिंग (लार्ड) १४९, १५२
विलियम कैरी १५१
विलियम पिट लार्ड एम हर्स्ट १५१
विवेकानंद ७७, १३१, १३६, १४६, २०७
विष्णु सिंह २२४
विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (आचार्य) २६, ३४, ४८, ५४, १०५, ११९, १८७, १९५, २१८
विश्वम्भर प्रसाद गुप्त २१२
वीर (बीर ?) सिंह देव (बुंदेला) ११८, १७१, १७०, १८०

श

शंभूजी ३२, २२६
शंखधर (डॉ०) बी० एम० १६४
शर्मा नित्यानन्द (पर्वतीय) १७२
शार्ङ्गधर ८२
शाह अब्बास १११, ११२
शाहजहाँ ३०, ३१, ३२, ७४, ८५, १२६, १२७, १२८, १२९, १७२, १७६
शाह जी भोंसले १८५
शार्प एच० १५१
शिव शरण शर्मा (डॉ०) २०२
शिव प्रसाद (राजा प्रमाद से इनके लिए सितारे हिन्द लिख दिया गया है इसे शुद्‌ध पढ़ें) ६०
शिवाजी १८, ३२, ६५, ६७, ९३, १०१, १२३, १३१, १३२; १३३, १६८, १६९, १७३, १७४, १७५, १८५, १८६, १८८, १८९, १९०, १९१, १९२, १९३, १९४, १९६, १९८, २००, २२०, २२६
शिवानंद २२५
शशि भूषण दास गुप्त २२८
शुक्ल (आचार्य रामचन्द्र) ३३, ५६, ७९, २१५, २१६, २३४
शुभ करण (बुंदेला) १७२, १७३
शेख शादी ३५
शेरशाह २८
शैफुद्‌दीन मुहम्मद ९२

स

संपूर्णानन्द वर्मा ९३, २१६
सगतसिंह ७२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सरदार (कवि) २१२
सत्य नारायण 'कवि रत्न' २१३, २१४
'सनेही' गयाप्रसाद शुक्ल (त्रिशूलभी) २१३, २१४
'सरस' रामचन्द्र शुक्ल २१४
सदन १२०
सबलसिंह चौहान ६४
समर्थ गुरु रामदास ६५, ७८, १३२, १३६, १४५, १४६, १६८, १७६, १७७, १८२, १८६, २०२
सलावतखाँ (बख्शी) १२८
सिकन्दर लोदी २८, १३४
सुखदेव (कविराज कंपिला और फाजिल अली के समकालीन) ११२, १८६, १६४
सुखदेव मिश्र (भगवंतराय और राव मर्दन सिंह के समकालीन) ११२, २२५, २२६
सुरजन सिंह हाड़ा (राव, बूंदी) ६८
सुजा (शाह औरंगजेब का बड़ा भाई) १७२
सुजान राय (चंपतराय के भाई) १७२
सुजानसिंह १७३
सूरदास ६७, ७६, १२०, १३४, १३५, १४०, २१८
सूर्यमल मिश्रण २२, ६८, १२८, १२६, १६६, २०६
सैन १२०, २०६
सैय्यद बंधु (बरहा के) ६३, २०६
हजरत मियाँ मीर १२५
हजारी प्रसाद द्विवेदी (आचार्य) ५५
हनुमंत स्वामी १३२
हर वंश लाल शर्मा (डॉ०) १५६
हरजस १२०
हरदयाल सिंह (लाला) २१५
हरपाल सिंह २१४
हरि नाथ ४६
हरि दास १३४
हाब्स १४७
हाजी २२४
हाफिज (शम्स अल मुहम्मद) ६३
हादी हसन (डॉ०) ३५
हीरा देवी १७२, १७३
हुँमायूँ १६७
हेनरी अस्टम १२२
होलराय २२, ३२, ६०, ७८, ८६, ६७
हृदयशाह (हिरदेशाह छत्रसाल के पुत्र) २००, २०६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

State Museum Library
7624
Lucknow

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय
प्रो० बी० एन० पुरी
संग्रह
लखनऊ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महेन्द्र प्रताप सिंह **जन्म** : अर्की (राजापुर के निकट) जि० बाँदा, उ० प्र०

अध्ययन : महाराज सयाजी वि० वि० वि० बड़ौदा से साहित्य और इतिहास से समन्वित विषय में पी० एच० डी० । फारसी, मराठी एवं गुजराती भाषाओं का व्यावहारिक ज्ञान । हिमालय की तराई से लेकर कन्याकुमारी तक शोध कार्य के लिए देशाटन । ना० प्र० स० काशी हिन्दी सा० स० प्रयाग, सरस्वती पुस्तकालय रामनगर वाराणसी, गायकवाड़ ओरियंटल रिसर्च इंस्टट्यूट, बड़ौदा चौपासनी शोध संस्थान जोधपुर, रघवीर लाइब्रेरी (अब नटराज शोध संस्थान) सीतामऊ मालवा, राजस्थान प्राच्य विद्याप्रतिष्ठान जोधपुर, राजस्थान अभिलेखागार बीकानेर, राष्ट्रीय अभिलेखागार नई दिल्ली, आर्क्योलाजिकल सर्वे लाइब्रेरी नई दिल्ली आदि संस्थाओं में पुस्तकों, पाण्डुलिपियों एवं अभिलेखों का अध्ययन ।

नौकरियाँ— १९६०-६२ में लखनऊ से प्रकाशित 'ज्ञानभारती' मासिक पत्रिका का सम्पादन । संपृति देशबन्धु कालिज (दिल्ली विश्वविद्यालय) के हिन्दी विभाग में अगस्त ६२ से लेक्चरर ।

प्रकाशित रचनाएँ : **किरन** (कविता संग्रह) **स्वप्न दर्शन** (खंड काव्य) **मानस के मोती** ('मानस' पर आधारित निबन्ध) **भगवंतराय खीच और उनके मंडल के कवि** (शोध प्रबन्ध) लालकवि कृति **छत्रप्रकास** (संपादन) **ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल** (संपादन) इनके अतिरिक्त राजस्थान अभिलेखागार बीकानेर में सुरक्षित सामग्री एवं आल्ह खंड के ऐतिहासिक महत्व पर लेख एवं टिप्पणियाँ । शिवाजी कालीन हिन्दी पत्रों के आधार पर भूषण की ऐतिहासिकता पर 'धर्मयुग' में लेख जिसका मराठी भाषा में अनुवाद एवं उस पर आधारित मराठी भाषा में नाटक एवं उसका मंचन । राष्ट्रीय अभिलेखागार नई दिल्ली से प्रकाशित छमाही पत्रिका 'The Indian Archives Vol. XXV जनवरी से जून १९७६ के अंक में प्रकाशित लेख "Some Literary Sources of History in Pingal and Dingal Languages during the Seventeenth century."

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्वद् जनों की दृष्टि में
ऐतिहासिक प्रमाणावली और छत्रसाल :

☐ पं० श्री नारायण चतुर्वेदी (लखनऊ)

........इस छोटी सी टिप्पणी में हत पुस्तक की विस्तृत आलोचना नहीं कर सकते, किन्तु इतना कहना आवश्यक है कि इस पुस्तक ने इतिहास की शोध के लिए हिन्दी स्रोतों का प्रयोजन और महत्व भली भाँति प्रमाणित कर दिया है। यह अपने ढंग का हिन्दी में पहला ग्रन्थ हैं। हम इसे मार्ग-दर्शक (पायोनियरिंग) काम समझते हैं। साहित्य और इतिहास का ऐसा सामंजस्य पहली बार हमारे देखने में आया है, और शोध तथा अध्ययन को नई दिशा देने के लिए हम लेखक को बधाई देते हैं। हम आशा करते हैं कि हिन्दी के अध्येता इस ग्रन्थ को ध्यान से पढ़ेंगे और प्रेरणा लेंगे। सरस्वती १९७५

☐ महाराज कुमार डॉ० रघुवीर सिंह (सीतामऊ, मालवा)

डॉ० महेन्द्र प्रतापसिंह ने छत्रसाल के साथ ही समकालीन भारत तथा क्षेत्र विशेष के राजनैतिक इतिहास की जो विशद् व्याख्या की हैं, वह रोचक तथा पठनीय ही नहीं है, वरन् पर्याप्त मात्रा में विचारणीय भी है, क्योंकि उसमें कई नए प्रश्न उठाए गए हैं तथा अब तक अछूती अनेकों समस्याएं प्रस्तुत की गई हैं, जिनकी ओर २०वीं सदी के इतिहासकारों को अवश्य ही ध्यान देना होगा। **'आजकल' सित० १९७६**

☐ प्रोफेसर बी० बी० मिश्र

(भूतपूर्व अध्यक्ष इतिहास विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय)

छत्रसाल कालीन मुगल भारत के इतिहास का यह परिच्छेद इतिहास के क्षेत्र में जन शक्ति के महत्व और योगदान की प्रतिष्ठा एवं पुष्टि ही नहीं करता बल्कि आने वाले इतिहास के अध्ययन का नया दृष्टि कोण भी प्रदान करता है। [प्राक्कथन का एक अंश]

☐ प्राचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (वाराणसी)

.......हिन्दी साहित्य के मध्यकालिक इतिहास-सम्बद्ध ग्रन्थों का सम्पादन करना सबके लिए सहज नहीं है। जो इतिहास के मर्मज्ञ ह्रों या जिनका इतिहास का गहरा अध्ययन हो उन्हें ही इसमें हाथ लगाना चाहिए। ....डॉ० सिंह के प्रयास से इसलिए परम संतोष होता है कि उन्होंने सर्प का मंत्र पढ़कर, प्रयोग करना जानकर तब इसमें हाथ डाला है। अपना गोत्र बढ़ते देखकर जो सुख होता है वही मुझे इनके दोनों ग्रन्थों को घोर परिश्रम एवं लगन से संपादित-प्रकाशित देखकर हो रहा है, आशा है, हिन्दी साहित्य के प्रेमी तो संग्रह-संकलन करेंगे ही, इस क्षेत्र में आने वाले भी इसका आदर्श संमुखीन कर उसमें प्रवेश करेंगे। डॉ० सिंह साधुवाद के आस्पद हैं। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र

सम्पर्क-सूत्र

श्रीपटल प्रकाशन के. ४६, कैलास कालौ नई दिल्ली-४८